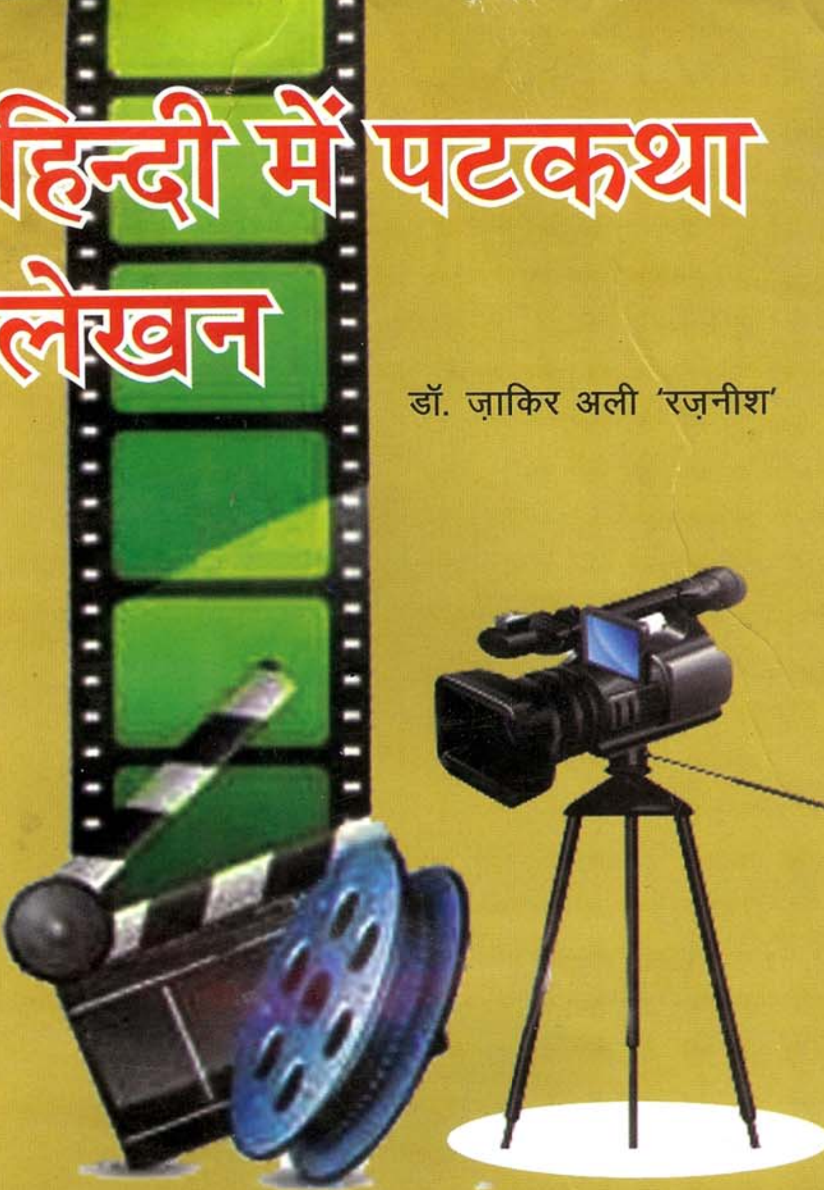
हिन्दी में पटकथा लेखन

डॉ. ज़ाकिर अली 'रज़नीश'



वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

BVP – 1925
8/2/18

1/66

ग्रंथमाला संख्या- 327

हिन्दी में पटकथा-लेखन

जाकिर अली 'रज़नीश'

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

प्रकाशक

डॉ० सुधाकर अदीब

निदेशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

लखनऊ

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय (माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार की विश्वविद्यालयस्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित।

ISBN : 978-93-82175-26-1

प्रथम संस्करण : 2009

द्वितीय संस्करण : 2014

प्रतियाँ : 500

मूल्य : रु० 150=00

मुद्रक

रोहिताश्व प्रिण्टर्स

268, ऐशबाग रोड, लखनऊ

फोन : 2692973

प्रकाशकीय

हिन्दी में स्तरीय पटकथा लेखकों की संख्या कम है और उनकी माँग हर समय बनी रहती है। प्रतिभावान युवा लेखक और कथाकार डॉ. जाकिर अली 'रजनीश' की यह पुस्तक 'हिन्दी में पटकथा लेखन' इसी जड़ता को तोड़ने की एक ईमानदार कोशिश है। समूची पुस्तक दो खण्डों में विभाजित है - भाषा एवं सिनेमा और पटकथा का छंद। पहले खण्ड में दो अध्याय हैं - भाषा, समाज और फिल्म एवं नाटक और सिनेमा (एक क्रमिक अध्ययन)। जैसा कि नाम से स्पष्ट है कि यह दोनों अध्याय सिनेमा की भाषा और उस पर नाटक के प्रभाव से सम्बन्धित हैं। लेखक ने पहले अध्याय में हिन्दी के विकासक्रम पर संक्षिप्त ही सही, प्रभावपूर्ण प्रकाश डाला है और बताया है कि एक हिन्दी की नहीं, संस्कृति के अन्य पहलुओं की तरह भाषाएँ भी एक-दूसरे से बहुत कुछ सीखती और अपनाती हैं। इसी तरह, नाटक फिल्म का उद्‍गम है और उसकी जड़ें अत्यन्त प्राचीन, परिपक्व हौर मनोहारी है।

दूसरा-तीसरा अध्याय फिल्म की कहानी के क्रमिक विकास और पात्रों के अन्तर्सम्बन्ध पर उपयोगी प्रकाश डालता है। चौथा-पाँचवाँ अध्याय फिल्म में पटकथा के प्रारूप के महत्व और संवाद की गरिमा व्याख्यायित करता है। छठा व सातवाँ अध्याय किसी प्रसिद्ध रचना की फिल्म रूपान्तर प्रक्रिया स्पष्ट करने के साथ-साथ वृत्त चित्र (डाक्यूमेंटी) के निर्माण पर भी उपयोगी सूचनांक देता है। अध्याय आठ परिशिष्ट के रूप में है और इसमें फिल्म निर्माण के विभिन्न तकनीकी पहलुओं और दिशा निर्देशों पर अत्यन्त उपयोगी संक्षिप्त जानकारी दी गयी है।

डॉ. जाकिर अली 'रजनीश' ने अपनी इस पुस्तक 'हिन्दी में पटकथा लेखन' में कुछ अत्यन्त सफल हिन्दी फिल्मों के संवाद, कथा के प्रमुख पड़ावों व उनकी विशेषताओं की जगह-जगह चर्चा करके विषय को सुगम बनाने और समझाने का सफल प्रयास किया है। मूलतः यह शोध कार्य उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान की अध्येतावृत्ति (फैलोशिप) के अन्तर्गत कुछ वर्ष पूर्व कराया गया था और अब इसे अपनी हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग की प्रकाशन योजना (भारत सरकार ग्रन्थ निर्माण योजना) के अन्तर्गत प्रकाशित किया गया था। फिल्म निर्माण आज की सर्वाधिक फलती-फूलती विधाओं में एक है, ऐसे में पटकथा लेखन में कैरियर देख रहे युवाओं के लिए यह पुस्तक अनिवार्य है। जिस तरह पाठकों के बीच इसे सराहना मिली, उसी के परिणामस्वरूप अब इस पुस्तक का यह दूसरा संस्करण आपके सामने है। विश्वास है कि 'हिन्दी में पटकथा लेखन' पुस्तक का यह दूसरा संस्करण भी फिल्म निर्माण से जुड़े सभी सम्बन्धित व्यक्तियों के साथ-साथ हिन्दी के जागरूक पाठकों की भी आत्मीयता पायेगा। इसके पारायण से हिन्दी में पटकथा लेखन क्षेत्र में आ रही प्रतिभाओं के निश्चय ही लाभ होगा।

डॉ० सुधाकर अदीब
निदेशक

निवेदन

जैसे-जैसे मनुष्य विकास की नित नूतना सीढ़ियाँ चढ़ रहा है, संयोजन का महत्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है। सार्थक व्यक्तित्व निर्माण आज दीर्घकालिक योजना के अभाव में सोचा भी नहीं जा सकता। सुविचारित योजना द्वारा समय का भी बेहतर उपयोग किया जा सकता है और उसे निरर्थक होने से बचाया जा सकता है। यहाँ तक कहा जा रहा है कि समय ही धन है और हमारा समाज ऐसे दो वर्गों में बँटता जा रहा है, जिनके पास कोई काम न होने के कारण समय ही समय है और जिनके पास ढ़ेरों काम होने के कारण बिल्कुल समय नहीं है। किसी भी दिशा में केन्द्रित कोई महान लक्ष्य हो या दैनिक कार्यक्रम – उनकी प्रारम्भिक रूपरेखा हर स्थिति में लाभदायक रहती है। यह प्रारम्भिक तैयारी नींव की तरह है, जो जितनी मजबूत होती है, भवन की मजबूती और उपयोगिता के हिसाब से उतनी ही लाभकारी रहती है। इससे सम्बन्धित व्यक्ति में एक अनूठा आत्मविश्वास पैदा होता है और स्वाभाविक है कि ऐसे में सम्बन्धित योजना को न केवल अत्यन्त गंभीरता से लिया जाता है, कई बार इसका सम्पादन होता है, जो लगातार जारी रहता है और तभी उसके मनोवांछित परिणाम सामने आते हैं।

फिल्म जैसी विधाओं की तो शायद इसके बिना कल्पना ही नहीं की जा सकती, जहाँ इसको पटकथा के नाम से अभिहित किया जाता है। यह तकनीक, लेखन और कला का मिला-जुला रूप है और जिसे शब्दों में ढालना आसान नहीं है। इसी के कारण इस विषय पर सारगर्भित पुस्तकें काफी कम हैं। हिन्दी में तो यह समस्या कुछ अधिक ही है। ऐसे में चर्चित युवा लेखन जाकिर अली 'रजनीश' की यह पुस्तक हिन्दी में पटकथा लेखन, एक सार्थक प्रयास है।

पुस्तक एक साथ एक ओर जहाँ इस विद्या के छात्रों आदि के लिए उपयोगी है, वहीं नाटकों/फिल्मों से जुड़े जागरूक पाठक भी इससे लाभान्वित हो सकते हैं। इस तरह, एक बड़े पाठक वर्ग तक पहुँच पाने में इस पुस्तक की सफलता स्वयं इसकी उपादेयता का प्रमाण भी है।

आज दृश्य-श्रव्य विधाओं का क्षेत्र निरंतर बढ़ रहा है। इलेक्ट्रानिक मीडिया के विकास ने भी इसमें अतुलनीय योगदान दिया है। कहा जाता है कि चित्र का असर लिखित शब्द से अधिक होता है। ऐसा न भी हो, तो भी इससे दृश्य-श्रव्य माध्यमों की उपादेयता तो सिद्ध होती ही है। 'हिन्दी में पटकथा लेखन' का यह दूसरा संस्करण भी अत्यन्त उपयोगी और लोकप्रिय प्रमाणित होगा, ऐसी आशा है।

उदय प्रताप सिंह
कार्यकारी अध्यक्ष

प्राक्कथन

इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती कि सिनेमा मनोरंजन तथा कलात्मक अभिव्यक्ति का महत्त्वपूर्ण साधन है। एक बार में, एक साथ जितना एक्सपोज़र किसी एक फिल्म को मिलता है उतना किसी अन्य माध्यम को नहीं मिलता। टी.वी. इसके आसपास ज़रूर है लेकिन सिनेमा की बराबरी पर आने में उसे थोड़ा और समय लगेगा। किसी भी सफल फिल्म का आधार उसकी पटकथा होती है। पिछली शताब्दी की सर्वाधिक चर्चित फ़िल्म 'शोले' की सफलता का श्रेय उसकी कथा से अधिक पटकथा को जाता है।

पटकथा अथवा स्क्रीनप्ले का अर्थ है, लेखक का विस्तृत विज़ुअलाइज़ेशन। प्रसिद्ध कथाकार श्री अमृत लाल नागर इसे कागज पर फिल्म बनाना भी कहते हैं। इस कार्य में विज़ुअलाइज़ेशन का ही महत्व है। कहानी स्पष्ट हो जाने पर पात्रों को उनके परिवेश और पृष्ठभूमि के साथ अपनी समस्या से जूझने दीजिये। अपनी कल्पना से उस सारे क्रियाकलाप को हवा देते रहिये और अपने मनमंच पर घटने वाली उनकी सारी गतिविधियों को कागज पर उतारते रहिये। यही पटकथा है। पटकथा जितनी विस्तृत और गठी हुई होगी फिल्म उतनी ही सुन्दर और प्रभावी होगी। भारतीय सिनेमा के शिखर पुरुष सत्यजीत राय स्क्रीनप्ले में डीटेल्स के बार में बेहद सजग थे। उनका कहना था ''विषय वस्तु को प्रस्फुटित करना या समृद्ध करना इन 'डीटेल' का उद्‌देश्य हुआ करता है। स्थान, काल, पात्र, घटना, मन के भाव-इन सबके वर्णन में इस 'डीटेल' की आवश्यकता पड़ती है और शिल्पी की अनुभूति पर ही इसकी सार्थकता निर्भर करती है। रामायण, महाभारत इत्यादि महाकाव्यों के विपुल आयतन का एक कारण है 'डीटेल्स' की प्रचुरता। विशेषतया महाभारत को चलचित्र सुलभ 'डीटेल्स' के सोने की खान कहना चाहिये।' अच्छी पटकथा कैसी हो, उसके क्या गुण हों, अच्छी पटकथा कैसे लिखी जाय इत्यादि विषयों पर अंग्रेज़ी तथा अन्य भाषाओं में तो बहुत समय से काफी कुछ लिखा जाता रहा है परन्तु हिन्दी भाषा में ऐसी सामग्री बहुत कम है। यहाँ सुप्रसिद्ध कथाकार और पटकथा लेखक स्व० मनोहरश्याम जोशी की याद आती है जिन्होंने पटकथा लेखन पर एक अनुपम पुस्तक 'पटकथा लेखन : एक परिचय' हिन्दी को दी। श्री जाकिर अली 'रज़नीश' की पुस्तक 'हिन्दी में पटकथा लेखन' इसी दिशा में किया गया एक सराहनीय प्रयास है।

स्क्रीनप्ले के सभी अंगों जैसे प्लॉट, कहानी, चरित्रीकरण, टकराव की स्थितियाँ, ट्विस्ट, क्लाइमैक्स, इनकी आवश्यकता और इन्हें विकसित करने के ढंग, सभी पर श्री रजनीश ने अनेक पुरानी फिल्मों के हवाले से अच्छा प्रकाश डाला है। अनेक भारतीय निर्देशकों के अपने अनुभव भी हैं जो पढ़ने में रोचक लगते हैं तो वहीं नये लेखक का मार्गदर्शन भी करते हैं।

जनसंचार के प्रभावशाली माध्यम के रूप में सिनेमा के सामाजिक महत्व पर अक्सर चर्चाएं होती रहती है परन्तु आमतौर पर इसका एक पक्ष अचर्चित ही रहा जाता है। वह है हिन्दी के प्रचार-प्रसार में सिनेमा का योगदान। 1931 में टॉकी युग की शुरुआत के साथ ही हिन्दी फिल्मों ने अखिल भारतीय बाज़ार बना लिया था। कालांतर में क्षेत्रीय भाषाई सिनेमा उद्योग स्थापित हो जाने के बावजूद इन भाषा क्षेत्रों में हिन्दी फिल्मों की लोकप्रियता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और भाषाई राजनीति के दबाव के बाद भी हिन्दी सिनेमा का दबदबा कायम है। यहाँ पर यह बात भी गौरतलब है कि दक्षिण भारत के लोग, जो सामान्यतः हिन्दी भाषा के प्रति असहिष्णु रवैया अपनाते हैं, वे भी हिन्दी फिल्में बड़े शौक से देखते हैं। हिन्दी फिल्मों की इसी लोकप्रियता ने एक ऐसी आमफ़हम भाषा को जन्म दिया जो पूरे देश में बोली और समझी जा सकता है। फिल्मी संवाद लेखन, भाषा के सिनेमाई प्रयोग की एक अलग ही विधा है। समय-समय पर अनेक फिल्मों के संवाद और टी.वी. विज्ञापनों के अनेक जुमले मुहावरों के रूप में प्रयोग होने लगते हैं। लेकिन भाषा तो बहता नीर है जो निरंतर प्रवहमान रहता है। संवादों की भाषा भी बदलती रही है। श्री रजनीश ने इस पुस्तक में भाषा के निरंतर बदलते स्वरूप और उसकी उपयोगिता पर भी नज़र डाली है।

श्री रजनीश ने पटकथा लेखन की प्रक्रिया को सांगोपांग समझा है और उसे ही सरल ढंग से समझाने का प्रयास किया है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिये उन्होंने अनेक चर्चित और लोकप्रिय फिल्मों से उदाहरण भी दिये है। कुछ बड़े भारतीय निर्देशकों और फिल्म चिन्तकों के उद्धरण भी नये पटकथा लेखकों का मार्गदर्शन करते हैं। नये लेखकों के लिये यह पुस्तक सहायक सिद्ध होगी।

यह प्रसन्नता की बात है कि उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान ने इस उपयोगी पुस्तक के प्रकाशन का भी दायित्व उठाया है।

शुभकामनाओं सहित,

ज्येष्ठशुक्ल नवमी, सन् 2006 ई०

कुमुद नागर

प्रस्तावना

'फिल्म छवि है, फिल्म शब्द है, फिल्म गति है, फिल्म नाटक है, फिल्म संगीत है- फिल्म में मुश्किल से एक मिनट का टुकड़ा भी इन सब बातों को एक साथ दिखा सकता है"- सत्यजीत राय।

उपरोक्त वक्तव्य के सहारे यह कहा जा सकता है कि फिल्म अनेकानेक विधाओं का समुच्चय है। फिल्म की तुलना यदि चाय से की जाए, तो कहा जा सकता है कि जिस प्रकार चाय के लिए पानी, चाय की पत्ती, चीनी और दूध की जरूरत होती है, उसी प्रकार एक फिल्म के निर्माण के लिए लेखन, निर्देशन, अभिनय, नृत्य, फोटोग्राफी जैसी तमाम विधाओं की आवश्यकता होती है। लेकिन सिर्फ इनके समुच्चय से ही चाय या फिल्म का निर्माण नहीं हो जाता। जब उचित ताप पर खौलने के बाद पानी पानी नहीं रहता, चाय की पत्ती चाय की पत्ती नहीं रहती, चीनी चीनी नहीं रहती, दूध दूध नहीं रहता, बल्कि ये सब एककाकार होकर चाय के कम में समा जाते हैं, तब चाय पीने के लिए तैयार होती है। यही बात फिल्म के लिए भी लागू होती है और जाहिर सी बात है कि यह सारी प्रक्रिया एक श्रमसाध्य कार्य है।

जिस प्रकार चाय का स्वाद उसके समस्त अवयवों के स्वतंत्र स्वाद पर भारी पड़ता है, उसी प्रकार फिल्म के अभाव के आगे अन्य सारी विधाएं फीकी पड़ जाती हैं। यही कारण है कि फिल्म हम पर, हमारे समाज पर सीधा प्रभाव डालती है। हमारे खान-पान से लेकर पहनने-ओढ़ने तक के व्यवहार पर जितना प्रभाव फिल्म (और टी.वी.) ने डाला है, उसकी तुलना तक खोज पाना दूभर कार्य है। लेकिन आश्चर्य का विषय यह है कि हम सिनेमा के प्रति फिर भी गम्भीर नहीं हैं।

यदि हम समाज की सचेतक कही जाने वाली अपने समय की पत्र-पत्रिकाओं पर नजर डालें, तो हमें घोर निराशा का सामना करना पड़ता है। पत्र-पत्रिकाओं में चटपटे गॉशिप तो खूब छपते हैं, पर गम्भीर चर्चा कहीं नजर नहीं आती। हमारे सामने क्रिकेट का उदाहरण मौजूद है। जब भी क्रिकेट का कोई मैच आयोजित होता है, तो उसके अगले दिन एक रिपोर्ट में उसका पूरा वर्णन, दूसरे में किसी विशेषज्ञ द्वारा मैच की गतिविधियों पर समीक्षात्मक टिप्पणी, तो तीसरे में खेल से जुड़े रोचक प्रसंग/आंकड़ों आदि का विवरण होता है। यदि इसी तर्ज पर फिल्मों की भी समीक्षा की जाए, तो इससे न सिर्फ दर्शकों को सही सूचना मिल पाएगी, बल्कि फिल्मकार भी सामाजिक दबाव के डर से अच्छी फिल्मों के निर्माण के लिए प्रेरित होंगे।

फिल्में और विशेषकर हिन्दी फिल्मों की समुचित ढंग से समीक्षा न होने का एक सबसे बड़ा नुकसान यह हुआ कि समाज में उन्हें सम्माननीय स्थान नहीं मिल पाया। इसका मतलब यह नहीं कि हिन्दी फिल्में हेय दृष्टि से देखी जाती हैं। आज शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति हो, जो फिल्मों के जादू से बच पाया हो। कभी न कभी किसी न किसी मौके पर हर कोई फिल्म

का आनन्द अवश्य उठाता है। लेकिन जब नैतिकता और आदर्शों की बात चलती है, तो हर व्यक्ति उसे पानी पी-पी कर कोसता हुआ नजर जाता है।

हमारे समाज में फिल्मों को सम्माननीय स्थान न मिल पाने की वजह यह भी है कि हिन्दी साहित्यकारों ने सदैव सिनेमा से बराबर एक दूरी बनाए रखी। हालांकि कुछ लोगों ने जुड़ने की कोशिश की, किन्तु उस माध्यम की अनिवार्यताओं को समझ न पाने के कारण निराश ही उनके हाथ लगी। अगर गहराई से इसके पीछे के कारणों का विश्लेषण किया जाए, तो यह पता चलता है कि फिल्म लेखन एक तकनीकी कार्य है। साहित्यकार लेखन में जहाँ सिर्फ अपने मन की उड़ान को शब्दों के रूप में उकेरता चलता है, वहीं फिल्म में उसके फॉर्मेट और बाजार के गणित को दृष्टिगत रखते हुए कलम चलाना पड़ता है।

भले ही आलोचकगण फिल्म लेखन पर कितने ही आक्षेप क्यों न लगाएं, पर यह सत्य है कि फिल्म लेखन एक स्वतंत्र विधा के रूप में जन्म ले चुका है। आर्थिक दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य सेवा जहाँ आज भी घर फूंक तमाशा का पर्याय मानी जाती है, वहीं फिल्मी लेखन सैकड़ों परिवारों की रोजी-रोटी चला रहा है और यह एक बड़ी बात है।

जिन लोगों को फिल्म-जगत की थोड़ी बहुत भी जानकारी है, उन्हें पता है कि वहाँ योग्य लेखकों की कितनी कमी है। ऐसे लेखक, जिनमें लेखकीय प्रतिभा हो, भारतीयता की समझ हो और जमाने की बदलती सोच के अनुरूप कलम चलाने की कूवत हो। ऐसे लोगों के मार्ग दर्शन हेतु इस पुस्तक की रचना की गयी है। इससे न सिर्फ रोजगार का एक नया द्वारा खुलेगा, बल्कि फिल्मी समाज में विकृत होती हिन्दी भाषा को बचाने का एक अवसर भी उपलब्ध होगा।

अन्त में मैं उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के उन समस्त अधिकारियों एवं कर्मचारियों का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने इस फेलोशिप को उसकी परिणति तक पहुँचाने में जाने-अनजाने में सहयोग प्रदान किया। इसके अतिरिक्त उन सभी विद्वतजनों का, जिन्होंने एक विचार को पुस्तकाकार रूप में लाने में अपने अनमोल सुझावों से मदद की, हृदय से आभार प्रकट करता हूँ और विशेष रूप से स्वर्गीय कुमुद नागर जी के प्रति मैं श्रद्धावनत हूँ, क्योंकि उनके आशीर्वाद के बिना यह कार्य सर्वथा असम्भव था।

मैं आशा करता हूँ कि यह पुस्तक पाठकों को पसंद आएगी और रोजगार के एक नए द्वार को खोलने में मदद करेगी तथा प्रकारान्तर से हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार में सहायक होगी।

धन्यवाद!

ज़ाकिर अली 'रज़नीश'

7 ए/55, वृन्दावन योजना,

रायबरेली रोड, लखनऊ-226025

वेबसाइट : www.samwaad.com

ई-मेल : zakirlko@gmail.com

अनुक्रम

खण्ड एक
भाषा और सिनेमा

पृष्ठ संख्या

अध्याय– 1 :- *भाषा, समाज और फिल्म* 3-26

राजनैतिक परिवर्तन और हिन्दी- हिन्दी भाषा पर फारसी का प्रभाव, हिन्द्री साहित्यकारों पर फारसी का प्रभाव, हिन्दी भाषा पर अंग्रेजी का प्रभाव।

सामाजिक परिवर्तन और हिन्दी, हिन्दी सिनेमा और उसका सच।

अध्याय– 2 :- *नाटक और सिनेमा : एक क्रमिक अध्ययन* 27-41

नाटक की उत्पत्ति, नाटक के प्रकार- रंगमंचीय नाटक, रेडियो नाटक, दूरदर्शन नाटक (टी.वी. ड्रामा)/फिल्म।

कैमरे की माया, कैमरे का जन्म, पटकथाकार होने के लिए- साहित्य की समझ, व्यापक जीवन अनुभव, दृश्य श्रव्य कल्पना, त्वरित लेखन क्षमता, तीक्ष्ण स्मृति।

खण्ड दो
पटकथा का छंद

अध्याय– 1 :- *पटकथा: क, ख, ग* 45-64

पटकथा क्या है?, विचार (आइडिया): पटकथा का बीज, विचार (आइडिया) बनाम कथावस्तु (प्लॉट), प्रधान स्वर (थीम) और आधारिका (प्रीमाइज), विचार (आइडिया) के श्रोत, देखें-सुनें-पढ़ें, विचार (आइडिया) का विस्तार (वन मिनट स्टोरी), ब्यौरेवार विवरण (ट्रीटमेन्ट नोट), सार संक्षेप (सनाप्सेज)।

अध्याय– 2 :- *कहानी का क्रमिक विकास* 65-93

कहानी की भूमिका (पहला अंक), कहानी का मध्य भाग (दूसरा अंक), कहानी का अन्तिम भाग (तीसरा अंक), जबरदस्त शुरुआत, परिचयात्मक दृश्य (इन्ट्रोडक्शन सीन), निर्णायक बिन्दु (टर्निंग पॉइंट/प्लॉट प्वाइंट), टकराव (संघर्ष), मध्यांतर का समय (इन्टरवल), चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स) का खेल, उपकथाओं (सब प्लॉट) का सामन्जस्य, यादगार अंत, छोटे पर्दे की कहानी : शैतान की आंत।

अध्याय– 3 :- *पात्रों के अन्तर्सम्बंध* 94-114

पात्रों के प्रकार, पात्रों की विशिष्टताएं, पात्रों से साक्षात्कार, पात्रों का विकास, विविधता का महत्व, चीखते-चिल्लाते पात्रः सन्दर्भ दूरदर्शन, पात्रों की जीवनी (बायोग्राफी), पात्रों की सार्थकता।

अध्याय– 4 :- *पटकथा का प्रारूप* 115-153

पटकथा लेखन की प्रक्रिया (दृश्य योजना), धारावाहिक की दृश्य योजना, दृश्य का तीन अंकीय ढ़ांचा, पटकथा सार (वन लाइनर), दृश्य लेखन, शूटिंग स्क्रिप्ट, तकनीकी शब्दावली- बिम्ब, मोन्ताज, सीक्वेन्स, कंट्रास्ट, इंटर कटिंग, फ्लैश बैक/फ्लैश फारवर्ड, सेट-अप/पे-ऑफ, मैलोड्रामा।

अध्याय– 5 :- *संवाद की गरिमा* 154-175

संवाद का महत्व, स्वाभाविकता पर बल, पात्रानुकूल/समयानुकूल भाषा, संवाद के प्रकार, संवाद : कल और आज।

अध्याय– 6 :- *रूपान्तरण का मर्म* 176-187

कृति का चुनाव, रूपान्तरण की प्रक्रिया, माध्यम का फर्क, पटकथाकार की समझ।

अध्याय– 7 :- *वृत्त चित्र (डॉक्यूमेन्ट्री)* 188-193

डाक्यूमेन्ट्री, डाक्यूड्रामा, ड्रामाटाइज्ड डाक्यूमेन्ट्री।

परिशिष्ट

परिशिष्ट– 1 : कैमरे की सर्जनात्मकता– रोल कैमरा, फ्रेम, शॉट, कैमरा एंगल, वाइड शॉट, लॉग शॉट, मिड शॉट, क्लोज शॉट, क्लोज अप, एक्स्ट्रीम क्लोज अप, टू शॉट, ओवर द शोल्डर शॉट, मूविंग शॉट, रिवर्स शॉट, प्वाइंट ऑफ व्यू, फेवरिंग, ट्रैकिंग शॉट, जूम शॉट, पैन शॉट, ब्लर पैन, टिल्ट शॉट, टिल्ट एण्ड पैन शॉट, लो एण्ड हाई एंगल शॉट, ट्रक फारवर्ड/बैक, फास्ट मोशन, सुपर इम्पोजीशन, इन्सर्ट, फ्लैश, रिकैप, बॉयस ओवर, कट/कट टू, हुक, फ्रीज, फेड इन/आउट, वाइप, डिजाल्व, स्प्लिट स्क्रीन, ऑफ स्क्रीन, कन्टीन्यूटी, स्टॉक शॉट्स। 194-201

परिशिष्ट– 2 :– *सन्दर्भ सामग्री।* . 202-203

खण्ड एक

भाषा और सिनेमा

अध्याय-1

भाषा, समाज और फिल्म

भाषा क्या है? मस्तिष्क के भीतर उमड़ने वाले विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम? किसी भी समाज के विभिन्न व्यक्तियों के बीच सम्पर्क का सेतु? किसी देश अथवा समाज की सामाजिक/वैज्ञानिक प्रगति से परिचित होने की राह? मनुष्य मात्र की श्रेष्ठता को सिद्ध करने का सर्वश्रेष्ठ साधन? या फिर ये सभी? नहीं, इससे भी कहीं ज्यादा विस्तृत है भाषा का कार्यक्षेत्र।

किसी भी समाज अथवा स्थान में बोले जाने वाली भाषा के मुख्यतः दो रूप होते हैं- 1. लिखित भाषा 2. वाचिक (बोली जाने वाली) भाषा। लिखित भाषा को साहित्यिक भाषा के नाम से भी जाना जाता है। यह भाषा अपेक्षाकृत थोड़ी क्लिष्ट और सामासिक पदावली युक्त होती है। किसी भी देश/समाज का समस्त साहित्य इसी भाषा में पाया जाता है। औपचारिकता और कृत्रिमता से परिपूर्ण यह भाषा सामान्यतः समाज के विद्वत लोगों के बीच व्यवहार के रूप में प्रयुक्त होती है। जबकि लिखित भाषा की तुलना में वाचिक भाषा काफी सरल और सुगम होती है। इस भाषा में पानी की तरह रवानी होती है। समाज के ज्यादातर हिस्सों में इसी भाषा का प्रयोग किया जाता है, इसीलिए इसे समाज की 'धड़कन' के रूप में देखा जाता है। इसका कोई शब्दकोष अथवा व्याकरणशास्त्र नहीं होता, लेकिन इसके बावजूद यह फूलती और फलती रहती है।

वस्तुतः भाषा एक बहती हुयी नदी के समान है। जिस प्रकार नदी जिस स्थान से होकर गुजरती हैं, वहां की मिट्टी और अपशिष्ट पदार्थों को अपने भीतर समेटती चलती है, उसी प्रकार भाषा भी अपने वाहक (मनुष्य) द्वारा जिस स्थान और समय में पहुँचती है, स्वयं को उसकी सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों के अनुरूप ढ़ाल लेती है।

'मनुष्य भाषा का व्यवहार स्वयं से ही बातचीत के लिए नहीं करता। मूलतः भाषा एक से अधिक मनुष्यों के बीच बातें कहने-सुनने का साधन है। इसलिए एक ही व्यक्ति जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में अपनी बोली में चाहे जितने परिवर्तन करे, जिस समाज में वह रहता है, उसमें उसकी बोली समझ ली जाती है।'[1]

डार्विन के सिद्धान्त 'सरवाइवल आफ दि फिटेस्ट' के अनुसार जो जीव अपने आप को बदलती हुयी परिस्थितियों के अनुरूप ढ़ाल लेता है, वही अपना जीवन काल

बढ़ाने में समर्थ हो पाता है। इसे इस तरह से भी कहा जा सकता है कि 'परिवर्तन प्रकृति का नियम है'। यह उक्ति पूरी तरह से भाषा के ऊपर भी लागू होती है। हिन्दी भाषा इस लिहाज से एक सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। अपने प्रारम्भिक काल से लेकर वर्तमान तक हिन्दी ने अनेकानेक सामाजिक/राजनैतिक परिवर्तनों का न सिर्फ सामना किया है बल्कि उससे उबर कर अपने आप को जीवित भी रखा है।

भाषा में होने वाले परिवर्तनों को रेखांकित करते हुए डा0 रामविलास शर्मा लिखते हैं- 'जीवित रहने के लिए मनुष्य जिस प्रकृति के मुकाबले खड़ा होता है, उस पर वह सामुदायिक प्रयत्न से ही क्रमशः विजय पाता है। उसके जीवन की आवश्यकताएं निरन्तर बढ़ती जाती हैं। भाषा में परिवर्तन और विकास का यही मुख्य कारण है। समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति के उद्भव, नए श्रम विभाजन के चलन और वर्गों के निर्माण के साथ समाज के भीतर नए अन्तर्विरोध उत्पन्न होते हैं। सभ्यता और ज्ञान के प्रसार के साथ भाषा में परिवर्तन और विकास अपेक्षित होता है। यह दूसरी तरह का अन्तर्विरोध भाषागत परिवर्तन का दूसरा कारण है।'[2]

एक सामान्य अध्ययन के अनुसार हिन्दी भाषा का उद्भव संस्कृत के अपभ्रंश के रूपों में प्रचलित शौरसेनी, अर्धमागधी और मागधी से माना जाता है। यदि इसके जन्म का काल निर्धारित किया जाए, तो यह 1000 ई0 के आस-पास ठहरता है। तब से लेकर आज तक हिन्दी ने अनेक झंझावातों का सामना किया है और वह अपने क्षेत्र को उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, दिल्ली, राजस्थान, हरियाणा, पंजाब के कुछ क्षेत्र और हिमांचल प्रदेश तक फैलाने में समर्थ रही है। इन झंझावातों और उसके फलस्वरूप उसमें होने वाले परिवर्तनों को समझने के लिए राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तनों द्वारा हिन्दी भाषा पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन अत्यंत आवश्यक हो जाता है।

राजनैतिक परिवर्तन और हिन्दी

हिन्दी भाषा की विकास यात्रा के दौरान जिन दो महत्वपूर्ण कारकों ने उसे सर्वाधिक प्रभावित किया, उनमें भारत में मुस्लिम शासकों का अधिपत्य और ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना सबसे प्रमुख कारण माने जाते हैं। दिल्ली की गद्दी पर मुस्लिम शासकों के बैठने के साथ जो सबसे बड़ा परिवर्तन आया, वह था राजकीय भाषा के रूप में फारसी की स्थापना। फारसी की इस ताजपोशी से जहाँ एक ओर सामान्य जन के बीच उसकी स्वीकार्यता बढ़ी, वहीं दूसरी ओर उसने बड़ी तेजी से हिन्दी को प्रभावित किया।

स्तालिन ने लिखा है कि जब दो भाषाओं की टक्कर होती है, तो उसमें एक तीसरी भाषा नहीं बनती। 'वास्तव में आमतौर से कोई एक भाषा इस टक्कर में जीत जाती है, अपनी व्याकरण व्यवस्था और मूल शब्द भंडार सुरक्षित रखती है और उन्हें अपने आंतरिक विकास के नियमों के अनुकूल संवर्धित करती है तथा दूसरी भाषा क्रमशः अपना मूल्य खो देती है और धीरे-धीरे मर जाती है।'[3]

किन्तु मुस्लिम राज के समय फारसी और हिन्दी के मध्य सीधे-सीधे टकराव जैसे स्थिति नहीं रही। फारसी भाषा जहाँ राजकाज की भाषा थी, राजकर्मियों द्वारा व्यवहार में लायी जाती थी, वहीं हिन्दी सामान्य जन के बीच संचार का माध्य बनी हुयी थी। लेकिन इस सबके साथ एक ऐसा दबाव तो था ही, जो हिन्दी पर लगातार पड़ रहा था। वह दबाव कितना था और उसने हिन्दी पर क्या असर डाला, इसका विहंगावलोकन करना अत्यंत आवश्यक है।

हिन्दी भाषा पर फारसी का प्रभाव

फारसी और हिन्दी के बीच आपसी सम्पर्क बढ़ने से हिन्दी भाषा का जबरदस्त विकास देखने को मिला। नई शब्दावली, नयी क्रियाएँ एवं नयी पद रचना शैली हिन्दी के सम्पर्क में आई। इससे एक ओर जहाँ हिन्दी का शब्द भण्डार बढ़ा, वहीं फारसी-हिन्दी संयुक्त भाषा के रूप में राजघरानों में उसकी स्वीकार्यता भी बढ़ती चली गयी। फारसी भाषा के सम्पर्क के आने से हिन्दी में जो क्रमिक परिवर्तन हुए, उन्हें निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है-

1. हिन्दी भाषा में फारसी की बहुत सी ऐसी शब्दावली देखने को मिलती है, जो अपने मूल अर्थ से कहीं ज्यादा व्यापक अर्थों में प्रयुक्त होती हैं। इस घटना को 'अर्थ विस्तार' के नाम से जाना जाता है। अर्थ विस्तार वाले हिन्दी में प्रचलित कुछ फारसी शब्द इस प्रकार हैं-

शब्द	फारसी भाषा में अर्थ	हिन्दी में प्रचलित अर्थ
खबर	जानकारी	समाचार
खार	कांटा	ईर्ष्या
चिक	महीन पर्दा	बांस से बनी जाली
तैयार	ठीक-ठाक	सावधान
दरगाह	द्वार, दरवाजा	रौजा, समाधि स्थल
दारू	उपाय	शराब
दीवान	उपाधि, बही	मंत्री, पुलिस कर्मचारी

नक्शा	चित्र	मानचित्र
पैबन्द	कांट-छांट	जोड़ लगाना
सिलसिला	क्रम	सम्बन्ध

2. फारसी भाषा के अनेकानेक शब्द ऐसे हैं, जो अपने मूल अर्थ की तुलना में हिन्दी में छोटे अथवा संकुचित अर्थ के रूप में प्रयुक्त होते हैं। ऐसे शब्द 'अर्थ संकोच' की परिधि में आते हैं। हिन्दी में प्रचलित फारसी के ऐसे ही कुछ महत्वपूर्ण शब्द इस प्रकार हैं-

शब्द	फारसी भाषा में अर्थ	हिन्दी में प्रचलित अर्थ
कानूनगो	कानूनवेत्ता	एक भूमि अधिकारी
खानसामा	गृह प्रबंधक	रसोइया
जमादार	संग्रहकर्ता, एक अधिकारी	मेहतर, एक कर्मचारी
दरिया	सागर	नदी
मामूली	व्यवहारिक	सामान्य
सलाह	भलाई का उद्देश्य	परामर्श
सब्जी	हरियाली	तरकारी, हरी सब्जी
सिक्का	मुद्रा बनाने का ढ़ांचा	मुद्रा

3. हिन्दी भाषा में प्रचलित फारसी के ऐसे बहुत से शब्द हैं, जिनका मूल अर्थ कुछ और है किन्तु वे हिन्दी भाषा में किसी और अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। ऐसे शब्दों को 'अर्थादेश' की श्रेणी में रखा जाता है। इस प्रकार के कुछ प्रमुख शब्द इस प्रकार हैं-

शब्द	फारसी भाषा में अर्थ	हिन्दी में प्रचलित अर्थ
अखबार	खबरें	समाचार पत्र
असबाब	कारण	माल, सामान
आम	अच्छी तरह से ज्ञात	साधारण, सामान्य
खैरात	अच्छाई	दान
गबन	विस्मृति, बुद्धि में कमी	चोरी, भ्रष्टाचार
दफ्तर	फाइल	कार्यालय
बरखास्त	सोकर उठना	नौकरी से निकालना

मुनीम	प्रतिनिधि	लिपिक
हकीम	दार्शनिक, बड़ा	चिकित्सक

4. फारसी भाषा के अनेकानेक ऐसे शब्द हैं, जो हिन्दी के समान अर्थ वाले शब्दों के साथ संयुक्त रूप से मिश्र शब्दों के रूप में उपयोग में लाए जाते हैं। जैसे- अमन-चैन, अच्छा-खासा, आब-दाना, आंधी-तूफान, किस्सा-कहानी, खांसी-जुकाम, खून-पसीना, खेल-तमाशा, जात-बिरादर, टोला-मोहल्ला, दु:ख-दर्द, दाना-पानी आदि।
5. हिन्दी में प्रचलित बहुत से सामासिक शब्द ऐसे हैं, जो फारसी और हिन्दी के शब्दों के संयोग से बने हैं। जैसे- अक्लदाढ़, घूसखोर, चिट्ठीरसां, चोर-दरवाजा, जेब-घड़ी, बाजार-भाव, मिंया-मिट्ठू, मोमबत्ती, राजमहल आदि। इसी प्रकार बहुत से मिश्र शब्द ऐसे हैं, जो नाम के रूप में प्रयोग में लाए जाते हैं, जैसे- खुशहालचंद, गुलाबराय, गुलजारीलाल, जवाहरलाल, दौलतराम, फतेहचंद, बहादुरलाल, रामसूरत, वजीरचंद, शमशेर बहादुर, हजारीलाल आदि।
6. फारसी की अनेक क्रियाएं हिन्दी में हूबहू अपना ली गयी हैं, जैसे- आजमाना-परखना, खरीदना-क्रय करना, गुजरना-जाना, तराशना-मठारना, फरमाना-कहना, बख्शना-माफी देना, लरजना-कांपना आदि।
7. हिन्दी में बहुत सी ऐसी क्रियाएं प्रचलित हैं, जो फारसी के शब्दों में 'करना', 'होना', 'लेना', 'पड़ना', 'डालना', 'आना' आदि शब्द मिलाने से बनी हैं। जैसे- अदा करना, नजर लगाना, नजर गडाना, पसंद कराना, फरमाइश करना, फरमाइश सुनना, फजीहत करना, फैसला करना, फैसला होना आदि।
8. अनेक फारसी शब्द ऐसे हैं, जो हिन्दी में विशेषण के रूप में उपयोग में लाए जाते हैं। जैसे- करीब, खाली, तमाम, फालतू, मामूली, हरजाई आदि।
9. हिन्दी में प्रचलित बहुत से विशेषण ऐसे हैं, जो अरबी के शब्दों को हिन्दी की रीति से परिवर्तित करके बनाए गये हैं। जैसे- कीमत से कीमती, असल से असली, गुस्सा से गुस्सैल, जिद से जिद्दी, जुल्म से जुल्मी, नकल से नकली, माल से माली, शर्म से शर्मीला और सैर से सैलानी आदि।
10. फारसी भाषा में प्रचलित अनेकानेक विशेषण ऐसे हैं, जिन्हें भाव वाचक संज्ञा में परिवर्तित करके हिन्दी में उपयोग में लाया जाता है। जैसे- अक्लमंद से अक्लमंदी, अमीर से अमीरी, आसान से आसानी, आजाद से आजादी, आबाद से आबादी, ईमानदार से ईमानदारी, खराब से खराबी, खुश से खुशी, गरम से गरमी, नरम से नरमी, जिंदा से जिंदगी, ताजा से ताजगी व सादा से सादगी आदि।

11. लगातार कई सौ सालों तक फारसी और हिन्दी के सम्पर्क में रहने के कारण फारसी के मुहावरे हिन्दी में घुल-मिल गये हैं। हिन्दी में प्रचलित फारसी भाषा के कुछ प्रमख मुहावरे इस प्रकार हैं- दांत खट्टे करना, दांतों तले अंगुली दबाना, आंखों में खून उतरना, हाथ-पैर मारना, हाथ मलना, पीठ दिखाना, बगलें झांकना, सर उठाना, बिस्मिल्लाह करना, पानी-पानी होना, सब्जबाग दिखाना, नमक हरामी करना, जमीन-आसमान एक करना, काम तमाम करना, तितर-बितर करना, हुक्का पानी बंद करना व बालू से तेल निकालना आदि।
12. हिन्दी में प्रचलित अनेक कहावतें ऐसी हैं, जो फारसी से ली गयी हैं। जैसे- एक जान दो शरीर, तन्दुरुस्ती हजार नियामत, देर आयद-दुरुस्त आयद, बद अच्छा बदनाम बुरा, एक अनार सौ बीमार, मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक, आसमान से गिरा खजूर में अटका, ऊंची दुकान फीका पकवान, कब्र में पांव लटकना, घर की मुर्गी दाल बराबर, नौ नकद न तेरह उधार, गरीबी में आटा गीला होना आदि।

भारत में मुस्लिम बादशाहों के दौर में शुरू हुआ फारसी का वर्चस्व शाहआलम और क्लाइव के बीच हुयी संधि के तहत सन् 1935 तक चलता रहा। इस दौरान जहाँ एक ओर दरबारीगण बादशाह के प्रति अपनी निष्ठा प्रदर्शित करने के लिए फारसी को बढ़ावा दे रहे थे, वहीं फारसी की दुरूहता से आक्रान्त सामान्यजन उससे लगातार एक दूरी बनाए रखने का प्रयत्न कर रहे थे। इसके अतिरिक्त एक सेवा वर्ग ऐसा भी था, जो हिन्दी शब्दावली के फारसीकरण पर लगातार जोर दे रहा था। इन्हीं तमाम परिस्थितियों के फलस्वरूप 1730 ई0 के आसपास देश में एक नयी भाषा का जन्म हुआ, जो फारसी और हिन्दी के संयोग से बनी थी और उस नयी भाषा का नाम था 'उर्दू'।

'उर्दू शब्द मूलतः तुर्की भाषा का है तथा इसका अर्थ है 'शाही शिविर' या 'खेमा'। .... भाषा के अर्थ में उर्दू शब्द का प्रयोग सबसे पहले कब हुआ, यह कहना कठिन है, किन्तु मोटे रूप से अट्ठारहवीं सदी के मध्य में यह चल पड़ा था, यद्यपि इसे ज्यादातर 'हिन्दी' या रेख्ता' (मिश्रित भाषा) कहते थे। इसके साथ ही इसे 'हिन्दुस्तानी' नाम से भी अभिहित किया गया है। 1850 ई0 तक आते-आते इस भाषा के लिए अन्य नामों का प्रचलन बन्द हो गया और केवल 'उर्दू' नाम चलने लगा।'[4]

पद्मसिंह शर्मा इसी बात की तस्दीक कुछ इस तरह से कहते हैं- 'शाहजहाँ बादशाह ने सन् 1648 में शहर जहानाबाद आबाद किया और वहां हर मुल्क के लोगों

का मजमा हुआ। इस जमाने में फारसी जबान और हिन्दी भाषा बहुत मिल गयी और बाजे फारसी लफ़्जों और अक्सर भाषा के लफ़्जों में बसबब कसरत इस्तेमाल के तगयूयुर व तब्दील हो गयी। गरज कि लश्कर बादशाही और उर्दू-ए-मुअल्ला में इन दोनों जबान की तरकीब से नयी जबान पैदा हो गयी और इसी सबब से जबान का नाम उर्दू हुआ।'[5]

यदि लिपि की भिन्नता को अलग कर दिया जाए, तो हिन्दी और उर्दू में कोई विशेष फर्क नहीं है। डॉ0 नगेन्द्र के अनुसार- 'खड़ी बोली में जब बोलचाल के शब्दों (आधारभूत शब्दावली, बहुप्रचलित तद्भव शब्द, सरल बहुप्रचलित संस्कृत शब्द तथा सरल बहुप्रचलित अरबी-फारसी-तुर्की शब्द) का ही प्रयोग होता है, तो उसे बोलचाल की हिन्दी या हिन्दुस्तानी कहते हैं। उन शब्दों के साथ ही जब संस्कृत के अल्प प्रचलित या कठिन तत्सम शब्दों का काफी प्रयोग होता है, तो उसे हिन्दी या साहित्यिक हिन्दी कहते हैं और जब उन शब्दों के साथ अरबी, फारसी, तुर्की के अल्प प्रचलित कठिन शब्दों का बहुत प्रयोग होने लगता है, तो उसे उर्दू कहते हैं।'[6]

हिन्दी और उर्दू वैसे तो अलग-अलग भाषाएं है। दोनों की लिपि अलग है, शब्दावली अलग है, किन्तु इनमें एक समानता भी है। डॉ0 रामविलास शर्मा उस समानता को रेखांकित करते हुए कहते हैं- 'उर्दू-हिन्दी के सर्वनाम एक हैं- 'वह', 'मैं', 'तू', 'हम' इत्यादि। हिन्दी-उर्दू की क्रियाएं लगभग एक ही हैं- 'जाना', 'सोना', 'खाना', 'पीना', 'करना', 'जीना', 'लिखना', 'पढ़ना' इत्यादि। ....उर्दू के सम्बन्धवाचक शब्द 'में', 'पर', 'से', 'का' आदि वही हैं, जो हिन्दी के। दोनों का मूल शब्द भण्डार भी एक है लेकिन यहां बहुत दिनों तक फारसी के राजभाषा रहने से हिन्दी शब्दों में फारसी या अरबी पर्यायवाची शब्द भी प्रचलित हो गये हैं, जैसे- देश-मुल्क, आकाश-आसमान, धरती-जमीन, भाषा-जबान, किसान-काश्तकार, नदी-दरिया, रोगी-बीमार इत्यादि। इन शब्दों का व्यवहार बोलचाल की हिन्दू-उर्दू में किसी भेदभाव के बिना एक सा होता हैं।'[7]

'फूट डालो और राज करो' की नीति के तहत अंग्रेजों ने हिन्दी और उर्दू के बीच दीवार खड़ी करने की भरसक कोशिशें कीं, किन्तु ब्रिटिश कूटनीति के विरुद्ध हिन्दी-उर्दू के सजग साहित्यकार इस बात का बराबर प्रयत्न करते रहे कि हिन्दी-उर्दू घुलमिल कर एक हों। ऐसे लोगों में सबसे बड़ा नाम प्रेमचन्द का है। वह हिन्दी-उर्दू दोनों के साहित्यकार थे। गांवों की जनता को जितनी अच्छी तरह वह जानते थे, उतनी अच्छी तरह हिन्दी-उर्दू का कोई और साहित्यकार न जानता था। उन्हें यहाँ की जनता की सांस्कृतिक एकता पर दृढ़ विश्वास था कि हिन्दी उर्दू मिल कर एक होंगी।'[8]

हिन्दी साहित्यकारों पर फारसी का प्रभाव

हिन्दी के प्रारम्भिक रचनाकारों पर फारसी का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। प्रेमचन्द की रचनाओं में यह चीज काफी मात्रा में देखने को मिलती है। एक उदाहरण देखें- 'जुहाक, कसम है अल्लाह की, मैं इसको कभी क्षमा नहीं कर सकता। फौरन कासिद भेजो और वलीद को सख्त ताकीद लिखो कि वह हुसैन से मेरे नाम पर बैत ले।'[9]

उपरोक्त उद्धरण के पहले वाक्य में फारसी का प्रभाव साफ परिलक्षित हो रहा है। हिन्दी के अनुसार इसे इस प्रकार से होना चाहिए था- 'जुहाक, अल्लाह की कसम है।' आगे वे पुनः लिखते हैं- 'आपने वालिद मरहूम की खिदमत जितनी वफादारी के साथ की, उसके लिए मैं आपका शुक्रगुजार हूँ।'[10] इसमें हिन्दी के अनुसार 'वालिद मरहूम' के स्थान पर 'मरहूम वालिद' होना चाहिए। इसी प्रकार 'वलीद, हकीम मदीना को ताकीक की जाती है।'[11] में 'हाकिम मदीना' के स्थान पर 'मदीना के हाकिम' होना चाहिए।

हिन्दी गद्य के संस्थापकों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नाम सर्वप्रमुख है। उन्होंने अपने लघु निबंध 'दिल्ली दरबार' में उर्दू शब्दों का खुल कर प्रयोग किया है। उक्त निबंध में प्रयुक्त उर्दू शब्दों पर एक नजर डालिए- किस्मत, तरक्की, कौमी, ताकत, जोर, हिम्मत, फिजूलखर्ची, किफाइतकार, जमात, तनज्जुली, कमीनापन, नेस्तानाबूद, शक्ल, सिर्फ, जियादह, तरोताजगी, सरसब्जी, ख्याल, अगर, गलत, औवल, कानून, अदल-बदल, जोश, गरमागरमी, जालिम, हुकूमत, मजबूत, नेक, गुलाम, तालीम, बिलकुल, बेफाइदा, बेहतरी, नतीजा, हमदर्दी, सिरताज, पुश्त, फिरके, साबितकदम, दरजा, शुरू, जिंदगी, हिस्से, गरीब, खासियत, खुशी इत्यादि।

इनके अतिरिक्त हिन्दी के तमाम रचनाकारों की भाषा शैली पर उर्दू-फारसी का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। 'राम की शक्ति पूजा' जैसी तत्सम प्रधान शब्दावली में कविता लिखने वाले रचनाकार 'निराला' की कलम से जब 'चतुरी चमार' जैसी रचनाएं निकलती हैं, तो वहां भी उर्दू शब्द आ ही जाते हैं। 'चतुरी चमार' के पहले के दो पृष्ठों में उपयोग में लाए गये उर्दू शब्द इस प्रकार हैं- मौजा, जिला, कदीमी, बाशिन्दा, सामान, फासला, पुश्तैनी, रिश्ता, देहात, मजबूत, हफ्ता, हल्का, ज्यादा, वगैरह, नजदीक, साया, अक्ल आदि।

न सिर्फ हिन्दी के रचनाकार बल्कि उर्दू के शायर भी जब सरल शब्दावली का प्रयोग करते हैं, तो यह समझना थोड़ा मुश्किल हो जाता है कि ये हिन्दी की पंक्तियां हैं या उर्दू की। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं-

बिगड़ें न बात-बात पर क्यों जानते हैं वो,
हम वो नहीं कि जिसको मनाया न जाएगा। –हाली

❒ ❒ ❒ ❒

सावन के बादलों की तरह से भरे हुए,
ये वे नयन हैं, जिनसे कि जंगल हरे हुए। –सौदा

❒ ❒ ❒ ❒

कहाँ तक चुप रहूं चुपके रहे से कुछ नहीं होता,
कहूँ तो क्या कहूँ उनसे कहे से कुछ नहीं होता। –बहादुरशाह जफ़र

❒ ❒ ❒ ❒

हमको मालूम है जन्नत की हकीकत लेकिन,
दिल के खुश रखने को ग़ालिब ये ख्याल अच्छा है। –मिर्ज़ा ग़ालिब

❒ ❒ ❒ ❒

इश्क ने ग़ालिब निकम्मा कर दिया,
वर्ना हम भी आदमी थे काम के। –मिर्ज़ा ग़ालिब

हिन्दी भाषा पर अंग्रेजी का प्रभाव

सन् १८०० ई० में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना के बाद भारतीय समाज में एक बड़े परिवर्तन की शुरुआत हुई। उस परिवर्तन के परिणामस्वरूप आज हमें चारों ओर अंग्रेजी का प्रभाव परिलक्षित हो रहा है। एक लम्बे कालखण्ड तक भारत में 'अंग्रेजी राज' बने रहने के कारण अंग्रेजी भाषा भारतीय जनमानस पर हावी रही। कुछ दबाव और कुछ लालच, दोनों ने भारतीयों को अंग्रेजी के करीब लाने के लिए विवश किया। धीरे-धीरे करके यह निकटता इतनी प्रगाढ़ हो गयी कि दोनों भाषाओं में आपस में शब्दों का लेन-देन होने लगा। हिन्दी भाषा पर अंग्रेजी प्रभाव के नजरिए से देखें तो एक ओर जहां तमाम अंग्रेजी शब्दों को हिन्दी के अनुसार ढ़ाल लिया गया है (लालटेन, रपट, टेसन, सिलेट, बोतल इत्यादि), वहीं दूसरी ओर, अंग्रेजी के तमाम शब्द (रेल, बस, बैंक, टिकट, एक्सरे, सिनेमा, कार्बन डाई आक्साइड, एल्युमिनियम, मेगाटन, किलोवाट, प्रोटीन, विटामिन, कैलारी, रेडियो एक्टिव जैसे तमाम पारिभाषिक शब्द) ऐसे हैं, जिनके हिन्दी समानार्थी शब्द नहीं मिलते, हिन्दी में जैसे के तैसे समाहित हो गये हैं।

आम आदमी के जीवन में आज अंग्रेजी भाषा इस तरह से घुलमिल गयी है कि आम बातचीत में भी अंग्रेजी शब्द खुल कर प्रयुक्त होने लगे हैं। सामान्य जीवन में अंग्रेजी का प्रभाव इस तरह से समझा जा सकता है कि लगभग 800 वर्षों तक भारत में राजकीय भाषा रही फारसी के जो शब्द जीवन का हिस्सा बन गये थे, अंग्रेजी ने उन्हें भी उनके स्थान से विस्थापित कर दिया है। इस तरह के कुछ प्रमुख शब्द इस प्रकार हैं- मिनिस्टर, सेक्रेटरी, असेम्बली, चेयरमैन, कोर्ट, पी0ए0, डिपार्टमेन्ट, अपील, लॉ, मजिस्ट्रेट, आई0जी0, डी0आई0जी0, कलक्टर, एस0एस0पी0, जज, कमिश्नर, पेटीशन, ऑर्डर आदि।

जब कोई भी दो अलग-अलग भाषाएं आपस में सम्पर्क में आती हैं, तो उनके बहुत से शब्द एक दूसरी भाषा में अपना लिए जाते हैं। इस प्रक्रिया में कई बार ऐसा होता है कि अपनाई गयी भाषा में वे शब्द अपना मूल अर्थ खो देते हैं और नई भाषा में उन्हें नया अर्थ मिल जाता है। ऐसे शब्दों को 'अर्थादेश' श्रेणी के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाता है। अंग्रेजी भाषा से हिन्दी में आए कुछ ऐसे ही शब्द इस प्रकार हैं-

शब्द	अंग्रेजी भाषा में अर्थ	हिन्दी में प्रचलित अर्थ
कटपीस	कटा हुआ टुकड़ा	टुकड़ों में बिकने वाला कपड़ा
कांग्रेस	सभा, महासंघ	एक राजनीतिक दल
कॉमरेड	साथी, सहकर्मी	कम्युनिस्टों का संबोधन
पैसेंजर	यात्री	हर स्टेशन पर रुकने वाली गाड़ी
बटरिंग	मक्खन निकालना	चाटुकारिता
रेल	लोहे की पटरी	गाड़ी (ट्रेन)

प्रत्येक भाषा में ऐसे शब्द होते हैं, जो अपनी मूल भाषा में किसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, किन्तु दूसरी भाषा में जाने पर वे पहले से व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होने लगते हैं। अंग्रेजी भाषा के हिन्दी में प्रचलित इस प्रकृति के कुछ प्रमुख शब्द इस प्रकार हैं-

शब्द	अंग्रेजी भाषा में अर्थ	हिन्दी में प्रचलित अर्थ
कलक्टर	संग्रहकर्ता, लगान का श्रेष्ठ अधिकारी	जिलाधीश
कॉपी	अनुकरण	पुस्तिका
टिकट	रेलवे टिकट	पोस्ट, कचहरी के टिकट
पेपर	कागज	अखबार, प्रश्नपत्र
बटन	कपड़े में लगने वाला बटन	बिजली का बटन (स्विच)

हिन्दी भाषा में बहुत से ऐसे संयुक्त शब्द प्रचलित हैं, जो हिन्दी और अंग्रेजी के शब्दों से मिल कर बने हैं। ऐसे शब्दों को मिश्रित शब्द कहा जाता है। हिन्दी-अंग्रेजी के प्रमुख मिश्रित शब्द इस प्रकार हैं- कांजी हाउस, जवाबी कार्ड, टिकट घर, डबल रोटी, रेलगाड़ी, सीलबंद, पॉकेटमार, लाठीचार्ज, कापी-किताब आदि।

अंग्रेजी भाषा की बहुत सी ऐसी संज्ञाएं हैं, जो ज्यों की त्यों हिन्दी में प्रयुक्त होती हैं। जैसे-एनर्जी, पॉवर, लंव, ब्यूटी, हेल्थ, सस्पेंस, क्लाइमेक्स, आइडिया, रेजिगनेशन, सर्विस, जूनियारिटी, सीनियारिटी, प्रॉफिट, प्रोग्रेस, कम्युनिज्म, रोमेन्टिसिज्म, स्टडी, सेक्स, ड्यूटी, प्राइज़, रेवार्ड, ट्रुथ, रेस्पेक्ट, रोमांस आदि।

'करना', 'लगना', 'होना' आदि हिन्दी की क्रियार्थक संज्ञाएं अंग्रेजी भाषा की संज्ञा या विशेषण में जुड़ कर बहुत सी ऐसी संयुक्त क्रियाएं बन गयी हैं, जो लिखित और वाचिक दोनों रूप में प्रयुक्त होती हैं। कुछ ऐसी ही संयुक्त क्रियाएं इस प्रकार हैः- आर्डर देना, आर्डर लेना, एक्टिंग करना, किक मारना, टाइट करना, पास होना, फिट होना, बुक करना, शेविंग करना, स्टार्ट करना, हेल्प करना आदि।

अंग्रेजी भाषा के बहुत से विशेषण हिन्दी में आमतौर से इस्तेमाल में लाए जाते हैं। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं- ब्यूटीफुल, वंडरफुल, जूनियर, सीनियर, टेम्परेरी, परमानेन्ट, हेल्दी, नॉननेंस, थर्ड क्लास, वेरीगुड, आर्डिनरी, एजुकेशनल, नेशनल, पॉलिटिकल, फाइन, फैंसी, लोकल, सोशल, स्पेशल, नियरली, डेली, मंथली आदि।

हिन्दी और अंग्रेजी भाषा के बहुत लम्बे समय तक एक दूसरे के सम्पर्क में बने रहने के कारण न सिर्फ अंग्रेजी के मुहावरे हिन्दी में प्रचलित हुए (आउट ऑफ डेट, ईडियट द ग्रेट, सी ऑफ, सेंट-परसेंट, हिप-हिप हुर्रे, फिफ्टी-फिफ्टी आदि), बल्कि हिन्दी अंग्रेजी के शब्दों को मिला कर भी अनेक मुहावरों का निर्माण हुआ। जैसे- अंडर ग्राउंड होना, एजेंट बनना, टिकट कटाना, डबल क्रास करना, पॉकेट गरम करना, पॉलिश करना, पॉलिटिक्स खेलना, फोर-ट्वेन्टी करना, बटरिंग करना, ब्लैकमेल करना, बैरंग लौटना, मूड ऑफ होना, रसीद करना, बोतल चढ़ाना, रिंग लीडर होना, रिकार्ड तोड़ना, लाटसाहब होना, लेक्चर देना, हीरो बनना, हुलिया टाइट करना आदि।

अंग्रेजी भाषा के सम्पर्क में आने से जहां एक ओर हिन्दी भाषा का शब्द भण्डार बढ़ा, वहीं हिन्दी साहित्य में भी अनेकानेक परिवर्तन हुए। उन परिवर्तनों को रेखाकिंत करते हुए डॉ0 मोहन लाल तिवारी लिखते हैं- 'हिन्दी साहित्य पर अंग्रेजी का प्रभाव फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना के बाद से शुरू होता है। तदनन्तर, देशभक्ति एवं समाजवाद की नई अभिव्यक्ति अंग्रेजी साहित्य की देन हैं। अंग्रेजी के एलेजी-शोकगीत,

ओड-सम्बोधनगीत, लिरिक-प्रगीत और सॉनेट-चतुर्पदी को हिन्दी में बड़े उत्साह के साथ अपनाया गया। अंग्रेजी रोमांटिक काव्य परम्परा का हिन्दी छायावाद पर पूरा प्रभाव है। आधुनिक नाट्य साहित्य भी अंग्रेजी के आलोक में लिखा गया है।'[12]

सामाजिक परिवर्तन और हिन्दी

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। कोई भी देश, समाज अथवा व्यक्ति इससे इतर नहीं होता। एक अकेले मनुष्य के जीवन में ही इतने परिवर्तन होते हैं कि वह सदैव हैरान-परेशान बना रहता है। फिर समाज की बात ही क्या? कोई भी समाज उसमें रहने वाले लोगों से बनता है। लोग, जिनकी अपनी आकांक्षाएं हैं, अपने सपने हैं, अपने संघर्ष हैं और सीमाएं भी हैं। सामान्यतः व्यक्ति अपनी क्षमताओं का सही आकलन नहीं कर पाता और इच्छाओं को पाल लेता है। नतीजे में सिर्फ और सिर्फ निराशा। निराशा तोड़ती है इच्छा शक्ति को, व्यक्ति को, परिवार को, समाज को। यही टूटन अन्ततः बदलाव का प्रमुख कारक बनती है।

वर्तमान काल को यदि 'आविष्कारों का युग' कहा जाए, तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। नित नए अविष्कार हमें देखने व सुनने को मिलते हैं। इन आविष्कारों ने मानव जीवन को कहां से कहां पहुंचा दिया है। पहले व्यक्ति अपनों का हाल जानने के लिए जहां चिट्ठियों के भरोसे रहता था, वहीं आज मोबाइल और चैंटिग जैसी आधुनिक सुविधाएं उसकी मुट्ठी में हैं। पहले कहीं आने जाने के लिए मनुष्य जहां पैदल अथवा घोड़े की सवारी करता था, वहीं आज हवाई जहाज जैसे साधन उसकी सेवा हेतु श्रद्धावनत हैं। पहले जहां मनोरंजन के लिए लोग नौटंकी अथवा लोकनृत्य का मुंह ताकते थे, आज हर घर में टी.वी. अपना अधिपत्य जमा चुका है।

अकेला टी.वी. ही ऐसा माध्यम है, जिसने सामाजिक परिवर्तन में बहुत बड़ी भूमिका निभाई है। भारत में शिक्षा और ज्ञान के उद्देश्य से 1959 में शुरू हुआ टेलीविजन जिस तरह 24 घंटे सास-बहू के किस्से, अभिजात्य वर्ग के यौनाचार और 'रिमिक्स' की देह-दर्शना दृश्यावलियां परोस रहा है, उससे कौन और कब तक अपने आपको बचा सकता है?

सूचना तकनीक की बाढ़, फिल्मी दुनिया का आकर्षण और कॉल सेन्टर्स की माया अपने जादुई प्रभाव को दिन प्रतिदिन फैलाती नजर आ रही है। टूटते परिवार, बिखरते रिश्ते, इच्छाओं के मोहपाश में डूबे 'दिल मांगे मोर' के समूह गान में खोए हुए हैं। यही कारण है कि फिल्मों में भी हमें यही सब देखने को मिल रहा है।

इतनी द्रुत गति से होने वाले सामाजिक परिवर्तनों की आखिर वजह क्या है? लखनऊ विश्वविद्यालय में मॉस कम्युनिकेशन, तृतीय वर्ष (2005) की छात्रा नाहीद ज़फर इसकी पड़ताल कुछ इस तरह से करती हैं- 'छोटे से छोटे शहरों में भी आज कॉल सेन्टर, मैक्डोनाल्ड और पिज्जा हट खुल रहे हैं। यहां पर देखिए मैक्सिम 10 प्लस 2 स्टूडेन्ट्स आपको मिलेंगे। इससे यंग जेनरेशन में जबरदस्त चेंज आया है। उसकी लाइफ का फंडा है मौज और मस्ती। इसीलिए वह हफ्ते भर कमाता है और वीकेंड में सारे पैसे खर्च कर देता है। ये फंडा फिल्म वालों को भी समझ में आ गया है। इसीलिए मैक्सिमम फिल्में यूथ को लेकर बनायी जाती हैं। ये फिल्में इसलिए चलती हैं क्योंकि हम अपनी रियल लाइफ में जो नहीं कर पाते, तीन घंटे की 'रील लाइफ' में वह सब होते हुए देखना चाहते हैं।'[13]

इसे सामाजिक बदलाव कहा जाय अथवा अन्य भाषाओं का दबाव कि हिन्दी में भी 'कीजिए' के स्थान पर 'करिए', 'मुझे' के स्थान पर 'मेरे को', 'मुझको' के स्थान पर 'मेरे से', 'तुझ में' के स्थान पर 'तेरे में,' 'नहीं जानता है' के स्थान पर 'नहीं जानता', नहीं जा रहा है' के स्थान पर 'नहीं जा रहा' जैसे नये रूपों तथा नयी वाक्य रचना का प्रचार तेजी से बढ़ रहा है। अर्थात् हिन्दी भाषा की रूप-रचना एवं वाक्य रचना में परिवर्तन हो रहा है।

कई बार वैज्ञानिक प्रगति भी भाषा के बदलाव में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। सूचना क्रान्ति के विस्तार के बाद सारे संसार में इंटरनेट सर्फिंग और शार्ट मैसेज सर्विस (एस.एम.एस) ने बहुत तेजी से लोकप्रियता हासिल की है। वर्तमान में कई व्यवसायिक कम्पनियां मोबाइल पर एस.एम.एस. के जरिए भी चैटिंग जैसे कार्य सम्पन्न कराने लगी हैं। इन माध्यमों की लोकप्रियता ने भाषा में एक नया रुझान पैदा किया है, जो हर बात को बहुत ही संक्षेप में समेटना चाहता है। इन माध्यमों में ज्यादातर अंग्रेजी भाषा का प्रयोग होता है, लेकिन उसमें भी ऐसे रोचक प्रयोग हो रहे हैं कि नया व्यक्ति उन्हें देख कर दांतों तले उंगली दबाने के मजबूर हो जाए।

मैसेजिंग शब्दावली के इस विचित्र संसार में 'Why' के लिए 'Y', 'and' के लिए 'n', 'Yes' के लिए 'S', 'We' के लिए 'V', 'tea' के लिए 't', 'you' के लिए 'u', 'am' के लिए 'm', 'Your' के लिए 'ur', और 'not' के लिए 'nt' जैसे प्रयोग देखने को मिल रहे है, वहीं रोमन इंग्लिश में भी 'क्यों' के लिए 'q', 'भी' के लिए 'b', और 'के' के लिए 'K' जैसे प्रयोग धड़ल्ले से हो रहे हैं। ये परिवर्तन भाषा के लिए एक प्रकार का खतरनाक संकेत हैं क्योंकि जिस प्रकार मोबाइल फोन प्रचलन में आने के बाद लोग अपने परिचितों के फोन नम्बर भूलने लगे हैं, उसी प्रकार इस 'संक्षिप्त' शब्दावली के कारण मूल

शब्दावली के लिए भी भविष्य में खतरा उत्पन्न हो सकता है, इसमें कोई दो राय नहीं होनी चाहिए।

सुप्रसिद्ध आलोचक वीरेन्द्र यादव इन बदलावों पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं- 'किसी भी समाज में समय के साथ-साथ बदलाव अपरिहार्य होते हैं। आजादी के बाद की जो पीढ़ी थी, वह पारम्परिक और आदर्शवादी किस्म के सांचे में ढ़ली हुयी थी। उस समय परिवार में खुलापन नहीं था, आपसी संवाद भी बहुत औपचारिक किस्म के ही थे। उस समय यदि पुत्र की गल्ती नहीं होने पर भी पिता घुड़क देता था, तो पुत्र जवाब नहीं देता था। जबकि आज स्थिति एकदम उलट है। वर्तमान में सामाजिक सम्बंधों और पारिवारिक सम्बंधों में काफी खुलापन है। आज यदि किसी बच्चे की गल्ती होने पर भी पिता उसके किसी मित्र के सामने उसे डांट देता है, तो बच्चा बाद में अपने पिता से विरोध करता है कि उसे दोस्त के सामने क्यों डांटा? सामाजिक स्तर पर यह जो बदलाव हम देख रहे हैं, इससे भाषा कैसे अछूती रह सकती है?'[14]

जीवन की उलझावपूर्ण और कंटकयुक्त राहों से आज हर कोई इतना त्रस्त है कि वह पशेमां सा इधर-उधर मारा-मार फिर रहा है। इन परेशानियों से बचने के लिए लोग नए 'शार्टकट' की तलाश में लगे रहते हैं। ऐसे ही एक शार्टकट का नाम है 'रीमिक्स'। रीमिक्स के अपने लुत्फ और अपने नुक्स हैं। वरिष्ठ पत्रकार करुणा शंकर सक्सेना फिल्मी दुनिया के इस रुझान पर काफी चिंतित हैं। उनके अनुसार-'आज के फिल्मकारों का मुख्य उद्देश्य पैसा कमाना है। इनमें क्रिएशन की समझ ही नहीं हैं, इसीलिए वे ऊपरी चीजों, मंहगे सेट, ज्वैलरी, भड़कीले, वस्त्र और हल्के विषय पर जोर देते हैं। इसी का एक विकृत रूप है रिमिक्स, जिसमें लोकनृत्य, मुजरा और क्लब डांस तीनों का घालमेल हो रहा है।'[15]

लेखक एवं गीतकार राजीव राय इन समस्त स्थितियों पर टिप्पणी करते हुए कहते है- 'ये संक्रमण का दौर है। भारतीय मान्यताओं और पाश्चात्य जीवन शैली के बीच द्वन्द्व छिड़ा हुआ है। न हम एक को पूरी तरह छोड़ पा रहे हैं और न ही दूसरे को पूरी तरह से अपनाने की स्थिति में हैं। यही कारण है कि नैतिक मूल्य, आदर्श और भाषा सब कुछ हमसे छूटते जा रहे हैं। इच्छाओं के मोहपॉश में हम इस तरह बंधे हुए हैं कि चाह कर भी कुछ नहीं कर सकते।'[16]

हिन्दी सिनेमा और उसका सच

'साहित्य समाज का दर्पण है' यह एक पुरानी उक्ति है। अर्थात जो कुछ समाज में घटित हो रहा है, वही हमें साहित्य में भी देखने को मिलता है। इस नजरिए से देखें तो सिनेमा भी समाज का दर्पण कहा जा सकता है। बल्कि यदि इस बात को

इस तरह से कहा जाए कि सिनेमा एक ऐसा दर्पण है, जिसमें समाज का प्रतिबिम्ब साहित्य की तुलना में काफी जल्दी दिखने लगता है, तो ज्यादा उचित होगा।

चाहे मानव और मशीन के द्वन्द्व का चित्रण हो, जे0पी0 द्वारा डाकुओं के समर्पण की घटना हो अथवा राजनेता, माफिया और पूंजी के गठजोड़ का भंडाफोड़, ये विषय किसी साहित्यिक विधा में उठाए जाने से पहले ही फिल्मों में अपनी जगह बना चुके थे। इस नजरिए से 'नया दौर' और 'राम तेरी गंगा मैली' जैसी फिल्में अपने समय से आगे की चीज कही जाएंगी क्योंकि उस समय तक न तो मनुष्य और मशीन के संघर्ष ने इतना विकराल रूप लिया था और न ही जे0पी0 द्वारा डाकुओं के आत्मसमर्पण की घटना ही घटित हो पायी थी।

साहित्य और फिल्म में यदि कोई सबसे बड़ा फर्क है, तो वह यह कि साहित्य लेखक का माध्यम है और फिल्म, लेखक, निर्देशक, अभिनेता और कैमरामैन का संयुक्त प्रयास है। एक कहानी या उपन्यास को लिखते समय लेखक अपनी सोच को घटना और पात्रों के सहारे रूपायित करता है, जबकि फिल्म में पहले लेखक कहानी लिखता है, निर्देशक उसे अपनी कल्पना के अनुसार लेखक के साथ बैठ कर पटकथा में परवर्तित करता है। तदुपरांत अभिनेता उसकी कहानी को अपने अभिनय द्वारा सजीवता प्रदान करते हैं और कैमरामैन उसे अपने कैमरे में कैद करता है।

साहित्य और फिल्म में दूसरा प्रमुख अंतर यह है कि जहां साहित्य की किसी भी विधा की पाँच सौ या हजार प्रतियां प्रकाशित होती हैं, वहीं फिल्म करोड़ों लोगों को लक्ष्य करके बनायी जाती है। किसी हिन्दी फिल्म के संभावित दर्शकों में सिर्फ हिन्दी भाषी नागरिक ही नहीं, बल्कि अहिन्दी भाषी प्रदेश के नागरिक, दूसरे देशों में बसे प्रवासी भारतीय (जो पचासों सालों से उस देश में रहते है और स्वयं को वहां के वातावरण के अनुसार ढाल चुके है तथा अपनी मातृभाषा को होली-दिवाली की तरह ही कभी-कभी याद कर पाते हैं) और बालीवुड की चमक-दमक से प्रभावित विदेशी नागरिक, (जिन्हें हिन्दी बिल्कुल भी नहीं आती) होते हैं। यहां पर यह मजेदार तथ्य भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि दक्षिण भारत के लोग जो सामान्यतः हिन्दी भाषा के प्रति अतीत में काफी दिनों तक असहिष्णु रवैया अपनाते रहे थे, वे भी हिन्दी फिल्में अब बड़े चाव से देखते हैं।

इसीलिए फिल्मकारों की यह मजबूरी है कि फिल्म में ऐसी भाषा उपयोग में लायी जाए, जो बेहद आसान और सरल हो। जिस व्यक्ति का हिन्दी से थोड़ा-बहुत भी वास्ता हो, वह उसे भलीभाँति समझ सके।

सुपरिचित कथाकार और फिल्म लेखक सुशील सिद्धार्थ हिन्दी फिल्मों की भाषा को रेखांकित करते हुए कहते हैं- 'हिन्दी फिल्मों की भाषा अवधी और भोजपुरी के ठाठ पर खड़ी हुई है और उसे उर्दू की आसान शब्दावली द्वारा सजाया-संवारा गया है। यह भाषा पूरी तरह से धर्मनिरपेक्ष भाषा है। इसे हिन्दी या उर्दू कहने की अपेक्षा 'हिन्दुस्तानी' का नाम दिया जा सकता है, जिसकी परिकल्पना प्रेमचंद और गांधी ने की थी।'[17]

यहां पर अगर साहिर लुधियानवी के गीत 'तू हिन्दू बनेगा न मुसलमान बनेगा' की पंक्तियां उधार ली जाएं तो कहा जा सकता है कि हिन्दी फिल्मों की भाषा न हिन्दू की भाषा है और न मुसलमान की, बल्कि यह मानव मात्र की भाषा है और शायद यही इसकी व्यापकता/सफलता का राज है।

पारसी थियेटर से निकली फिल्मों की इस भाषा को गढ़ने में लाहौर से आई फिल्म मंडली ने अपना भरपूर योगदान दिया। यही कारण है कि उस दौर की फिल्मों में उर्दू शब्दावली की बहुलता दिखाई पड़ती है। बाद में इस परम्परा को आगे बढ़ाने वालों में पं0 मुखराम शर्मा, ख्वाज़ा अहमद अब्बास, राजेन्द्र सिंह बेदी, कृश्नचंदर, सआदत हसन मण्टो, कुर्तुलंन हैदर, राही मासूम रज़ा, अमृत लाल नागर और भगवती चरण वर्मा जैसे उर्दू-हिन्दी के साहित्यकारों ने अपना बहुमूल्य योगदान दिया।

हिन्दी फिल्मों की भाषा में एक प्रमुख बदलाव तब आया, जब फिल्मों में सलीम-जावेद की जोड़ी ने पदार्पण किया। जावेद अख्तर ने अपनी पैनी कलम से ठहरी हुयी भाषा में आवेग का संचरण किया। साथ ही साथ उन्होंने भाषा को एक कविताई रूप भी प्रदान किया। 'त्रिशूल', 'ज़ंजीर', 'दीवार', 'शोले' जैसी फिल्मों के नाम इस लिहाज से उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी फिल्मों एक तरह से मिश्रित भाषाई स्वरूप प्रचलित रहा है। इसका एक कारण यह भी है कि फिल्मी दुनिया में भारत के कोने-कोने से आकर लोग बसते चले गये हैं। कोई राजस्थान से आया है, कोई पंजाब से, कोई बिहार से, कोई बंगाल से। हर व्यक्ति पर अपने क्षेत्र की भाषा की कुछ न कुछ रंगत अवश्य देखने को मिलती है। जब ये सारे रंग एक साथ मिलते हैं, तो एक इन्द्रधनुषी वातावरण सा बन जाता है। यही कारण है कि जहां एक ओर हमें 'बूझ मेरा क्या नांव रे, नदी किनारे गांव रे, पीपल झूमे आंगना, ठण्ढी-ठण्ढी छांव रे' जैसे अवधी लोकगीत शैली में गाने देखने को मिलते हैं, वहीं दूसरी ओर, 'जिहाले मस्ती मकुन बरन्जिस, बहारे हिजरा बेचारा दिल है। सुनाई देती है जिसकी धड़कन, तुम्हारा दिल या हमारा दिल है' जैसे फारसी मिश्रित सफल प्रयोग भी देखने को मिलते हैं।

सामान्यतः फिल्मों में प्रयुक्त होने वाली हर कहानी का अपना एक देशकाल एवं वातावरण होता है। जैसे 'पहेली' और 'गुलामी' में राजस्थान की पृष्ठभूमि का उपयोग किया गया है, 'देवदास', 'परिणीता', 'बंदिनी' व 'अमानुष' में बंगाल का वातावरण अपनाया गया है। वहीं 'लगान' में अवध की सरजमीं की झलक मिलती है, तो 'हम दिल दे चुके सनम' में गुजरात का माहौल झलकता है। कहानी को प्रभावी बनाने के लिए उसके पात्रों की भाषा में वहां की स्थानीय भाषा/बोली का हल्का सा पुट देना आवश्यक होता है। लेकिन यहां पर इस बात का भी ध्यान रखना जरूरी होता है कि स्थानीय पुट देने के प्रयास में फिल्म की भाषा अन्य लोगों के लिए दुरूह न हो जाए। यही कारण है कि 'लगान' फिल्म में सिर्फ अवधी भाषा का 'छौंका' लगाया गया है, जिससे उसमें अवधी की गंध भी आ जाए और वह हर एक के लिए सुगम भी बनी रहे।

शुद्ध हिन्दी खड़ी बोली का प्रयोग फिल्मों में सदैव वर्जित सा रहा है। जहां कहीं पर ऐसे प्रयोग किए भी गये हैं, वहां पर एक प्रकार की हास्यास्पद स्थितियां उत्पन्न हो गयी हैं, जैसे फिल्म 'चुपके-चुपके'। धर्मेन्द्र और शर्मिला टैगोर अभिनीत इस फिल्म में धर्मेन्द्र एक ऐसे पात्र के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं, जो शुद्ध खड़ी बोली का प्रयोग करता है। फिल्म में जब-जब उसका प्रसंग आता है, हास्य रस की उत्पत्ति होने लगती है। फिल्म में हंसी पैदा करने के लिए खड़ी बोली का गीत भी फिल्माया गया है- 'प्रिय प्राणेश्वरी, हृदयेश्वरी, यदि आप हमें आदेश करें, तो प्रेम का हम श्रीगणेश करें।'

हिन्दी फिल्मों में भाषा का एक अन्य मजेदार स्वरूप उन फिल्मों में देखने को मिलता है, जो दक्षिण की हिट फिल्मों की रिमेक है। ऐसी फिल्में बनाने वालों में डी0एन0 राव और एम0एस0 राव के नाम प्रमुख हैं, जिन्होंने जितेन्द्र को लेकर अनेक फिल्में बनाईं। 'हिम्मतवाला', 'मवाली', और 'मांग भरो सजना' जैसी इस तरह की तमाम फिल्मों में जिस प्रकार की हिन्दी का प्रयोग किया गया है, वह अनुवाद की हिन्दी अधिक लगती है और बोलचाल की हिन्दी कम। यही कारण है कि दक्षिण में तो ये फिल्में काफी सफल रहीं, पर हिन्दी में अपेक्षाकृत इन्हें उतनी सफलता नहीं मिल सकी।

यदि हिन्दी और उर्दू साहित्य से फिल्मों में गये साहित्यकारों पर एक नजर डाली जाए, तो यह साफ झलकता है कि हिन्दी के रचनाकार फिल्मों में ज्यादा सफलता प्राप्त नहीं कर सके। आखिर क्यों? इसका जवाब देते हुए सुप्रसिद्ध साहित्यकार, फिल्म लेखक और निर्देशक वेद राही कहते हैं- 'हम इस सत्य से मुंह नहीं मोड़ सकते

कि बिना कलम के फिल्म बन सकती हैं, बिना कैमरे के नहीं। यही वजह है कि लेखक इस माध्यम में कहीं पीछे खड़ा नजर आता है। जहां तक प्रश्न है बदलाव का, तो दौर तो कई बदले हैं। वह भी सिनेमा में ही नहीं, साहित्य में भी, लेकिन सिनेमा की बुनियाद नहीं बदली है। उसे बदला भी नहीं जा सकता। फिल्मकार की सोच जरूर बदली है। एक जमाना था जब फिल्म बनाने से पहले समाज पर उसके अच्छे-बुरे प्रभाव के बारे में सोचा जाता था। आज पैसा ही सब कुछ है और यह स्थिति सिर्फ सिनेमा नहीं वरन मीडिया, राजनीति, पत्रकारिता सभी जगह है। बस एक साहित्य ही है, जो इससे अछूता है क्योंकि उसका कोई बाजार नहीं है। और चूँकि कोई खरीदार नहीं तो साहित्यकार सोचता है, अपनी मर्जी का ही क्यों न लिखूं। इसी सोच के चलते सिनेमा जैसे माध्यम में खप पाना उसके लिए मुश्किल हो जाता है।'[18]

फिल्मी भाषा के स्तर पर पिछले एक दशक में जो सबसे बड़ा बदलाव देखने में आया है, वह है अंग्रेजी का बढ़ता हुआ प्रभाव। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि पहले जहां फिल्म लेखन के लिए उर्दू और हिन्दी के मशहूर रचनाकार अपनी सेवाएं देते रहे, वहीं भाई-भतीजावाद के चलते वहां पर एक ऐसी पीढ़ी अपना अधिपत्य जमाती जा रही है, जो 'कान्वेन्ट' संस्कृति में न सिर्फ पली-बढ़ी है बल्कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता से पूरी तरह से अपरिचित भी है।

फिल्म इंडस्ट्री में तेजी से स्थापित हो रही इस नयी पीढ़ी के पास न तो हिन्दी भाषा का ज्ञान है और म ही भारतीय समाज की समझ। यही कारण है कि फिल्मों का स्तर दिन प्रतिदिन गिरता जा रहा है। यह गिरावट विषय से लेकर भाषा तक पसरी हुयी है और हैरानी की बात यह है कि 95 प्रतिशत फिल्में फ्लॉप होने के बावजूद कोई इसे समझने को तैयार नहीं है। सुशील सिद्धार्थ के शब्दों में- 'पहले फिल्मों में भावनाओं को व्यक्त करने के लिए बाकायदा सीन लिखे जाते थे। अब इस काम को सिर्फ एक डायलाग से निपटा लिया जाता है। अगर हम आज की फिल्मों का सूक्ष्मता से अध्ययन करें, तो पाएंगे कि पटकथा की शैली ही बदल गयी है। यही स्थिति भाषा के साथ भी है। 'देहभाषा' ने भाषा को विस्थापित कर दिया है। दूसरे जहां कहीं भी भाषा थोड़ी-बहुत बची-खुची है, वहां पर मुम्बईया भाषा छा गयी है। इसकी वजह यह है कि मुम्बई में पैसा है, ग्लैमर है और सबसे बड़ी बात यह कि फायनेन्सर भी वहीं पर हैं। इसीलिए मुम्बइया भाषा डॉमिनेट कर रही है।'[19]

भाषागत बदलाव का एक दूसरा अहम कारण यह भी है कि फिल्म इंडस्ट्री में आज ज्यादातर पटकथाएं अंग्रेजी में लिखी जाती हैं। यहां तक कि डायरेक्टर मुख्य-मुख्य डॉयलाग भी अंग्रेजी में ही लिखते हैं। बाद में उनका हिन्दी में अनुवाद

कर दिया जाता है। डॉ0 अनुपम ओझा इसे और विस्तार से बताते हुए लिखते हैं-

'न सिर्फ व्यावसायिक फिल्मकार बल्कि कला-सिनेमा कर्मी भी हिन्दी में फिल्में बनाने के लिए हिन्दी क्लासिक्स और लोक का अध्ययन करना जरूरी नहीं समझते। हिन्दी में अनुवाद करने वाले एक अनुवादक से उनका हिन्दी ज्ञान सम्पन्न हो जाता है। लेकिन रोना ये कि हिन्दी क्षेत्र के दर्शकों का मानसिक स्तर निम्न है। व्यावसायिक हिन्दी सिनेमा के अनेक फामूलों के जन्मदाता और सिने इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान बनाने वाले पटकथा लेखक (और अब गीत लेखक भी) जावेद अख्तर का कहना है- 'I have never lived in a village and in fact I have never studied hindi. I can not write it.'[20] (मैं कभी गांव में नहीं रहा और वास्तव में मैंने कभी हिन्दी नहीं पढ़ी। मैं इसे लिख नहीं सकता।)

भारतीय समाज और संस्कृति की पर्याप्त समझ न होने के कारण अक्सर फिल्मों में ऐसे घालमेल देखने को मिल जाते हैं कि दर्शक अपना सिर पीटने को विवश हो जाता है। ऐसी ही घटना फिल्म 'एक श्रीमान, एक श्रीमती' में देखने को मिलती है। यह घटना कुछ इस प्रकार है-

जंगल में शिकार करने गये एक दल को आदिवासी पकड़ कर अपने सरदार के सामने पेश करते हैं। संयोगवश सरदार उस समय बीमार होता है। शिकारी दल में शामिल एक डाक्टर अपने इलाज से सरदार को खुश कर देता है। सरदार प्रसन्न होकर उनका स्वागत करता है। सरदार की बेटी 'राजा तोहे नैनों से मदिरा पिलाऊंगी' गीत गाकर नृत्य करती है। यह गीत बिल्कुल नौंटकी शैली में गाया गया है। ध्यान देने वाली बात यह है कि नौटंकी जहां उत्तर प्रदेश और बिहार का लोकनाट्य है, वहीं आदिवासियों का इन प्रदेशों से कोई संबंध नहीं। फिल्म में उसके स्थान और काल (समय) का भी उल्लेख नहीं है। फिल्म देख कर यह भी पता नहीं चलता कि ये कहां के आदिवासी हैं, जो बातें शुद्ध हिन्दी में करते हैं पर गाना भोजपुरी में गाते है। अगर इस सवाल से आपका सर चकराता है, तो चकराता रहे, निर्माता-निर्देशक को इससे कोई वास्ता नहीं।

डॉ0 ओझा एक रोचक घटना का उल्लेख करते हुए लिखते हैं- 'फिल्म संस्थान, पुणे में फिल्म प्रोडक्शन, तृतीय वर्ष (1997) के विद्यार्थी विक्रान्त राय को अन्तिम वर्ष के प्रैक्टिकल के लिए कुछ निर्माताओं के साथ काम करने का मौका मिला। उस समय के अनुभवों के विषय में बात करते हुए उन्होंने बताया कि आजकल सामान्य तथा व्यावसायिक सिनेमा में कथा का तो अस्तित्व ही नहीं होता, लेकिन पटकथाएं भी आमतौर से शूटिंग प्लेस पर लिखी जाती हैं और कभी-कभी तो सिर्फ

संवाद ही लिखे जाते हैं। एक पटकथा लेखन की घटना का आंखों देखा हाल वे बड़े विनोदपूर्वक वर्णित करते हैं। पटकथा लेखक ने लिखा था- 'चांद अंगड़ाइयां ले रहा था। पीपल के पत्ते, बादलों की ओट, पर्वत की छाया, जुगनू की झिलमिल, पलकों का घेरा।' पटकथा के अंश पढ़ कर लेखक के साथी ने सुझाव दिया। इसमें उर्दू डाल, तब तो झांस आएगी'।[21]

जाने-माने साहित्यकार और पटकथाकार कमलेश्वर फिल्मी लेखन को फार्मूलाबद्ध लेखन की संज्ञा देते हैं। वे इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को कटघरे में खड़ा करते हैं- 'फिल्में लिखने के लिए निर्माताओं के पास अपने मुंशी लेखक भी होते हैं, जो उनके दफ्तर में क्लर्क या प्रोडक्शन यूनिट में प्रापर्टी की फेहरिश्तें बनाते-बनाते लेखक का दर्जा हासिल कर लेते है। ऐसे लेखक अकेले नहीं होते, उनके साथ उसी यूनिट के कुछ असुरक्षित लोग भी लग जाते है, जो 'सिसकारे' की भूमिका अदा करते हैं, 'च... च', 'वाह! क्या बात है', 'हाय..हाय' के साथ कथा-कथन को बढ़ावा देते रहते हैं और जगह-जगह यह भी बताते रहते हैं कि कहां पर हिरोइन को नंगा दिखा सकने की गुंजाइश है और कहां पर 'रेप सीन' जड़ा जाएगा। इसे और व्यावसायिक बनाने के लिए 'कैबरे', 'डिस्को' और 'बाथरूम सीन' विशेष रूप से सोचे जाते हैं। इसी के साथ 'मर्डर' और 'हत्या' के सीन जुड़ते रहते हैं। क्रूरता को क्रूरतम हदों तक ले जाना पड़ता है।

'रेप सीन में खलनायक की हड्डियां तोड़ने और हीरोइन को बचाने के लिए हीरो को दीवार फाड़ कर आना ही पड़ता है, इसलिए हीरोइन का चरित्र शुरू से ही एक पवित्र परंतु बेबस लड़की का रखना पड़ता है। विलेन की पिटाई करते समय हीरो के एक्शन और जुमलों का बहुत महत्व होता है। अगर इस दृश्य पर तालियां बजती हैं तो लेखक पैसों की एक और सीढ़ी चढ़ जाता है।'[22]

इस सम्पूर्ण स्थिति पर अपना क्षोभ प्रकट करते हुए सफल फिल्म लेखक कमलेश पाण्डे कहते हैं- 'पुराने जमाने में लेखक शिक्षा या साहित्य के क्षेत्र से आते थे। हर विधा का विशेषज्ञ अलग से होता था, लेकिन आज आने वाले तो हिन्दी भी ठीक से नहीं जानते। ज्यादातर मुम्बई में पैदा हुए हैं और यहां की टपोरी बोली को लेखन मानते हैं। ज्यादातर ऐसे लोग लेखक बन गये हैं, जो हीरो बनने आए थे। लोग सोचते हैं कि लेखन सबसे आसान काम है, जबकि यह धारणा गलत है। हालत यह है कि आज स्टार सबसे आगे और लेखक सबसे पीछे के पायदान पर खड़ा है। उसकी हैसियत मुंशी जैसी हो गयी है, इसीलिए 95 प्रतिशत फिल्में फ्लाप हो रही हैं। ज्यादातर अभिनेता-अभिनेत्रियों को हिन्दी नहीं आती। वे रोमन में संवाद रटते हैं।

अर्थ क्या खाक समझेंगे। आखिर हम अच्छा लिखें, तो किसके लिए? जो अभिनेता ढ़ंग से बोल भी न पाए, उसके लिए? यह भाषा के साथ व्यभिचार है।'[23]

सत्यजीत रे समय के साथ-साथ भाषा में बदलाव को अपरिहार्य मानते हैं। उनके अनुसार यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, जिसे हमें सहजता से लेना चाहिए। वे कहते हैं- 'भाषा की तुलना पोशाक से करना विषयांतर नहीं होगा। पोशाक की तरह ही भाषा के दो पक्ष हैं। पहला, प्रयोजन-पूर्ति यानी 'फंक्शनल पक्ष'। इससे एक प्रकार के विशेष भाव की अभिव्यक्ति का कार्य सम्पन्न होता है। दूसरा कला पक्ष, जहां भाषा के माधुर्य, ऋतुजा, तेजस्विता इत्यादि के प्रश्न उजागर होते हैं। कोई भाषा जब नए सिरे से बनती है, तो वह किसी विशेष भाव के प्रयोजन की पूर्ति के लिए ही होती है। इस प्राथमिक उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है, तो कलाकारों द्वारा क्रमशः उस भाषा की श्रीवृद्धि होती है। परिणति अवस्था में पहुंच कर भी कोई भाषा चिरंतन काल तक जीवित नहीं रह सकती क्योंकि युग के बदलाव के साथ-साथ सतर्क कलाकारों के मिजाज और दृष्टिकोणों का प्रतिफलन भाषा में होना स्वाभाविक है।'[24]

वर्तमान में प्रचलित फिल्मों के परिवेश और भाषा के सन्दर्भ में भी यही बातें अक्षरशः लागू होती हैं। सुप्रसिद्ध मीडियाकर्मी कुमुद नागर के शब्दों में, 'आजकल फिल्मों में जो भाषा इस्तेमाल हो रही है, वह अपने परिवेश के अनुसार उपयुक्त है। ज्यादातर फिल्मों में हाई क्लास सोसाइटी के करेक्टर छाए हुए हैं। ये पात्र कान्वेन्ट में पढ़ते हैं, लेट-नाइट पार्टियाँ और पंचतारा होटल इनकी जिंदगी का अहम हिस्सा बन गये हैं। अब ऐसे लोग शुद्ध साहित्यिक हिन्दी तो बोलने से रहे, इसलिए निर्देशक को हिन्दी और अंग्रेजी की मिश्रित शब्दावली का प्रयोग करना पड़ता है।'[25]

जैसे-जैसे समय बदला, वैसे-वैसे समाज बदला और वैसे ही तेजी से बदला हिन्दी फिल्मों का माहौल। विषय के स्तर पर फिल्मों में हुआ बदलाव इतनी तेजी से हुआ है कि आम आदमी एकदम हतप्रभ है। एक समय 'मदर इंडिया', 'उपकार', 'दो बीघा जमीन', 'प्यासा', 'आवारा', 'रोटी कपड़ा और मकान', 'जिस देश में गंगा बहती है', 'पाकीजा' व 'उमराव जान' जैसी जमीन से जुड़ी और उद्देश्यपूर्ण फिल्में देने वाली फिल्म इंडस्ट्री आज 'मर्डर', 'हवस', 'पाप', 'गर्लफ्रेंड', 'नजर', 'जहर' के फंदे में उलझी प्रतीत हो रही है। और यह सब हो रहा है बाजार के नाम पर। भुवन नैलवाल के शब्दों में-

'फिल्म इंडस्ट्री से जुड़े लोगों की सोच पर बाजार का प्रभाव किस कदर हावी हो चला है, उसका सबूत हैं छोटे बजट की वे हॉट फिल्में, जिनमें कहानी की मांग पर कपड़े उतारने वाली नायिकाएं अपनी देह दिखाती नजर आ रही हैं। फिल्म

निर्देशकों में भी विवाहेत्तर सम्बन्धों, 'लेस्बियन' और 'जिगोलो' से जुड़े बोल्ड विषयों को परदे पर भुनाने की होड़ मची हुयी है। फिल्मी बाजार 'सी' और 'डी' ग्रेड की ऐसी हिन्दी फिल्मों से पट गया है, जहाँ नायिकाओं को अब कहानी की मांग का ख्याल कर कपड़े उतारने की जरूरत ही नहीं पड़ती है। अब कहानियाँ ही इस तरह से विकसित की जाती हैं, जिसमें नायिकाओं के नग्न होते दृश्यों के लिए ज्यादा से ज्यादा गुंजाइश बन सके।'[26]

हालांकि 'सेक्स' कोई ऐसा विषय नहीं है, जो पहली बार फिल्मों में अवतरित हुआ हो। हॉलीवुड की फिल्मों के सम्बन्ध में तो सत्यजीत रे ने बहुत पहले ही लिखा था- 'आदमी के जीवन और समाज की बहुतेरी घटनाएँ और समस्याएँ आज फिल्मों में स्थान पा रही हैं, जो कुछ दिन तक पहले 'लोग स्वीकार नहीं करेंगे' या 'फिल्म में नहीं चल सकेंगी' की धारणा का पर्याय थीं। स्त्री-पुरुषों के दैहिक सम्बन्धों का वर्णन रूपात्मक साहित्य के लिए कोई नई चीज भले ही न हो, परन्तु फिल्मों में कुल मिला कर अभी-अभी इनकी शुरूआत हुयी है। आज यदि कोई विदेश जाकर चलचित्र समारोह देखे, तो उसे लग सकता है कि नारी-पुरुष का यौन सम्बन्ध ही आधुनिक चलचित्रों की एकमात्र विषयवस्तु है।'[27]

हॉलीवुड के नक्शेकदम पर चलने की कोशिश में बॉलीवुड मात्र उसकी भौंडी अनुकृति बन कर रह गया है। हैरानी की बात यह है कि इसके लिए उसके मन में न कोई शर्म है और न ही झिझक। लघु फिल्मों के निर्देशक और निर्माता मुकेश आहूजा इन 'सी' और 'डी' ग्रेड फिल्मों के अर्थशास्त्र को समझाते हुए कहते हैं-

'हिन्दी फिल्मों के दर्शकों की खास बात यह है कि या तो वे किसी सुपर स्टार को देखना पसंद करते हैं या फिर सेक्स और नंगेपन को। इसलिए छोटे बजट की फिल्मों में सेक्स और नंगेपन को समुचित जगह देनी पड़ती है। इन फिल्मों के कलाकार भी नए होते हैं, जिनसे डेट मिलने में परेशानी नहीं होती और फिल्म कम समय में बन कर तैयार हो जाती है। फिल्म सस्ती होती है, जिससे वितरक भी आसानी से मिल जाते हैं। एक करोड़ और कई बार उससे भी कम बजट की ये फिल्में दो से तीन करोड़ का व्यापार आसानी से कर लेती हैं। पहले ये फिल्में सिर्फ छोटे शहरों में अच्छी चलती थीं, लेकिन अब मुम्बई जैसे बड़े शहरों में ये फिल्में मल्टीप्लेक्स थियेटरों में प्रदर्शित होती हैं और अच्छी खासी चल लेती हैं। ऊपरी तौर पर देखने में तो यही लगता है कि इसमें सभी का फायदा है।'[28]

विज्ञापन के इस युग में जहाँ धर्म भी एक बिकाऊ चीज की तरह इस्तेमाल हो रहा हो, मानवीय मूल्यों की बात नक्कारखाने में तूती से ज्यादा क्या अहमियत पाएगी।

शायद यही कारण है कि फिल्मकार सामाजिक दायित्वों से दूर ऐसी जगह जा बैठे हैं, जहाँ से उन्हें सिर्फ और सिर्फ पैसा ही नजर आता है। ऐसे में क्या उचित और क्या अनुचित, उन्हें तो 'बाक्स आफिस' के रेले से मतलब है, चाहे वह सीना खोलने से आए या जांघें उघाड़ने से।

बौद्धिक वर्ग की नजर में फिल्मों का यह ट्रेंड एक फैशन की ही तरह है। हर फैशन का एक दौर होता है, एक समय होता है। जाहिर सी बात है कि इसका भी एक समय है और इसे भी बदलना होगा। इसे बदलने का काम वह युवा पीढ़ी ही कर सकती है, जिसमें रचनात्मकता और मौलिकता का समुद्र ठाठें मार रहा हो। आने वाले समय को उस पीढ़ी और उस सोच का इन्तजार है। देखने वाली बात यह है कि यह इंतजार कितना लम्बा खिंचता है !

सन्दर्भ सूची

1. डॉ0 रामविलास शर्मा, 'भाषा और समाज', पृष्ठ-30
2. 'भाषा और समाज', पृष्ठ-31
3. डॉ0 रामविलास शर्मा, 'भाषा और समाज', पृष्ठ-434
4. डॉ0 नगेन्द्र, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ-11
5. 'हिन्दी-उर्दू और हिन्दुस्तानी', पृष्ठ-26
6. वही
7. 'भाषा और समाज', पृष्ठ-330
8. वही
9. 'कर्बला', पृष्ठ-36
10. वही, पृष्ठ-39
11. वही, पृष्ठ-41
12. 'हिन्दी भाषा पर फारसी और अंग्रेजी का प्रभाव', पृष्ठ-343
13. लेखक द्वारा लिये गये साक्षात्कार पर आधारित
14. वही
15. वही

16. वही

17. वही

18. कितना बदला फिल्मी लेखन, 'सहारा समय', दिनांक 12.02.2005, पृष्ठ-17

19. लेखक द्वारा लिये गये साक्षात्कार पर आधारित

20. 'भारतीय सिने सिद्धान्त', पृष्ठ-83

21. वही, पृष्ठ-61

22. 'उसके बाद', पृष्ठ-7

23. कितना बदला फिल्मी लेखन, 'सहारा समय', दिनांक 12.02.2005, पृष्ठ-17

24. 'चलचित्र : कल और आज', पृष्ठ-11

25. लेखक द्वारा लिये गये साक्षात्कार पर आधारित

26. घटिया फिल्मों का बढ़ता बाजार, 'सहारा समय', दिनांक 25.06.2005, पृष्ठ-41

27. 'चलचित्र : कल और आज', पृष्ठ-9

28. घटिया फिल्मों का बढ़ता बाजार, 'सहारा समय', दिनांक 25.06.2005, पृष्ठ-41

अध्याय-2

नाटक और सिनेमा : एक क्रमिक अध्ययन

'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यत्र दृश्यते।।'[1]

(ऐसा कोई ज्ञान नहीं, ऐसा कोई शिल्प नहीं, ऐसी कोई विद्या नहीं, ऐसी कोई कला नहीं, ऐसा कोई योग नहीं और ऐसा कोई कर्म नहीं जो नाटक में न देखा जा सके।)

नाटक की उत्पत्ति 'नट' धातु से मानी गयी है। 'नट' से ही बने 'नाट्यम' शब्द का अर्थ नाचना, अनुकरणात्मक चित्रण करना, स्वांग करना, हाव-भाव से प्रदर्शन और अभिनय करना माना जाता है। इस प्रकार 'नाटक' शब्द का अर्थ है वह काव्य रचना, जिसका अभिनय किया जा सके।

'नाटक को आचार्यो ने रूपक का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रकार माना है। यह एक ऐसी विधा है, जिसका सृजन लिपिबद्ध होता है लेकिन प्रस्तुति प्रदर्शन द्वारा। नाटक दृश्य-साहित्य की उत्कृष्ट विधा है। सौन्दर्य से आनन्द को उत्पन्न करके सत्य-दर्शन की ओर प्रेक्षकों (दर्शकों) को आकर्षित करना नाटक का उद्देश्य होता है। प्राचीन आचार्यो ने लौकिक दृष्टि से 'काम' और 'अर्थ' पर विशेष बल दिया है। प्रायः संस्कृत नाटकों में 'अर्थ' अर्थात् आनन्द क्रीड़ा के दृश्य मिलते हैं। भरत मुनि के अनुसार नाटक का उद्देश्य चार पुरुषार्थों यथा 'धर्म', 'अर्थ', 'काम' और 'मोक्ष' की प्राप्ति करना है। इनमें से जितने अधिक पुरुषार्थो की उपलब्धि होती है, वहाँ नाट्य लेखक उतना ही अधिक सफल माना जाता है।'[2]

नाटक की मूल चेतना 'रस' है। इसमें 'अनुकरण' पर बल दिया जाता है। अनुकरण का अर्थ है किसी कार्य को फिर-फिर करना। संस्कृत के महाकवि कालिदास ने लिखा है –

'नाट्यंभिन्नयेर्जनस्य बहुधात्येकं समाराधनन्।'[3]

(भिन्न-भिन्न रुचि वाले लोगों के लिए प्रायः नाटक ही ऐसा मनोरंजन है, जिसमें सबको समान रूप से आनन्द मिलता है।)

भारत में नाट्य परम्परा की शुरूआत ईसा पूर्व 5वीं सदी से मानी जाती है, जब भरत मुनि ने अपने ग्रन्थ 'नाट्य शास्त्र' की रचना की थी। 'नाट्य शास्त्र' को

नाट्य परम्परा का सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। भरत मुनि ने नाटक की परिभाषा करते हुए लिखा है-

'नाटक में दैत्य और देवताओं दोनों के भले-बुरे कार्यों, भावों, चेष्टाओं का समावेश होता है। यह नाट्य तीनों लोकों के भावों का अनुकीर्तन है। इसमें संसार की अनेक प्रकार की अवस्थाओं का अनुकरण होता है। इसमें उत्तम, मध्यम और अधम सभी प्रकार के चरित्रों का दर्शन होता है। सातों द्वीपों के राजाओं और कुटुम्बियों के कार्यों का अनुकरण जहां देखने को मिलता है, वही नाटक है।'[4]

भरत मुनि के अनुसार नाटकों में भले ही 'रस' को वरीयता दी गयी है, किन्तु वह लोकमंगल की भावना के तहत लिखा जाता है और 'सत्य की प्रतिष्ठा' उसका परम् लक्ष्य होता हैं। 'सामान्य जीवन में विभिन्न प्रकार की अनुभूतियां जिस प्रकार हमारी जीवन दृष्टि का विस्तार करती हैं, हमें व्यवहार का दर्शन सिखाती हैं, हमारी अन्तश्चेतना का परिष्कार करती हैं, समाज को भी परिष्कृत बनाती हैं, लोक में मंगल की प्रतिष्ठा में सहायक होती हैं, हमारी जीवन-शक्ति का संवर्धन करती हैं, हमें नयी दिशाओं की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देती हैं, नाट्यकला भी उसी प्रकार अपने अनुशीलन से हमारे ऊपर ये सभी प्रकार के प्रभाव उत्पन्न करती है।'[5]

नाटक की उत्पत्ति

यूं तो नाटक की उत्पत्ति के संबंध में अनेक मत प्रचलित हैं, किन्तु उसमें से भरत मुनि का मत सर्वाधिक मान्यता प्राप्त है। भरत मुनि ने अपने ग्रन्थ 'नाट्य शास्त्र' के प्रथम अध्याय में लिखा है- 'आत्रेय आदि ऋषियों ने भरत मुनि से प्रश्न किया कि नाट्यवेद किस प्रकार उत्पन्न हुआ? किसके लिए इसकी आवश्यकता हुई? और कौन-कौन से इसके अंग है? इसका आधार क्या है और इसका प्रयोग किस प्रकार किया जाए?'

यथा-

'नाट्यवेदः कथं चायमुत्पन्नः कस्य वा कृते?
कत्यंग? किं प्रमाणश्च? प्रयांगश्वास्य कीदृशः।'[6]

भरत मुनि के अनुसार- 'एक बार वैवस्त मनु के दूसरे युग में लोग बहुत दुःखित हुए। इस पर इन्द्र तथा दूसरे देवताओं ने जाकर बह्मा' जी से प्रार्थना की कि आप मनोविनोद का कोई ऐसा साधन उत्पन्न कीजिए, जिसके द्वारा सबका चित्त प्रसन्न हो सके। इस पर ब्रह्मा जी ने चारों वेदों को बुलाया और उन चारों की सहायता से उन्होंने पंचम वेद 'नाट्य शास्त्र' की रचना की। इस पंचम वेद के लिए 'ऋग्वेद'

से संवाद, 'सामवेद' से गान, 'यजुर्वेद' से नाट्य और 'अर्थर्ववेद' से रस लिया गया'।

यथा-

'सर्व शास्त्रार्थ सम्पन्नम् सर्वशिल्प प्रदर्शकम्।
नाट्याख्यं पंचवेदं ऐतिहासं करोम्यहम्।।
एवं संकल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन्।
नाट्यवेदं ततश्चके चतुर्वेदांग सम्भवम्।।
जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्सामम्ये गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।'[7]

डॉ0 विश्वनाथ मिश्र ने नाटक के जन्म की कथा को बताते हुए लिखा है- 'ब्रह्मा की इस रचना की सम्मोहिनी के संवर्धन हेतु शिव ने अपना नृत्य तांडव और पार्वती ने लास्य प्रदान किये। विष्णु ने भारती, कौशिकी, आरभटी और सात्वती वृत्तियां जोड़ीं। नाटक के रंगमंच पर प्रदर्शन के लिए पुरुष के साथ स्त्रियों की भी अपेक्षा थी, अभिनेताओं के साथ अभिनेत्रियों का होना भी आवश्यक था। भरत मुनि के निवेदन पर ब्रह्मा ने अपने मन से अप्सराओं की रचना की और फिर उन्हें भरत को सौंप दिया। कालान्तर में भरत को स्वाति जैसे भाण्ड वादक और नारद जैसे गायक का भी सहयोग मिला। इस प्रकार अनेक विधाओं, कलाओं आदि के सहयोग को लेकर नाट्यकला का आरम्भ हुआ।'[8]

ब्रह्मा जी ने नाटक की व्यापक परिधि एवं विवधता बतलाते हुए कहा कि- 'नाट्य में सम्पूर्ण त्रैलोक्य के भावों का अनुकरण होता है। कहीं धर्म है तो कहीं खेल, कहीं अर्थ ज्ञान है तो कहीं शान्ति, कहीं हास्य है तो कहीं युद्ध, कहीं काम का वर्णन है तो कहीं वध का।'

यथा-

'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तम।
क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीड़ा क्वचिदर्थः क्वचिच्छ्रमः।
क्वचिद् लास्य क्वचियुद्धं क्वचिदकामः क्वचिद्धधः।।'[9]

इस कथा से तीन बातों का पता चलता है। एक तो यह कि 'नाट्य शास्त्र' की सृष्टि वेदों के ही आधार पर हुई तथा नाट्य रचना का प्रारम्भ वैदिक काल में ही हो चुका था। दूसरे यह वेदों की भांति सम्माननीय भी है। तीसरे, इसका निर्माण चार तत्वों से हुआ है- आख्यान, गान, अभिनय और रस। नाटकों की रचना गान

एवं नृत्य से हुई है। नाच तो शारीरिक चेष्ठा के अन्तर्गत आ जाता है और गान काव्यों के बिना अलभ्य है। संवाद एवं कथोपकथन नाटक की सबसे बड़ी विशेषता है। इस तत्व के अभाव में कोई रचना नाटक की कोटि में नहीं आ सकती।"[10]

नाटक के प्रकार

संस्कृत में नाटकों को दृश्य काव्य की श्रेणी में रखा गया है। दृश्य काव्य से तात्पर्य है काव्य की ऐसी रचनाएं, जिसमें अलग-अलग प्रकार के दृश्यों (घटनाओं) को संयोजित किया गया हो। भारतीय आचार्यों ने नाटक को रुपक और उपरुपक दो मुख्य भागों में विभक्त किया है। रूपकों और उपरूपकों के भी अलग-अलग भेद हैं। अधिकांश विद्वानों ने नाट्य रूपों के जिन भेदों का उल्लेख किया है, वे इस प्रकार हैं- नाटक, प्रकरण, नाटिका, समवकार, ईहामृग, डिम, व्यायोग, उत्सृष्टिकांक, प्रहसन, भाणं और वीथी।

प्राचीन काल में जहां नाटक खुले मंच पर खेले जाते थे, वहीं आज प्रकाश और ध्वनि के प्रभावों से सुसज्जित करके उन्हें सुविधापूर्ण प्रेक्षागृहों में सम्पन्न किया जाता है। इसके साथ ही नई तकनीक और माध्यमों ने भी नाटकों को काफी हद तक प्रभावित किया है। इससे जहां नाट्य प्रदर्शनों की प्रभावोत्पादकता में वृद्धि हुयी है, वहीं उनका एक नया स्वरूप भी देखने को मिला है। वर्तमान में नाटक के मुख्य रूप से तीन प्रकार देखने को मिलते है। 1. रंगमंचीय नाटक, 2. रेडियो नाटक, 3. दूरदर्शन नाटक (टी.वी. ड्रामा)। फिल्म।

1. रंगमंचीय नाटक

रंगमंच पर दर्शकों के समक्ष खेले जाने वाले नाटकों को रंगमंचीय नाटक के नाम से जाना जाता है। सामान्यतः ये नाटक दो अथवा ढ़ाई घंटे की अवधि के होते हैं। चूंकि ये नाटक एक ही स्थान पर सम्पन्न किए जाते हैं, इसलिए इनमें इस प्रकार की कहानी का चयन किया जाता है, जो कम से कम घटनाओं द्वारा प्रदर्शित की जा सके। इस प्रकार के नाटकों में मुख्य घटनाओं को ही मंच पर घटित होते हुए दिखाया जाता है, जबकि गौण तथा कम महत्व की घटनाएं सूचनात्मक रूप में दर्शकों को बता दी जाती हैं।

रंगमंचीय नाटकों को अभिनेता का माध्यम माना जाता है। इसमें अभिनेता को अपनी पूरी अभिनय क्षमता दिखाने का अवसर प्राप्त होता है, इसीलिए इनमें नाटकीयता का पुट अत्यधिक मात्रा में पाया जाता है। इस प्रकार के नाटकों की दूसरी प्रमुख विशेषता है- काव्यात्मक भाषा। नाटकों के पात्र अपने संवादों में काव्यात्मक भाषा का प्रयोग करते हैं और खूब लच्छेदार भाषण देते हैं। प्रसिद्ध नाटककार स्वदेश दीपक द्वारा रचित नाटक 'सबसे उदास कविता' का उदाहरण द्रष्टव्य है-

'अपूर्वा ➤ हां, डॉ0 सुकांत। औरत सबसे उदास कविता होती है। लगातार संघर्ष करता लेकिन लगातार पराजित होता मजदूर सबसे उदास कविता है। खेतों में शिशु को जन्म देती मां सबसे उदास कविता है। निर्धनता सबसे उदास कविता है। बातूनी लड़की का अचानक चुप हो जाना सबसे उदास कविता है। मर रहे आदमी के बोले हुए अंतिम वाक्य के जब अंतिम शब्द याद रह जाते हैं, वह सबसे उदास कविता है।'[11]

X X X

'आहुजा ➤ मत बोला कर इतना। जिस दिन थाने.....

अपूर्वा ➤ सामूहिक बलात्कार करोगे? गैंगरेप। जैसे उस आदिवासी औरत से किया था। आपकी वाइफ तो इतनी सुंदर है। बदबू नहीं आई उस बदसूरत, निर्धन औरत से? सुना है आप लोगों को बहुत मज़ा आता है एक असहाय औरत का रेप करने में। बढ़ जाता है कुछ इंच पुरुष होने का दंभ और दर्प।'[12]

रंगमंचीय नाटकों का एक अन्य स्वरूप है एकांकी। एकांकी से तात्पर्य है एक अंक में समाप्त होने वाले लघु नाटक। इसमें प्रायः किसी छोटी सी घटना को उठाया जाता है और दर्शकों के सामने प्रस्तुत किया जाता है। सीमित अवधि, कम पात्र और कम लागत के कारण ये आसानी से मंच पर प्रस्तुत किये जा सकते हैं, इसलिए एकांकी बड़े नाटकों की तुलना में ज्यादा लोकप्रिय हैं।

2. रेडियो नाटक

'रेडियो नाटक देखा नहीं जा सकता, किन्तु सुनने से ही एहसास की दुनिया में आ जाता है। यह बात बहुत समझने की है, जो मात्र सुना जा सकता है और जो सुनने मात्र से देखा जा सकता है उसमें वही सब कुछ नहीं है जो दिखाया जा रहा है बल्कि बहुत कुछ योगदान उस अदृश्य का है, जो हमारी कल्पना में विद्यमान है। यह कल्पना सुन कर मन की आंखें पांखें खोलती हैं। विचार या कल्पना का विस्तार किसी छोटी-बड़ी स्क्रीन पर नहीं होता, बल्कि मंच सजता है, मन में। ...उसकी अनुभूति की कोई सीमा नहीं, कोई बंधन नहीं है, कोई गतिरोध नहीं है। जहां जब जिस समय जिस जगह जाना चाहे, श्रोता जा सकता है। धरती पर, पानी में, आकाश पर, पाताल में, जहां तक वह चाहे उड़ान भरे। कहीं किसी विजुअल दृश्य के लिए कैमरे की आवश्यकता नहीं है।'[13]

रेडियो आवाज का माध्यम है, इसीलिए रेडियो नाटक अन्य नाटकों से बिलकुल इतर होता है। रंगमंच में पात्र के हाव-भाव द्वारा बहुत सी बातें कह दी जाती हैं। किन्तु रेडियो में पात्रों के हाव-भाव के लिए भी आवाज का सहारा लेना पड़ता है। पात्रों के चलने, दरवाजा खुलने-बंद होने, कोई भी चीज गिरने, हवा चलने, भीड़-भाड़ दिखाने व गाड़ी चलने आदि तमाम तरह की बातों के लिए भी ध्वनियों की सहायता ली जाती है। इसके अतिरिक्त रेडियो नाटक में समयावधि का भी बहुत ध्यान रखना पड़ता है। ज्यादातर रेडियो नाटक 15 मिनट के कार्यक्रम में प्रस्तुत किये जाते हैं। उसमें भी 2 मिनट का समय उद्घोषक के लिए निकाल दीजिए तो नाटक के लिए बचते हैं सिर्फ 13 मिनट। 13 मिनटों में ही लेखक को सारी बात कहनी होती है। पात्रों का परिचय, समस्या की स्थापना, उलझाव और फिर उसका समाधान सिर्फ 13 मिनटों में होना होता है, इसीलिए रेडियो नाटक लेखन साधारण नाटक की तुलना में कठिन कार्य माना जाता है।

रेडियो नाटकों के संदर्भ में तीसरी सबसे महत्वपूर्ण बात है उसकी भाषा। चूंकि रेडियो सुनने वालों में अनपढ़ मजदूर से लेकर विद्वान वर्ग तक के लोग शामिल होते हैं, इसलिए उसमें ऐसी भाषा का प्रयोग किया जाता है, जो हर वर्ग के लिए ग्राह्य हो। ज़ाकिर अली 'रजनीश' द्वारा रचित हास्य रेडियो नाटक 'ख्याली पुलाव' की कुछ पंक्तियां उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं-

बच्चन ➢ पापा, हमें रसगुल्ला दिलाइए न।

रहमत ➢ अरे बेटे, ये तो रसगुल्ली हैं रसगुल्ली। रसगुल्ले तो बड़े-बड़े और मोटे-मोटे लखनऊ में मिलते हैं।

अच्छन ➢ पापा, समोसे।

रहमत ➢ अरे बेटे, ये तो समोसी हैं समोसी। समोसे तो बड़े-बड़े और मोटे-मोटे लखनऊ में मिलते हैं।

कई बच्चे ➢ (एक साथ), पापा, हमें भूख लगी है।

रहमत ➢ चलो, पहले पानी पीते हैं, फिर कोई बढ़िया चीज लेकर खाएंगे।

बच्चन ➢ पापा, मेरे पेट में दर्द हो रहा है

रहमत ➢ क्यों? पेट में क्यों दर्द हो रहा है?

बच्चन ➢ मुझे नहीं मालूम।

रहमत ➤ ओह, ये तो गड़बड़ हो गया। ....अच्छा बच्चो, तुम लोग यहीं पर ठहरो, मैं भैया को दवा दिला कर लाता हूँ।

(दुकानदारों का शोर। तेज-तेज चलने की आवाज।)

रहमत ➤ देखो बेटे, डाक्टर साहब जो कुछ पूछें, उन्हें सब बता देना।

अच्छन ➤ पर पापा, मै कैसे बताऊं। दर्द तो बच्चन के पेट में हो रहा है।

रहमत ➤ क्या? पर तू मेरे साथ क्यों आया?

अच्छन ➤ मैं क्या करूं? आप ही तो मेरा हाथ पकड़ कर ले आए।

3. दूरदर्शन नाटक (टी.वी. ड्रामा)/फिल्म

सन् 1965 में भारत में टेलीविजन की नियमित सेवा प्रारम्भ होने के एक लम्बे अंतराल के बाद 07 जुलाई 1984 को भारत का पहला दूरदर्शन नाटक (धारावाहिक) 'हम लोग' प्रारम्भ हुआ। दूरदर्शन नाटक (टी.वी. ड्रामा) नाटक का ही विकसित रूप है। नाटक में जहां दर्शक एक ही मंच पर सारी कहानी देखने को मजबूर होते हैं, वहीं दूरदर्शन नाटक/फिल्म की कहानी अलग-अलग स्थानों पर होने वाली सम्पूर्ण घटनाओं सहित कहीं भी बैठ कर देखी जा सकती है।

मनोहर श्याम जोशी के शब्दों में, 'रंगमंच' में एक यह भी सीमा होती है कि बहुत बड़ी-बड़ी चीजें नहीं दिखाई जा सकतीं। भव्य से भव्य मंच पर पानीपत की लड़ाई या एवरेस्ट विजय या सागर में 'टाइटैनिक' जहाज का डूबना जैसे दृश्य नहीं दिखाए जा सकते। उतना ही दिखाया जा सकता है, जितना उन सेटों में हो सकता है। बाकी घटनाओं का सिर्फ जिक्र किया जाता है कि वह कहीं और हो रही हैं या हो चुकी हैं। फिल्म और टी.वी. में ऐसी कोई सीमा नही है। आप चाहें जितने सेट बना सकते हैं और चाहे जितने बाहरी लोकेशनों पर जा सकते हैं। पात्रों को ले जाइए, कैमरा ले जाइए और लोकेशन पर शूट कर लाइए और फिर सबको जोड़ कर दिखा दीजिए। एक तरह से दर्शक के लिए फिल्म की खासियत ही बन जाती है कि उसमें घटनास्थल बड़ी तेजी से बदलता रहता है।'[14]

नाटक और फिल्म मोटे तौर पर एक ही जैसे लगते हैं, किन्तु गहराई से देखें तो पता चलता है कि एक पतली रेखा है, जो इन दोनों को अलग करती है। कुमुद नागर से अनुसार- 'टी.वी. नाटक मुख्य रूप से स्टूडियो में वहां के साधनों से तैयार किया जाता है, जबकि फिल्म तथा फिल्मी तकनीक से बनाए गये धरावाहिकों आदि

में इस बंदिश की कोई ज़रूरत नहीं होती। फिल्म निर्माण में आमतौर से और मुख्य रूप से एक ही कैमरे का प्रयोग होता है, जबकि टी.वी. में कम से कम दो या तीन और आवश्यकतानुसार या सुविधा होने पर पाँच से सात कैमरे तक एक साथ इस्तेमाल किए जाते हैं। फिल्म की शूटिंग और प्रोसेसिंग के बाद संपादक उसे काट कर, जोड़ कर विभिन्न शाट्स का क्रम बना कर फिल्म को गति, निरंतरता और अर्थ प्रदान करता है, जबकि टी.वी. नाटक का संपादन, प्रोड्यूसर के निर्देश पर, प्रोडक्शन पैनल से लगातार किया जाता रहता है, जिसे विजन मिक्सिंग कहते हैं।

'टी.वी. नाटक के सजीव प्रसार या रिकार्डिंग के समय निर्देशक, कलाकार या कैमरामैनों के साथ सेट पर नहीं रहता, जैसा कि फिल्म की शूटिंग में होता है, बल्कि यह प्रोडक्शन पैनल से सभी कैमरामैनों का संचालन, संपादन, ध्वनि प्रभाव या संगीत के प्रयोग के लिए लगतार निर्देश देता रहता है क्योंकि टी.वी. नाटक में यह सभी कार्य एक साथ चलते रहते हैं। फिल्म की स्क्रीन विशालकाय होने के कारण, 'लांग शॉट्स' के द्वारा अपना अर्थ और सुंदरता दर्शकों तक पहुंचाने में सक्षम है, जबकि टी.वी. स्क्रीन का छोटा आकार 'लांग शॉट्स' की सुंदरता और सार्थकता को भी छांट देते हैं। इसीलिए टी.वी. को क्लोजअप का माध्यम माना गया है।[15]

कैमरे की माया

रंगमंच पर नाटक देखते समय हमेशा दर्शक और पात्रों के बीच में एक निश्चित दूरी बनी रहती है। रंगमंच पर अभिनय कर रहे अभिनेता के चेहरे की भाव-भंगिमाएं समझ पाना दर्शक के लिए दुरूह होता है। इसके अतिरिक्त अभिनेता को अपने दुःख-दर्द एवं किसी के कान में कहने वाली बातें भी चीख-चीख कर कहनी पड़ती हैं, जिससे एक प्रकार का बनावटीपन झलकने लगता है।

दर्शक और अभिनेता के बीच कैमरे की उपस्थिति से बात एकदम बदल जाती है क्योंकि कैमरा कलाकार के चेहरे के सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को दर्शक तक ले जाने में सक्षम होता है। कलाकार के चेहरे पर उभरने वाली चिंता की लकीरें, आँख से टपकने वाले आँसू, यहाँ तक कि सिर के इकलौते सफेद बाल का हाल भी दर्शकों को बताने में कैमरा सक्षम होता है।

कैमरा सूक्ष्मदर्शी ही नहीं, दूरदर्शी की भी भूमिका निभाता है। वह दूर क्षितिज के पास उगते हुए सूरज, आसमान में उड़ती चिड़िया, हिमालय की चोटी पर जमी बर्फ की चमक, दूर कहीं गूंजती बिजली की कड़क, समुद्र के भीतर की छोटी से छोटी हलचलों, यहाँ तक कि दूर से दूर रखी वस्तुओं के सूक्ष्मतम ब्यौरों को भी दिख सकता है।

कैमरा एक जादूगर की तरह भी कार्य करता है। वह छोटी सी मक्खी को हाथी से भी बड़ा बना कर दिखा सकता है। वह हाथी को चींटी से भी छोटा बना सकता है। वह पेड़ों को बोलते हुए और नदियों को गरजते हुए दिखा सकता है। कैमरा समुद्र के पानी को लोटे में समाता हुए और आँख से निकले हुए आसुंओं से पूरे संसार को डूबता हुआ दिखा सकता है। कैमरे के बारे में यहाँ तक कहा जा सकता है कि जो कुछ आप सोच भी नहीं सकते, वह सब कुछ कैमरा करके दिखा सकता है।

शूटिंग के समय कैमरा दर्शक के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है। निर्देशक को अगर लगता है कि दर्शक को कलाकार के सिर पर टपकी चिड़िया की बीट दिखानी है, तो कैमरा उसे भी दिखा सकता है। अगर निर्देशक को लगता है कि कलाकार के पैरों के पास से उसकी रिकार्डिंग की जाए, तो वह भी सम्भव है। यहाँ तक कि कैमरा ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर, दाएँ से बाएँ, बाँए से दाएँ, आगे से पीछे, पीछे से आगे जाते हुए कुछ भी दिखा सकता है। संक्षेप में यदि कहें कि किसी भी फिल्म को देखने लायक कैमरा ही बनाता है, कलाकार नहीं, तो ज्यादा उचित होगा। फिल्म/दूरदर्शन धारावाहिक हमेशा छोटे-छोटे टुकड़ों में आगे-पीछे बेतरतीबी से फिल्माए जाते हैं, किन्तु एडिटिंग के बाद वे दृश्य इस तरह से दिखते हैं कि जैसे सारी घटनाएं एक क्रम में लगातार घटी हों।

कैमरे का जन्म

फिल्म के जन्म की कहानी प्रारम्भ होती है लुमिएर बंधुओं (आगस्ट और लुई) के 'इंटरमिटेंट मोशन मैकेनिज्म' (सविराम गति प्रक्रिया) के सिद्धान्त से। इस सिद्धान्त के अनुसार जब कोई भी दृश्य आँखों के सामने आता है, तो वह सामने से हटने के बाद भी कुछ समय के लिए आँखों में बना रहता है। इसीलिए अगर किसी एक क्रिया के चित्रों को लगातार एक के बाद एक आँखों के सामने चलाया जाए, तो आँख उन्हें अलग-अलग चित्रों के बजाय चलते-फिरते चित्र के रूप में देखती है।

सन् 1872 में वीडियो कैमरे के आविष्कार की नींव उस समय पड़ी, जब कैलिफोर्निया के गवर्नर स्टैनफोर्ड यह जानने की कोशिश कर रहे थे कि घोड़े के दौड़ते समय क्या कोई क्षण ऐसा भी आता है, जब उसके चारों पैर हवा में होते हैं। उन्होंने एक युवा इंजीनियर की सहायता से एक कतार में 24 कैमरे लगाए और उन्हें धागों से इस तरह जोड़ा कि घोड़े के दौड़ते समय एक के बाद एक धागा टूटे और कैमरे के शटर खुल कर बंद हो जाएं।

इस तरह से शुरू हुआ दृश्यों को हूबहू फिल्माने का प्रयास 1882 तक आते-आते एक निश्चित मोड़ पर जा पहुंचा, जब मेब्रिज ने अपने आविष्कार

'गतिशील वस्तुओं को छायांकित करने और दर्शाने की पद्धति' का पंजीकरण कराया। इसी के साथ-साथ एडीसन ने भी अपने आविष्कार 'काइनेटोस्कोप' का पंजीकरण कराया, जो इसी उद्देश्य से बनाया गया था।

अपने अभिनव प्रयोगों से लुमिएर बंधुओं ने अंततः 28 दिसम्बर, 1895 को चलते-फिरते दृश्य दिखाने में सफलता प्राप्त कर ली। उन्होंने पहली बार बगीचे में पानी डालते आदमी, स्टेशन पर आती रेलगाड़ी और फैक्ट्री से बाहर निकलते जनसमूह का फिल्मांकन प्रदर्शित कर सिनेमा के इतिहास में अपना सर्वाधिक गौरवपूर्ण नाम दर्ज कर दिया।

सन् 1896 में एक फ्रांसीसी जादूगर जार्जेस मेलीज ने अपनी बाजीगरी के लिए कैमरे का सहारा लिया। उसने एक फिल्म बनाई, जिसका नाम था 'कई सिर वाला आदमी'। उसने दो अलग-अलग फिल्मों के टुकड़ों को जोड़ कर सम्पादन कला की नींव रखी। फिल्मों में विशिष्ट प्रभाव (स्पेशल इफेक्ट) की शुरुआत सन् 1902 में अचानक हो गयी। दरअसल हुआ यूं कि तकनीकी खराबी आ जाने के कारण मेलीज की खींची हुई फिल्म में कुछ गड़गड़ी हो गयी, जिससे सड़क पर चलते हुए पुरुष अचानक महिलाओं में बदल गये और गाड़ियाँ हवा में गायब हो गयीं। इससे प्रभावित होकर मेलीज ने 'फास्ट एण्ड स्लो मोशन', 'मल्टिपल एक्सपोजन', 'मैटे इफेक्ट', 'स्टाप मोशन', 'डिजाल्व' व 'फेड' आदि विशेष प्रभावों की खोज की।

फिल्म में कहानी कहने की विधा की शुरुआत से ही सिनेमा की भाषा के निर्माण में जिस व्यक्ति का अतुलनीय योगदान है, वह है अमेरिकी निर्देशक डी0डब्ल्यू ग्रिफिथ। कैमरा और सम्पादन (एडिटिंग) के खास-खास उपयोग, जोकि आज फिल्म में अपरिहार्य रूप से उपयोग में लाए जाते हैं, उन सभी का आविष्कार प्रायः ग्रिफिथ ने किया। ग्रिफिथ ने ही सबसे पहले पहचाना कि सिनेमा की मूलभूत इकाई सीन नहीं शॉट है। उन्होंने सबसे पहले दृश्यों को काट कर शॉटों में विभाजित करना शुरू किया और फिर उनको जोड़ कर दृश्यों का निर्माण किया। इससे सिनेमा में एक नई जान आ गयी। सुप्रसिद्ध फिल्मकार सत्यजीत रे इसे इस तरह व्याख्यायित करते हैं-

'ग्रिफिथ की समझ में यह बात पहले ही आ गयी थी कि एक ही सांस में जैसे मुंह से कहानी नहीं कही जाती या कथा साहित्य में भी जिस प्रकार वाक्य पर वाक्य सजाए जाते हैं, सिनेमा की कहानी को भी खंड-खंड कर दृश्यों और शॉटों में विभाजित कर कहना पड़ता है। प्रत्येक शॉट एक वाक्य या एक शब्द हुआ करता है। शब्दों की तरह शॉटों की भाषा हुआ करती है। यह भाषा फिल्म की एकान्तिक भाषा है, दृश्य-वस्तु की भाषा है। कथा साहित्य में जिस प्रकार अनुच्छेदों-परिच्छेदों में विभाजित

करने की आवश्यकता पड़ती है, सिनेमा की कहानी को भी उसी प्रकार 'मिक्स' या 'फेड' जातीय विशेष यान्त्रिक एवं रसायनिक उपायों के सहारे खण्ड-खण्ड में विभाजित किया जा सकता है।'[16]

पटकथाकार होने के लिए

'कुछ अनुभव शब्दों से परे होते हैं, कुछ दृश्यों से परे, इसलिए फिल्म लेखन में उन्हें शब्दों, दृश्यों और ध्वनियों में बांधना पड़ता है। शब्दहीन दृश्य से भरा हुआ सन्नाटा कभी-कभी जो बात कह देता है, वह शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। काव्य की बिम्ब क्षमता, शब्दों की विचार क्षमता और दृश्य की अनुभव-क्षमता के संयोग से एक सिने दृश्य आकार पाता है। काव्य क्षमता को कैमरा, दृश्य क्षमता को निर्देशक और विचार क्षमता के साथ-साथ सम्पूर्ण अनुभव-क्षमता की अभिव्यक्ति लेखक करता है। इसलिए कोई भी सार्थक फिल्म पहले लिखी जाती है, तब बनाई जाती है।'[17]

एक सार्थक फिल्म/धारावाहिक लिखने के लिए पटकथा-लेखक का सृजनात्मक होना अनिवार्य है। सृजनात्मक व्यक्ति वही है, जो एक घटना या उद्दीपन (Stimuli) को गुणात्मक ग्रहणशीलता की दृष्टि से देखे, यानी एक उद्दीपन के अनेक विकल्पों या रूपों, कोणों, आयामों का अनुसन्धान करे। वस्तु या क्रिया को देख कर, उसके भीतर ढ़ेर सारी प्रतिक्रियाएं, सम्भावनाएं, परिकल्पनाएं उत्पन्न होती हैं और उनमें वह सटीक का चुनाव करता है। एक उद्दीपन को देख कर उसके भीतर अनेक विचार भाव तथा अनुभूतियां साकार होने लगती हैं। आदतन देखना, अवलोकन करना, उसके स्वतः स्फूर्त रचनात्मक व्यवहार का अभिन्न अंग हो जाता है। दूसरे शब्दों में सृजनात्मकता सायास से अधिक अनायास होती है।'[18]

पटकथा लेखन हालांकि एक तकनीकी कार्य है, जिसके लिए लेखक को उसकी पूरी तकनीकी जानकारी होनी ही चाहिए। इसके बावजूद सिर्फ तकनीकी जानकारी होने से कोई भी व्यक्ति पटकथाकार नहीं बन सकता। पटकथाकार होने के लिए विद्वानों ने बहुत सारे गुणों के समुच्चय की आवश्यकता पर बल दिया है। ये गुण निम्न प्रकार से हैं-

साहित्य की समझ

पटकथाकार होने की पहली शर्त है साहित्य की समझ। यहाँ पर साहित्य की समझ से आशय है वाक्य रचना का ज्ञान, शब्दों की पहचान और व्याकरण से परिचय। इनके बिना किसी भी प्रकार का लेखन असम्भव है, फिर चाहे वह पटकथा

लेखन ही क्यों न हो। प्रसिद्ध फिल्म लेखक अरुण प्रकाश पटकथा के बारे में बताते हुए कहते हैं-

'इसमें दो हिस्से होते हैं- एक है पट, एक है कथा। पहले उसे (पटकथाकार को) कथाकार तो बनना ही होगा क्योंकि पटकथा से भी ज्यादा जरूरी चीज, मैं समझता हूँ, है कहानी बुनने की कला। अगर बुनना आता है, तो आप सिनेरियो बढ़िया लिख सकते हैं। अच्छे सिनेरियो के बिना अच्छी पटकथा नहीं बन सकती।'[19]

व्यापक जीवन अनुभव

कहानी-उपन्यास हो अथवा फिल्म, सभी में तरह-तरह के पात्रों से हमारा सामना होता है। ये पात्र अलग-अलग भूमि, अलग-अलग प्रदेश और अलग-अलग पेशे से जुड़े हुए होते हैं। अगर लेखक को उस प्रदेश अथवा पेशे की जानकारी नहीं होगी, तो पात्र में सजीवता नहीं आ पाएगी। इसीलिए कहा जाता कि लेखक के पास व्यापक जीवन अनुभव होने चाहिए।

विनय शुक्ला के अनुसार 'पटकथाकार को जमीन से जुड़ा होना चाहिए। कहने का मतलब यह है कि उसके पास जिन्दगी के सच्चे अनुभव होने चाहिए, क्योंकि जो व्यक्ति जितने ज्यादा लोगों से मिला होगा और जिंदगी को जितनी नजदीक से महसूस किये होगा, वह उन अनुभवों को उतने ही अच्छे ढ़ंग से व्यक्त (एनालिसिस) कर सकेगा। तभी उसे पता होगा कि किस हालात में लोग किस तरह से एक्ट (क्रिया) करते हैं, किस तरह से रिएक्ट (प्रतिक्रिया) करते हैं। जिस आदमी को इस चीज की जितनी समझ होगी, वह अपनी स्क्रिप्ट को उतनी ही ज्यादा पॉवरफुल बना पाएगा।'[20]

अनुभव हमेशा घटनाओं से जूझ कर और नए-नए लोगों से मिल कर प्राप्त होता है। जब आप किसी व्यक्ति से मिलते हैं, तो उससे कुछ न कुछ जानकारी अवश्य प्राप्त होती है। लेकिन वहाँ पर भी जितनी जानकारी वह स्वयं आपको देता है, उससे ज्यादा जानकारी आपको उसके मन के अंदर बैठ कर प्राप्त हो सकती है। यह भी एक प्रकार की कला है। इसे मनोविश्लेषण की क्षमता भी कह सकते हैं। अशोक चक्रधर इसी बात को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं-

'अनुभव-ज्ञान सम्पदा के साथ-साथ उस व्यक्ति में मनोविश्लेषण की क्षमता भी होनी चाहिए। किसी के भी मन में बैठ कर उसके अंदर जो होने वाली घटनाएं हैं, उसकी अनुमान क्षमता होनी चाहिए। ...तो मन के अंदर की पर्यावरण-परिधि में प्रकृति की जो कोमल संवेदना है या प्रभंजना है, झंझावात हैं, इन सबको जो व्यक्ति अपने संवेदन के धरातल पर महसूस कर सकता है, वह अच्छा पटकथाकार बन सकता है।'[21]

दृश्य–श्रव्य कल्पना

दृश्य-श्रव्य कल्पना (विजुअलाइजेशन) पटकथाकार का एक महत्त्वपूर्ण गुण है। दृश्य-श्रव्य कल्पना से आशय है आपकी आँखों के सामने घटने वाली घटनाओं को कैमरे से देखना। इसके अतिरिक्त पात्र के भीतर उठने वाली भावनाओं को दृश्यों के रूप में रूपांतरित करने की योग्यता भी पटकथाकार का एक आवश्यक गुण है। इन गुणों के अभाव में किसी भी व्यक्ति का पटकथाकार बनना पूरी तरह से असम्भव है।

'ऐसा कोई भी व्यक्ति पटकथा लेखन बन सकता है, जिसके पास विजुअलाइजेशन पावर का खजाना हो। विजुअलाइजेशन पावर से हमारी मुराद है मन की आंखों से चीजों को होते हुए देखना और मन के कानों से पात्रों को बोलते हुए सुनना। एक तरीके से यह किस्सागोई वाली कला है। जो व्यक्ति इसमें माहिर हो, वह टेकनिकल चीजों को समझ कर अभ्यास करके पटकथाकार बन सकता है।'[22]

इसके अतिरिक्त पटकथाकार के अन्दर यह समझ भी होनी चाहिए कि वह अपनी दृश्य-श्रव्य कल्पना को अपने माध्यम के अनुरूप ढ़ाल सके क्योंकि हर माध्यम की अपनी सीमाएं और विशेषताएं होती हैं। उन्हें समझे बगैर कोई भी व्यक्ति किसी माध्यम का सफल लेखक नहीं बन सकता। जिस प्रकार रेडियो नाटक में बैकग्राउंड में दिखने वाले दृश्यों को भी साउंड इफेक्ट/डॉयलाग द्वारा दर्शाया जाता है, उसी प्रकार टी.वी./फिल्म में बहुत से संवाद भी ऐसे होते हैं, जो अभिनय द्वारा व्यक्त कर दिये जाते हैं। इसलिए माध्यम की समझ होना भी पटकथाकार के लिए एक आवश्यक गुण माना जाता है।

त्वरित लेखन क्षमता

फिल्म/धारावाहिक निर्माण में यों तो पटकथा लेखन का कार्य सबसे पहले होता है, किन्तु अक्सर ऐसा होता है कि लेखक को जरूरत के अनुसार अपनी कलम चलानी पड़ती है। इन स्थितियों को नजदीक से भोग चुके भगवतीचरण वर्मा अपना क्षोभ प्रकट करते हुए कहते हैं- 'भारतीय फिल्मों की दुनिया को बहुत निकट से देखने पर पता चला है कि कहीं भी चित्रालेख (पटकथा) लेखन का कोई विधान नहीं है। कभी-कभी तो चित्रांकन (शूटिंग) बिना चित्रालेख के ही प्रारम्भ कर दिया जाता है। चित्रांकन के समय चित्र (फिल्म) के आलेख और संवाद लिखे जाते हैं और इसका परिणाम यह होता है कि चित्र बन जाने के बाद उसकी बुरी तरह कांट-छांट करनी पड़ती है।'[23]

इसके पीछे जहाँ एक कारण फिल्मकारों द्वारा पटकथा का महत्व न समझ पाना है, वहीं दूसरे कुछ व्यवहारिक कारण भी हैं। सुप्रसिद्ध कहानीकार एवं पटकथाकार कमलेश्वर इस सम्बन्ध में अपने अनुभव बताते हुए कहते हैं- 'चंद्रकांता' लिखने में बड़ी भारी दिक्कतें मेरे सामने पेश आईं। कुछ इस तरह की दिक्कतें भी होती थीं कि हमने कहानी आगे बढ़ाई और शूटिंग उसी दिन होती थी। आपने लिखा और शूटिंग हो गयी। तब पता लगता था कि फलां पात्र मौजूद नहीं है। अब चूँकि वह पात्र मौजूद नहीं है, तो आपको तत्काल वह बदलना पड़ता था। तो तत्काल बदलने की जो ता.कालिकता है, यह सीरियल्स की मजबूरी है।'[24]

तीक्ष्ण स्मृति

'एक सफल पटकथा लेखन बनने के लिए यह आवश्यक माना जाता है कि आपने बॉलीवुड और हॉलीवुड की सारी सफल फिल्में देखी हों। मसलन आप बड़े परिवारों को लेकर कोई 'सोप आपेरा' लिख्र रहे हों और निर्देशक यह चाहता हो कि इसका पहला एपीसोड खूब धमाकेदार हो, तो इसे धमाकेदार बनाने के लिए वह आपको कुछ सूत्र देगा। जैसे कि आपसे वह कहेगा कि इसकी 'ओपेनिंग' 'गॉडफाडर' जैसी होनी चाहिए। ...आपसे यह अपेक्षा भी की जाती है कि आपने विश्व साहित्य के क्लासिक का अध्ययन किया हो। हो सकता है कि निर्माता-निर्देशक आपसे यह कहे कि कुछ ऐसी प्रेम कहानी दिखाइए, जैसा कि माखैज ने अपने उपन्यास 'लव इन द टाइम आफ कॉलना' में दिखाया है।'[25]

पटकथाकार के पास यदि तीक्ष्ण स्मृति है, तभी उसे वे सारे दृश्य, सारी घटनाएं याद रह पाएंगे और तभी वह अपनी पटकथा को उस जैसी धार दे पाएगा। इसीलिए यह कहा जाता है कि सफल पटकथाकार बनने के लिए अच्छी याद्दाश्त का होना आवश्यक है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पटकथा लेखन एक ऐसा कार्य है, जिसके लिए बहुत से गुणों की आवश्यकता होती है। जाहिर सी बात है कि जो व्यक्ति उपरोक्त में से जितने ज्यादा गुणों से सम्पन्न होगा, उसके पटकथाकार के रूप में सफल होने की उतनी ही ज्यादा सम्भावनाएं होंगी।

सन्दर्भ सूची

1. भरत मुनि, 'नाट्यशास्त्र', 1/116
2. कृष्णाजी श्रीवास्तव, नाट्य लेखन कला, 'मीडिया लेखन', पृष्ठ-50
3. 'मालविकाग्निमित्र', 1/4
4. 'हिन्दी नाट्यशास्त्र', भाग-2, पृष्ठ-26, 27
5. डॉ0 विश्वनाथ मिश्र, 'नाटक का रंग विधान', पृष्ठ-8
6. 'नाट्य शास्त्र', 1/116
7. वही, 1/15, 16, 17
8. 'भारतीय और पाश्चात्य नाट्य सिद्धान्त', पृष्ठ-26
9. 'नाट्य शास्त्र', 1/107, 108
10. डॉ0 जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल, 'हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियां', पृष्ठ-663
11. 'सबसे उदास कविता', पृष्ठ-14
12. वही, पृष्ठ-18
13. के0के0 नैयर, रेडियो नाटक लेखन कला, 'मीडिया लेखन', पृष्ठ-59
14. 'पटकथा लेखन : एक परिचय', पृष्ठ-11
15. कुमुद नागर, टी.वी. नाटक लेखन कला, 'मीडिया लेखन', पृष्ठ-63
16. 'चलचित्र : कल और आज', पृष्ठ-11
17. 'उसके बाद', पृष्ठ-5
18. डॉ0 अनुपम ओझा, 'भारतीय सिने सिद्धान्त', पृष्ठ-169
19. संकलित साक्षात्कार, 'टेलीविजन लेखन', पृष्ठ-93
20. विनय शुक्ला, 'पटकथा लेखन कार्यशाला', 17-22 अक्टूबर, 2005, फिल्म बंधु, लखनऊ
21. संकलित साक्षात्कार, 'टेलीविजन लेखन', पृष्ठ-79
22. कुमुद नागर, लेखक द्वारा लिये गये साक्षात्कार पर आधारित
23. 'वासवदत्ता का चित्रालेख', पृष्ठ-13
24. संकलित साक्षात्कार, 'टेलीविजन लेखन', पृष्ठ-69
25. असगर वजाहत, प्रभात रंजन, 'टेलीविजन लेखन', पृष्ठ-24

खण्ड दो

पटकथा का छंद

अध्याय-1

पटकथा : क, ख, ग

कहानी से शुरू होने वाली फिल्म/धारावाहिक की प्रक्रिया पटकथा तक पहुंचते-पहुंचते बहुत सारे पड़ावों को पार करती है। ये पड़ाव मात्र ठहराव नहीं, एक प्रकार के ऊर्जा भण्डार भी होते हैं क्योंकि यहाँ पर कहानी के स्तर, पात्रों के स्वरूप, परिस्थितियों के संघर्ष, और तो और, संवादों की संजीदगी में भी काफी परिवर्तन हो जाते हैं। कभी-कभी तो ये परिवर्तन इतने जबरदस्त होते हैं कि पटकथा तक पहुंचते-पहुंचते कहानी का स्वरूप ही एकदम बदल जाता है। इस प्रक्रिया का कोई निश्चित मानदण्ड नहीं है। कोई निर्धारित नियम भी नहीं हैं। जो जैसा चाहे, वैसा अपना रथ हांके। प्रसिद्ध फिल्मकार गुलजार अपनी इस प्रक्रिया के बारे में बताते हुए कहते हैं-

'कहानी की स्केच तो निश्चित ही पहले बना लेते हैं। उससे फायदा यह होता है कि कोई चीज चूकती नहीं है। जब आप कहानी बना लेते हैं, तो किरदार भी सामने आ जाते हैं। उन चरित्रों की विशेषताएं और विस्तार, डिटेल्स पता लगने लगते हैं। उनका गुण तथा चारित्रिक व्यवहार पता चलने लगता है। कुछ जुड़ते हैं, कुछ दो मिल कर एक हो जाते हैं या एक के दो बन जाते हैं। कभी-कभी एक ही कैरेक्टर में कई विशेषताएं मिल जाती हैं। इस तरह दृश्यों की मदद से कहानी की सशक्त प्रस्तुति के अनुरूप स्क्रीन प्ले आकार लेता है। मैं पूरी स्क्रिप्ट पहले लिख लेता हूँ। यहाँ तक कि उसमें पूरी मूवमेंट तक लिखी होती है कि कैरेक्टर कहाँ सांस लेता है, कहाँ से कौन सी चीज उठा कर वह कहाँ रखता है।'[1]

पटकथा क्या है?

पटकथा के अर्थ में बहुधा दो अंग्रेजी शब्द प्रयोग में लाए जाते हैं- 'सिनेरियो' और 'स्क्रीनप्ले'। 'ए डिक्शनरी ऑफ सिनेमा' (A Dictionary of Cinema) के अनुसार इन शब्दों के अर्थ इस प्रकार से हैं-

Scenario (n.) - An outline for a screenplay.

Screenplay (n.) - The script for a movie, including descriptions of scenes and some camera directions.

भारतीय परिप्रेक्ष्य में 'सिनेरियो' शब्द का प्रयोग आज से चार-पाँच दशक पहले तक पटकथा के लिए प्रयुक्त होता था, जिसका शाब्दिक अर्थ है दृश्य का विस्तार से वर्णन। 'सिनेरियो' की तुलना में 'स्क्रीनप्ले' अपेक्षाकृत नया शब्द है। धीरे-धीरे सिद्धान्ततः दोनों शब्द समानार्थी मान लिये गये। कालांतर में 'स्क्रीनप्ले' ने 'सिनेरियो' का स्थान ले लिया और 'सिनेरियो' शब्द प्रचलन से बाहर हो गया।

इस तरह से देखा जाए तो 'सिनेरियो' और 'स्क्रीनप्ले' (दोनों शब्द) का आशय लेखक की विस्तृत दृश्य-श्रव्य कल्पना (विजुअलाइजेशन) है, जो यह बताती है कि फिल्माने के बाद सम्बन्धित घटना/कहानी पर्दे पर किस तरह से नजर आएगी। जैसा कि सीड फील्ड ने कहा है- 'A screenplay is a story told with pictures'[2]

हिन्दी फिल्मों के सफल पटकथाकारों में से एक जावेद अख्तर पटकथा की गहराई में उतरते हुए कहते हैं- 'मान लीजिये मैं आपको एक गरीब आदमी की कहानी सुनाता हूँ। ...ये मुफलिस आदमी भूखा रहता है लेकिन फिर भी कोई बेईमानी नहीं करता। ये तो है कहानी की शुरूआत, अब मैं इस कहानी को पर्दे पर कैसे दिखाऊंगा? मैं इस तरह के सब टाइटल्स तो नहीं इस्तेमाल कर सकता कि 'ये रहा एक ईमानदार आदमी, जो बहुत गरीब है।' तो मैं ये करूँगा कि इस आदमी को पटरी पर सोता हुआ या किसी झुग्गी-झोपड़ी में सोता हुआ दिखाऊंगा। एक दिन वो रेस्त्रां के पास से गुजरता है और वहाँ कुछ लोगों को खाते हुए देखता है। वो उनकी तरफ मायूसी से देखता है। उसके इस तरह देखने से मैं समझ जाता हूँ कि वो भूखा है। अचानक कोई आदमी सड़क पर उसके पास से निकलता है और ऐन उसी वक्त उसका बटुआ पटरी पर गिर जाता है। हमारा हीरो बटुए को उठाता है। वो नोटों से ठसाठस भरा हुआ है। वो अमीर आदमी के पास भागता हुआ जाता है और कहता है, 'साहब, आपका बटुआ।' हमारे हीरो की दाढ़ी बढ़ी हुयी है, उसने गन्दे कपड़े पहने हुए हैं। अमीर आदमी हैरान होता है। वह बटुआ ले लेता है, इस बदकिस्मत आदमी को देखता है और उसे इनाम के तौर पर दस या सौ रुपये देने की कोशिश करता है। हमारा हीरो पैसा लेने से मना करता है और कहता है, 'मैंने तो सिर्फ अपना फर्ज़ निभाया है और फिर मैं एक इज्जतदार आदमी हूँ।' अब हमें समझ में आता है कि ये एक ऐसा आदमी है, जो गरीब है, भूखा है, ईमानदार है और उसूलों वाला भी है। तो वाकयात से मुझे इस किरदार के बारे में सब कुछ पता चला जाता है।'[3]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि 'स्क्रिप्ट या पटकथा वह है, जिसमें किसी कहानी का दृश्य ब्रेकडाउन किया जाता है। जैसे आपने तो कह दिया कि 'वह बाजार गया और वहां से कुछ सब्जियां ले आया। बाजार में अरुण से मुलाकात हुई। उसने

कहा, शाम को घर आ जाना।' मगर बाज़ार में जब वह सब्जी खरीद रहा था, तो अरुण क्या कर रहा था? कैसे मिला? इस सबको दृश्यगत दिलचस्पी के साथ लिखना होगा क्योंकि दृश्य के सन्दर्भ मे यह सिर्फ सूचना नहीं है कि आपने कह दिया और हो गया। ऐसा कुछ होना चाहिए कि चरित्र और घटना का पारस्परिक सम्बंध और पृष्ठभूमि भी मालूम हो जाए। दृश्य का रिश्ता बने और आप सीन बना लें, तो उसे बैकग्राउंड भी दें।'[4]

कहने का आशय यह है कि जो घटना पर्दे पर जिस प्रकार दिखायी जाती है, उसे उसी प्रकार सम्पूर्ण विवरण सहित क्रमानुसार लिखना ही पटकथा कहलाता है। विश्व सिनेमा के पितामह ग्रिफिथ ने पटकथा की संरचना को लेखन में प्रयुक्त होने वाले वाक्य विन्यास के समान बताया है। उसी परिकल्पना को शब्दबद्ध करते हुए अनुपम ओझा कहते हैं- 'लेखन की छोटी इकाई शब्द या वाक्य है, किन्तु पटकथा लेखन की छोटी इकाई शॉट है। वाक्यों को जोड़ने से पैराग्राफ बनता है, शाट्स के जोड़ने से दृश्य (अथवा सीन) बनता है। शॉट, सीन और सीक्वेंस के मिलने से पटकथा बनती है।'[5]

पटकथा में घटनाएं हमेशा वर्तमान काल में घटित होती हुयी दिखायी जाती हैं, लेकिन कहानी का वर्तमान कब का है, यह निश्चित नहीं होता है। इसीलिए इसे 'अनिश्चित वर्तमान' की संज्ञा से विभूषित किया गया है। यदि पटकथा एक राजा की कहानी से संबंधित है, तो भी उसमें लिखा जाएगा-'एक राजा होता है। राजा को शिकार का बहुत शौक है। एक दिन वह जंगल में शिकार करने जाता है। एक हिरन का पीछा करते-करते वह एक तालाब के पास पहुंच जाता है। लगातार दौड़ते रहने के कारण हिरन थक जाता है और नदी का पानी पीने लगता है। राजा एक पेड़ के पीछे से छिप कर हिरन पर तीर चलाता है। तीर लगते ही हिरन एक सुंदर स्त्री में परिवर्तित हो जाता है....।'

'पटकथा लिखने के लिए इस 'ता है, ती है, ते हैं' वाली भाषा को हृदयंगम कर लीजिए। याद रखिए कि आपका कर्तव्य दिग्दर्शक (निर्देशक) को यह बताना है कि कैमरे के आगे क्या कुछ घटित होता है 'हम देखते हैं...', जैसे यह- 'हम देखते है कि रामलाल बांसुरी बजा रहा है और उसकी पत्नी गुलाबो गोद के बच्चे को सुलाने की कोशिश कर रही है।' कहीं-कहीं 'हम' की जगह सीधे देखने-दिखाने वाले कैमरे को दे दी जाती हैं। जैसे यह- 'कैमरा बंसी बजाते हुए रामलाल से पैन करता हुआ उसकी पत्नी गुलाबो पर पहुंचता है, जो अपनी गोद के बच्चे को सुलाने की नाकामयाब कोशिश में जुटी हुयी है।'[6]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पटकथा वास्तव में लेखन की एक शैली भर है। लेकिन सिर्फ लिखने का तरीका (फार्मेट) समझ लेने मात्र से कोई भी व्यक्ति पटकथाकार नहीं बन सकता है। जिस प्रकार अच्छा तैराक बनने के लिए पानी की गहराइयों में उतरना पड़ता है, उसी प्रकार अच्छा पटकथाकार बनने के लिए पटकथा की तकनीक के साथ-साथ उसके व्यवहारिक पहलुओं का समुचित ज्ञान भी आवश्यक है।

वस्तुतः पटकथा लेखन एक यात्रा है, जिसकी शुरूआत विचार (आइडिया) से होती है। तदुपरांत वह अनेकानेक रास्तों को पार करती हुई पटकथा रूपी मंजिल पर पहुंचती है। इस विशाल और महत्वपूर्ण प्रक्रिया को भलीभांति समझने के लिए निम्न बिन्दुओं का सहारा लिया जा सकता है।

विचार (आइडिया) : पटकथा का बीज

एक दिन एक व्यक्ति के मन में यह विचार आता है कि वह कुछ ऐसा कर जाए, जिससे दुनिया उसके न रहने पर भी उसे याद करे। वह अपने दिमाग के घोड़े खोल देता है। अचानक उसकी नजर घर के बाहर पड़ी कांच की टूटी बोतलों और पत्थरों पर पड़ती हैं। वह सोचता है क्यों न इन चीजों को जोड़ कर मूर्तियों की रचना की जाए और उनके द्वारा एक थीमपार्क का निर्माण किया जाए। बस फिर क्या था। वह अपने काम में लग जाता है। इधर-उधर से कचरा बीनना और अपनी कलात्मक प्रतिभा द्वारा उसे एक स्वरूप प्रदान करना ही उसका लक्ष्य बन जाता है। घर वाले, पड़ोसी, दोस्त, रिश्तेदार सभी उसे बुरा-भला कहते हैं, उसका मजाक उड़ाते हैं। लेकिन वह किसी की परवाह नहीं करता और पूरे समर्पण के साथ अपने काम में लगा रहता है। एक दिन उसकी मेहनत रंग लाती है। इस तरह चंडीगढ़ का जगप्रसिद्ध 'रॉक गार्डन' बन कर तैयार हो जाता है और उसके बनाने वाले नेकराम शर्मा हमेशा-हमेशा के लिए इतिहास में अमर हो जाते हैं।

नेकराम शर्मा को फर्श से अर्श तक पहुंचाने का काम जिसने किया, वह था सिर्फ एक विचार। यह विचार (आइडिया) ही वह मूल बिन्दु है, जहां से किसी भी काम की शुरूआत होती है। बात को यदि फिल्म और धारावाहिकों के सन्दर्भ से जोड़ा जाए, तो कहा जा सकता है कि हम भी अपने चारों तरफ फैले विषय रूपी कचरे के ढ़ेर के बीचो-बीच बैठे हुए हैं। जरूरत है सिर्फ एक पारखी नजर की, जो उस कचरे से इतिहास की रचना करने की कूवत अपने भीतर रखती हो।

कुमुद नागर के शब्दों में- 'आइडिया कभी किसी और व्यक्ति से, किसी रचना या कलाकृति से अथवा प्राकृतिक दृश्यावली से भी पैदा हो सकता है। इससे ये भी

आशय नहीं लेना चाहिए कि केवल इसी प्रकार के विषय नाटक के लिए उपयुक्त होते हैं। विज्ञान कथाएं, साहित्यिक घटनाएं, मनोरंजक घटनाएं, कोई दिलचस्प व्यक्तित्व- कोई भी विषय आप चुन सकते हैं। बस एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि लेखन के लिए मीडिया का माध्यम अपना कर आप केवल अपने आत्मतोष के लिए या स्वान्तः सुखाय लिखने का खतरा नहीं उठा सकते। आपका दर्शक वर्ग बहुत बड़ा है, उसके भी अनेक भेद हैं। आपकी पसंद और उसका निर्वाह 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' होना चाहिए।"[7]

फिल्मी दुनिया का सारा फलसफा विचार (आइडिया) से शुरू होता है क्योंकि जब एक लेखक किसी निर्माता/निर्देशक से मिलता है, तो उसके पास सिर्फ इतना समय होता है कि वह अपना विचार (आइडिया) उसे सुना सके। अगर विचार (आइडिया) पसंद आया, तो ठीक, नहीं तो टॉय-टॉय फिस्स।

किसी फिल्मकार को अपना विचार (आइडिया) सुनाने से पहले इस बात का ध्यान अवश्य रखें कि उसमें नयापन हो और बाजार में बिकने के योग्य हो। क्योंकि कोई भी फिल्मकार घर फूंक तमाशा देखने के लिए फिल्म नहीं बनाता। वह उसे बनाता है पैसा कमाने के लिए। इसलिए बाजार के अनुकूल और फिल्मी दुनिया में बहने वाली हवा के अनुकूल विचार (आइडिया) को बाजार मिलने की अधिक संभावना होती है।

हॉलीवुड के प्रसिद्ध निर्देशक स्टीवन स्पीलबर्ग को एक दिन ऐसे व्यक्ति के बारे में पता चलता है, जिसने द्वितीय विश्व युद्ध के समय हिटलर की नाजी सेना से 19 हजार यहूदियों को बचाया था। मजे की बात यह है कि वह व्यक्ति स्वयं एक यहूदी था और बर्तनों के बहुत बड़े व्यापारी के रूप में जाना जाता था। उसने उन यहूदियों को बचाने के लिए अपनी सारी दौलत हंसते-हंसते कुर्बान कर दी थी।

स्टीवन स्पीलबर्ग को यह विचार (आइडिया) बहुत पसंद आया। उसने इस पर काम शुरू किया और इस तरह बन कर तैयार होती है विश्व सिनेमा की एक महान कृति, जिसे दुनिया 'शिंडलर्स लिस्ट' के नाम से जानती है।

मान लीजिये कि आपको एक ऐसे दम्पत्ति के बारे में पता चलता है, जो रेगिस्तान के बीच अकेले रहते हैं और उधर से गुजरने वाले लोगों को लूट कर अपना परिवार चलाते हैं। उनका लड़का बाहर पढ़ने के लिए जाता है और जब वह बीस साल के बाद पढ़ कर लौटता है, तो वे उसे पहचान नहीं पाते और उसकी हत्या कर देते हैं।

यह है एक विचार (आइडिया)। कैसा लगा आपको? मानवीय दुर्बलताओं और उसके पतन का चित्रण करने वाली इससे हृदय विदारक घटना शायद आपने न सुनी हो। प्रकाश झा ने भी नहीं सुनी थी। उन्होंने इस विचार (आइडिया) को इस प्रकार कहानी का स्वरूप प्रदान किया-

रेगिस्तान के बीच में एक युगल दम्पत्ति अकेले रहते हैं। वे उधर से गुजरने वाले व्यापारियों और राहगीरों की सेवा-टहल करते हैं और उसके बदले में मिले पैसों से अपनी गुजर बसर करते हैं। उनका एक छोटा सा लड़का भी है। वे उसका बाल विवाह कर देते हैं। उसके बाद वे लड़के को पढ़ने के लिए दूर कहीं अपने रिश्तेदार के पास भेज देते हैं। धीरे-धीरे काफी समय गुजर जाता है। एक दिन किसी व्यापारी से उस दम्पत्ति का झगड़ा हो जाता है। दोनों गुस्से में आकर उसकी हत्या कर देते हैं और उसका माल-असबाब हड़प कर लेते हैं। एक झटके में ढ़ेर सारे पैसे पा जाने से उनकी नियत बदल जाती है। वे दोनों उसी पेशे को अपना लेते हैं। अब उनका काम ही होता है आने वाले व्यापारियों की आव-भगत और फिर चुपके से उनकी हत्या।

10-12 सालों के बाद उनका लड़का घर लौटता है। लौटते समय लड़के के मन में एक चुहल आती है। वह यह देखने के लिए कि उसके माँ-बाप उसे पहचान पाते हैं या नहीं, उन्हें अपनी पहचान नहीं बताता है। लड़के के बदले हुए स्वरूप को देख कर माँ-बाप वाकई में धोखा खा जाते हैं। वे अपने लड़के को भी व्यापारी समझते हैं और रात में चुपके से उसकी हत्या कर देते हैं। तभी मायके से उनकी बहू आती है। वह अपने पति को पहचान लेती है। तब उन्हें असलियत पता चलती है। पति-पत्नी दोनों यह सुन कर पश्चाताप की अग्नि में जल उठते हैं और दोनों लोग एक साथ आत्महत्या कर लेते हैं।

प्रकाश झा ने जब इस कहानी को कैमरे की रील में कैद किया, तो उसे नाम मिला 'परिणति'। 'परिणति' एक टेलीफिल्म थी, लेकिन अपनी अद्‌भुत कथा, सशक्त पटकथा और जबरदस्त फिल्मांकन (पिक्चराइजेशन) के कारण खूब सराही गयी थी।

विचार (आइडिया) बनाम कथा-वस्तु (प्लॉट)

विचार (आइडिया) को कुछ लोग कथा-वस्तु (प्लॉट/सब्जेक्ट) के नाम से भी पुकारते हैं। अक्सर लेखक-गण आपस में कहते पाये जाते हैं- 'एक जबरदस्त प्लॉट लगा है मेरे हाथ।', 'आपका प्लॉट तो बहुत दमदार है।' कथा-वस्तु अच्छी, तो कहानी अच्छी। कहानी अच्छी, तो फिल्म अच्छी और फिल्म अच्छी तो कमाई अच्छी।

पर सही मायनों में देखा जाए तो कथा-वस्तु (प्लॉट) विचार (आइडिया) से आगे की चीज है। प्रकाश झा को जब यह पता लगता है कि रेगिस्तान में रहने वाले लुटेरे दम्पत्ति अपने बेटे को पहचान न पाने के कारण उसकी हत्या कर देते है, तो यह घटना एक विचार (आइडिया) थी। जब इस विचार को विकसित करके एक छोटी सी कहानी का रूप दे दिया गया, तो वह कथा-वस्तु (प्लॉट) बन गयी। लेकिन स्थूल रूप में दोनों चीजें एक जैसी लगती हैं, इसलिए लोगों को इस सम्बंध में भ्रम होता है।

विश्व में सबसे ज्यादा फिल्में बनाने वाले देशों में भारत का नाम सबसे ऊपर है, लेकिन इसके बावजूद हमारे यहाँ अच्छी फिल्में निकल कर सामने नहीं आ पा रही हैं। ऐसी फिल्में, जो अपने विषय और कथ्य के कारण याद रखी जाएं। पूरे फिल्म उद्योग में अच्छे विषयों का टोटा सा जान पड़ता है। लगभग हर फिल्मकार अपने साक्षात्कार में इस बात को दोहराता है कि उसे अच्छे विचारों (आइडियाज) की तलाश है। यहाँ पर एक बात ध्यान देने वाली यह है कि विचारों (आइडियाज) की कमी है, लेकिन फिल्में बनने में कहीं कोई कमी नहीं आ रही है। नतीजतन लोग या तो पुरानी फिल्मों को फिर-फिर दोहरा रहे हैं (देवदास, परिणीता, पहेली) या फिर मानव की सबसे बड़ी कमजोरी 'सेक्स' को येन-केन-प्रकारेण भुनाने में जुटे है।

ऐसे माहौल में नए एवं प्रतिभासम्पन्न युवकों के लिए काम करने के ज्यादा मौके उपलब्ध हो सकते हैं, बशर्ते उनके पास कुछ कर गुज़रने का जज़्बा और फिल्मी तकनीक का भरपूर ज्ञान हो।

प्रधान स्वर (थीम) और आधारिका (प्रीमाइज)

हमारे आस-पास जितनी भी घटनाएं घटती हैं या जितनी भी कहानियाँ बनती हैं, उन सभी की कोई न कोई प्रधान स्वर (थीम) अवश्य होता है। जैसे- कर भला तो हो भला, प्यार अंधा होता है, सच्चे का बोलबाला-झूठे का मुँह काला आदि इत्यादि। प्रधान स्वर (थीम) का तात्पर्य है कहानी की आत्मा। प्रधान स्वर (थीम) कहानी का वह सुर होता है, जिससे हटने पर कहानी बेसुरी हो जाती है। यह एक तरह के नैतिक संदेश (मॉरल स्टेटमेन्ट) की तरह से होता है, जो कहानी में छिपा हुआ भी हो सकता है और प्रकट रूप में भी। कहने का आशय यह है कि कहानी के माध्यम से लेखक जो संदेश देना चाहता है, वह ही उसका प्रधान स्वर (थीम) कहलाता है।

प्रधान स्वर (थीम) से मिलता-जुलता है आधारिका (प्रीमाइज)। इससे आशय है कहानी का आधार स्तम्भ। आमतौर से प्रधान स्वर (थीम) और आधारिका (प्रीमाइज) को एक ही चीज समझ लिया जाता है, जबकि ऐसा है नहीं। प्रधान स्वर

(थीम) हमें यह बताता है कि इस कहानी के माध्यम से हम क्या कहना चाहते हैं, जबकि आधारिका (प्रीमाइज) यह बताती है कि हम इस कथ्य को कैसे कहना चाहते हैं। आधारिका (प्रीमाइज) नाटकीयता का पुट लिये होती है और यह पटकथा के लिए एक निर्देशिका का काम करती है।

उदाहरण के लिए 'मदर इंडिया' फिल्म का प्रधान स्वर (थीम) है- 'इज्जत बचाने के लिए जितनी बड़ी कुर्बानी दी जाए, वह कम है।' लेकिन इसकी आधारिका (प्रीमाइज) है- 'जो औरत अपने बेटे की जान बचाने के लिए अपनी इज्जत देने को तैयार हो जाती है, वही किसी और औरत की इज्जत बचाने के लिए अपने बेटे की जान भी ले सकती है।' इसी प्रकार 'मुगले आज़म' फिल्म का प्रधान स्वर (थीम) है- 'प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए कैसा भी त्याग किया जा सकता है।' जबकि इसकी आधारिका (प्रीमाइज) होगी- 'एक बादशाह अपने ताज के सम्मान के लिए उस बेटे का बलिदान करने के लिए तैयार हो जाता है, जो बड़ी मन्नतों और मुरादों के बाद हासिल हुआ था।'

प्रधान स्वर (थीम) द्वारा हमें लेखक के दृष्टिकोण का पता चलता है। 'मदर इंडिया' का ही उदाहरण लेते हैं। इसके प्रधान स्वर (थीम) से कुछ भी समझ में नहीं आता है कि यह किस प्रकार की कहानी है, लेकिन जब हम इसकी आधारिका (प्रीमाइज) देखते हैं, तो हमारी कल्पना में एक छोटी सी कहानी पनपने लगती है। आधारिका (प्रीमाइज) एक प्रकार से कहानी का रास्ता निर्धारित कर देती है, इसलिए कहानी इधर-उधर भटकने नहीं पाती है। हालांकि मंजे हुए पटकथाकार पटकथा लेखन के लिए आधारिका (प्रीमाइज) का सहारा नहीं लेते हैं, लेकिन नवोदित लेखकों के लिए शुरू में आधारिका (प्रीमाइज) निर्धारित कर लेना काफी फायदेमंद होता है।

फिल्म निर्माण प्रक्रिया में प्रधान स्वर (थीम) का बड़ा महत्व है। अक्सर यह होता है कि पहले प्रधान स्वर (थीम) तय हो जाता है, फिर उस प्रधान स्वर (थीम) पर कहानी लिखी जाती है। एक बहुत प्रचलित प्रधान स्वर (थीम) है- 'प्रकृति से छेड़छाड़ हमेशा घातक होती है।' इस प्रधान स्वर (थीम) को लेकर बहुत सारी फिल्मों का निर्माण किया गया है। ऐसी ही दो फिल्में हैं- 'जुरासिक पार्क' और 'द डे आफ्टर टुमारो।' हालांकि दोनों के कथानक बिल्कुल अलग हैं, पर इनके कथ्य एक ही हैं।

'जुरासिक पार्क' एक ऐसे उद्योगपति की कहानी है, जो डायनासोर पैदा करके एक घाटी में शक्तिशाली सुरक्षा वाली पार्क का निर्माण करता है। पार्क के निर्माण के पीछे एक ही मकसद है- वहाँ आने वाले पर्यटकों से होने वाली कमाई। डायनासोर को पैदा करने का सूत्र उन्हें एक मच्छर के रूप में मिलता है, जो करोड़ों साल पहले

किसी डायनासोर का खून चूसने के बाद एक पेड़ के गोंद के नीचे दब कर मर गया था। वैज्ञानिक दल के लोग उस मच्छर के शरीर में सुरक्षित रक्त से डायनासोर का डी0एन0ए0 (शरीर की सबसे छोटी इकाई) प्राप्त करते हैं, लेकिन वह डी0एन0ए0 एक जगह से टूटा हुआ मिलता है। उस टूटन को जोड़ने के लिए वैज्ञानिक दक्षिण अफ्रीका में पाए जाने वाले विशालकाय मेढ़कों के डी0एन0ए0, का सहारा लेते हैं। इस प्रकार उस 'मरम्मत किए हुए' डी0एन0ए0 से क्लोनिंग द्वारा डायनासोरों का निर्माण किया जाता है।

वे डायनासोर एक निश्चित संख्या में बनाये जाते हैं। बनाये गये सभी डायनासोर मादा रखे जाते है, जिससे वे अपनी जनसंख्या बढ़ा न सकें। लेकिन जिस मेढ़क के डी0एन0ए0 से डायनासोर का डी0एन0ए0 मरम्मत किया जाता है, वह उभयलिंगी होता है। अर्थात समय पड़ने पर वह मेढ़क अपने को नर या मादा के रूप में बदलने की क्षमता रखता है। मेढ़क का यह गुण उन डायनासोरों में भी आ जाता है। उनकी संख्या तेजी से बढ़ने लगती है।

इस बीच एक वैज्ञानिक डायनासोर के डी0एन0ए0 चुरा कर बेचने के लिए पार्क की इलेक्ट्रानिक सुरक्षा व्यवस्था को कुछ देर के लिए बंद कर देता है। उसी दौरान कुछ डायनासोर सुरक्षा घेरे वाली दीवार को ध्वस्त करके बाहर निकल आते हैं। देखते ही देखते अनियंत्रित डायनासोर पूरे पार्क को तहस-नहस कर देते हैं। व्यापारी की अरबों की सम्पत्ति तबाह व बरबाद हो जाती है और वह अपनी जान बचाने के लिए उस घाटी से निकल भागने के लिए विवश हो जाता है।

इसी प्रकार 'द डे आफ्टर टुमारो' पर्यावरण पर आधारित फिल्म है। धरती से पेड़ों के सफाये, ध्रुवों की पिघलती बर्फ और प्रदूषण की जबरदस्त बढ़ोत्तरी के कारण पूरी धरती का मौसम एकदम से बदल जाता है। एक युवा वैज्ञानिक पूर्व से ही इसकी चेतावनी देता है, लेकिन कोई अधिकारी उसकी परवाह नहीं करता है। समुद्र तलों का तापमान एकदम से गिरने लगता है और उत्तरी अमेरिका में बर्फीले तूफान आने लगते हैं। वहां का तापमान शून्य के काफी नीचे चले जाने के कारण लोग मरने लगते हैं। अन्ततः राष्ट्रपति को अपना आधा देश खाली करके दूसरे गर्म देशों में शरण लेनी पड़ती है। बर्फीले तूफान की चपेट में आने से लाखों लोग मारे जाते हैं, अरबों की सम्पत्ति का नुकसान होता है।

फिल्म के नायक युवा वैज्ञानिक का लड़का तूफान में फंस जाता है। समुद्र का पानी शहर के अंदर घुस आने के कारण यातायात व्यवस्था ध्वस्त हो जाती है। तापमान काफी कम हो जाने के कारण शहर में घुस आया पानी जमने लगता है। जीरो

डिग्री सेल्सियम से काफी नीचे के उस तापमान में नायक का लड़का एक लाइब्रेरी में शरण लेता है। अपने पिता से मिले निर्देश के अनुसार वह लाइब्रेरी के फर्नीचर और कीमती किताबों को जला कर उस ठन्ड से बचने की कोशिश करता है।

अपनी जान की परवाह न करते हुए नायक अपने बेटे को बचाने के लिए पैदल ही निकल पड़ता है। कई किलोमीटर की दुश्वारियों को पार करता हुआ नायक अन्ततः अपने बेटे के पास पहुंच जाता है। लेकिन इस अभियान में उसके साथी मारे जाते है। कुछ समय के बाद तूफान थम जाता है और धीरे-धीरे मौसम सामान्य होने लगता है। लोग वापस अपने घरों की ओर लौटते हैं। अन्त में नायक सभी को चेताते हुए कहता है कि अभी भी समय है, जागो और पर्यावरण को बचाओ। अगर अब भी आप लोग अपनी नींद से नहीं जागे, तो फिर सब कुछ तबाह हो जाएगा।

इस प्रकार एक ही प्रधान स्वर (थीम) पर आधारित ये दो अलग-अलग फिल्में हैं, जो सर्वथा भिन्न कलेवर में परोसी गयी हैं। दोनों फिल्में अपनी सशक्त पटकथा के कारण न सिर्फ बाक्स ऑफिस पर पूरी तरह से सफल होती हैं बल्कि अपने संदेश को भी पूरी शिद्दत के साथ दर्शकों तक पहुंचाने में भी कामयाब रहती हैं।

विचार (आइडिया) के श्रोत

एक दिन तीन साधारण से चोर एक जगह पर इकट्ठे होते हैं। वे छोटी-छोटी चोरियां करके बोर हो चुके हैं और कुछ नया करना चाहते हैं। तीनों लोग सर्वसम्मति से छोटे बच्चों का अपहरण करने की योजना बनाते हैं। एक तो इसमें ज्यादा जोखिम भी नहीं था, दूसरे फिरौती के रूप में मोटी रकम मिलने की उम्मीद भी थी। काफी सोच-विचार के बाद तीनों लोग नौ महीने के बच्चे का अपहरण करते हैं, जो सिर्फ घुटनों के बल चल पाता है। बच्चें के साथ एक कहानी की किताब भी आ जाती है। बच्चे ने वह कहानी अपनी दाई से कई बार सुन रखी है। अपहरणकर्ताओं के चंगुल में फंसा बच्चा उस किताब के नायक (जो स्वयं उसके जैसा बच्चा है) की तरह व्यवहार करने लगता है। वह नौ महीने का बच्चा न सिर्फ उन अपहरणकर्ताओं को छकाता हुआ अपने घर पहुंचने में कामयाब हो जाता है, बल्कि अपहरणकर्ता पुलिस के हत्थे भी चढ़ जाते हैं।

मशहूर फिल्मकार पैट्रिक रेड जॉनसन ने इस छोटी सी कहानी पर एक खूबसूरत सी फिल्म बनाई थी- 'बेबीज डे आउट'। अब आप पूछेंगे कि इसका विचार (आइडिया) उन्हें कहां से मिला? हो सकता है पैट्रिक ने कोई ऐसी कहानी पढ़ी हो और उन्होंने सोचा हो कि अगर कोई बच्चा ऐसा सचमुच में करे तो? हो सकता है किसी नटखट बच्चे की किसी शैतानी को देख कर उनके मन में यह विचार (आइडिया)

आया हो? या हो सकता है वे अपहरणकर्ताओं को लेकर कोई कॉमेडी फिल्म बनाना चाह रहे हों और उन्हें सूझा हो कि इसका नायक एक ऐसा बच्चा रखा जाए, जो सिर्फ घुटनों के बल चल पाता हो।

विचार (आइडिया) कहीं से भी मिल सकता है। किसी घटना को देख-सुन कर, किसी कहानी, इतिहास, पुरा कथा को पढ़ कर या किसी फिल्म आदि को देख कर। यह एक बहुत स्वाभाविक सी प्रक्रिया है, जो इन तमाम परिस्थितियों से दो-चार होते हुए अपने आप ही फूट पड़ती है।

एक दिन मशहूर पटकथाकार जोड़ी सलीम-जावेद किसी हॉल में 'राम और श्याम्' फिल्म देख रहे थे। इस फिल्म में दिलीप कुमार का डबल रोल है। उन्होंने जुड़वा भाइयों का किरदार निभाया है। एक भाई हद दर्जे का सीधा है और दूसरा निहायत चतुर। दोनों भाई बचपन में बिछड़ जाते हैं। सीधे भाई को सभी लोग सताते हैं और मज़ा लेते हैं। एक दिन एक नाटकीय् घटनाक्रम में दोनों भाई आपस में बदल जाते हैं। सीधा वाला तेज वाले की जगह पहुंच जाता है और तेज वाला सीधे वाले की जगह। तब बड़ी मजेदार घटनाएं घटती हैं। तेज वाला भाई उन सभी को मजा चखाता है, जो उसके भाई को पूर्व में छेड़ा करते थे। इस आश्चर्यजनक परिवर्तन से सभी लोग हैरान होते हैं। अन्त में दोनों भाइयों का मिलन हो जाता है। तब उन्हें समझ में आता कि यह सब क्या चक्कर था।

इस फिल्म को देखने के बाद सलीम-जावेद के मन में यह विचार (आइडिया) आता है कि अगर इस कहानी में भाइयों का किरदार बहनों को थमा दिया जाए, तो? वे अपना यह विचार (आइडिया) फिल्मकार रमेश सिप्पी को सुनाते हैं। रमेश सिप्पी को बात जम जाती है और इस तरह से एक नई फिल्म 'सीता और गीता' तैयार हो जाती है।

कहने का आशय यह है कि हमारे चारों ओर विचारों (आइडियाज) की भरमार है। जरूरत है तो सिर्फ एक पारखी नज़र की। जिस प्रकार कचरा बीनने वाला लड़का कूड़े के ढ़ेर से अपने मतलब की चीज छाँट लेता है, उसी प्रकार एक अच्छा पटकथाकार यहाँ-वहाँ से अपने मतलब के विचार (आइडिया) निकाल लेता है।

देखें-सुनें-पढ़ें

भारत में बनने वाली ज्यादातर फिल्में किसी न किसी स्तर पर दूसरी भाषाओं की फिल्मों से प्रेरित होती हैं और इसमें भी सबसे बड़ी संख्या हॉलीवुड की फिल्मों की है। इस क्रम में 'सत्ते पे सत्ता', 'शोले', 'कर्मा', 'अग्निसाक्षी', 'चाची 420',

'चायना गेट' व 'हम आपके दिल में रहते हैं' जैसी सैकड़ों फिल्मों के नाम गिनाये जा सकते हैं। जब भी कोई हॉलीवुड की नई फिल्म रिलीज होती है, उसे फिल्मी दुनिया के लोग सबसे पहले देखते हैं और जहाँ किसी को कोई विचार (आइडिया)/दृश्य (सीन) पसंद आता है, वह उसकी डायरी में नोट हो जाता है। बहुत से लोग तो सिर्फ यही काम ही करते हैं, यानी पुरानी से पुरानी फिल्में देखना, उनके विचार (आइडिया)/दृश्य (सीन) नोट करना और फिर उन्हें इधर-उधर खपा देना। कई बार ऐसा होता है कि कोई निर्माता या निर्देशक हॉलीवुड की किसी फिल्म से इतना प्रभावित हो जाता है कि वह उस कहानी को भारतीय पृष्ठभूमि में हूबहू उतार कर नई फिल्म तैयार कर देता है।

आपको लग सकता है कि यह चोरी वाला काम हुआ। लेकिन नहीं। फिल्म जगत में विचारों (आइडिया) की चोरी, चोरी नहीं मानी जाती क्योंकि जब किसी विदेशी विचार (आइडिया) को भारतीय फिल्मों में आजमाया जाता है, तो उसकी पृष्ठभूमि बदल जाती है। पृष्ठभूमि के बदल जाने से फिल्म को एक नया कलेवर मिल जाता है। भारतीय फिल्म इतिहास में मील का पत्थर मानी जाने वाली फिल्म 'शोले' इसका एक सशक्त उदाहरण है, जिसमें एक रिटायर्ड पुलिस अधिकारी डाकुओं से लड़ने के लिए दो सजायाफ्ता मुजरिमों को किराये पर लाता है। शायद आपको पता नहीं, यह विचार (आइडिया) हॉलीवुड की मशहूर फिल्म 'द डर्टी डजन' से लिया गया है। लेकिन इसके बावजूद क्या आप 'शोले' को विदेशी फिल्म कहेंगे? नहीं। क्योंकि उसमें बड़ी कुशलता के साथ भारतीय परिवेश को मिला दिया गया है और यही पटकथाकार (सलीम-जावेद) की सबसे बड़ी सफलता है।

एक सजग पटकथाकार अपने आस-पास के माहौल के प्रति बहुत चौकन्ना रहता है। कौन व्यक्ति किस तरह से क्रिया कर रहा है, कौन व्यक्ति किस तरह से प्रतिक्रिया कर रहा है, किस परिस्थिति में लोग कैसा व्यवहार करते हैं और कौन सी परिस्थितियों में लोग किस तरह से रंग बदलते हैं, यह सारी जानकारियां पटकथाकार के दिमाग में संचित होती रहनी चाहिए। क्योंकि कोई भी पटकथाकार व्यापक जीवन अनुभव के बिना अपनी पटकथा में जीवन के वास्तविक रंग नहीं भर सकता है।

विख्यात पाश्चात्य विद्वान जोसफ कैम्पबेल, जिन्होंने संसार भर की मिथक कथाओं का गम्भीरता से अध्ययन किया था, अपनी पुस्तक 'दि हीरो विद थाउजेंड फेसेस' (The Hero with thousand faces) में लिखते हैं कि संसार की सभी कथाएं मूलतः एक ही हैं, जो अनन्त बदलावों के साथ संसार के अलग-अलग देशों में

अलग-अलग ढंग से कही जाती हैं। कुछ विद्वानों ने ऐसी कथा-वस्तुओं (प्लौट्स) की कुल संख्या तैंतीस मानी है जो अलग-अलग देशों में वहां के देश-काल और समाज के अनुसार अपना स्वरूप बदलती रहती हैं। प्रसिद्ध साहित्यकार और पटकथाकार मनोहर श्याम जोशी के शब्दों में, 'इन्हीं प्लॉट/आइडिया में से आइडिया निकलता है। अक्सर दो आइडियाज को मिला कर तीसरा आइडिया बन जाता है। कभी-कभी किसी आइडिया को पलट देने से एकदम नया आइडिया निकल आता है।'[8]

इसलिए पटकथा लेखक के लिए एक अच्छा पाठक होना बहुत आवश्यक है। साहित्य की दो महत्वपूर्ण विधाएं कहानी और उपन्यास अक्सर फिल्मकारों को आकर्षित करती रही हैं। इनसे लिए गये विचार (आइडिया) को आधार बना कर अक्सर फिल्मों का निर्माण होता रहा है। इनमें 'तीसरा पत्थर', 'सारा आकाश', 'दुविधा', 'रजनीगंधा', 'देवदास' और 'परिणीता' जैसी फिल्में प्रमुख हैं।

साहित्यिक कहानियों के साथ-साथ ऐतिहासिक घटनाओं, परी कथाओं, लोक कथाओं और पुराण कथाओं में नाटकीयता के सूत्रों की भरमार होती है। मनोहर श्याम जोशी के शब्दों में-

'पौराणिक कथाओं में न केवल नाटकीयता के नुस्खे मिलते हैं, बल्कि पटकथा का बुनियादी ढांचा भी। परीकथाएं, लोक कथाएं, मिथक-पुराण की कथाएं सभी देशों में लगभग एक जैसी हैं और सर्वथा काल्पनिक होने या ऐतिहासिक पात्रों और घटनाओं को कल्पना के रंग में रंग कर और बहुत बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत करने के बावजूद श्रोता या पाठक को सच से भी ज्यादा सच लगती हैं। उनका काल्पनिक सत्य एक सार्वभौम, सर्वग्राह्य, सनातन और आदर्श किस्म का सत्य है, इसीलिए मिथकीय तेवर पटकथा के लिए आदर्श तेवर माना गया है।'[9]

पत्र-पत्रिकाओं का अध्ययन भी पटकथाकार के लिए काफी फायदेमंद होता है। इनसे न सिर्फ सामाजिक/अपराधिक गतिविधियों की पूरी जानकारी मिलती रहती है, बल्कि यह भी पता चलता है कि कौन सा विषय/मुद्दा जनता को सीधे अपील करता है। यानी कि इससे आम आदमी की नब्ज पकड़ने में काफी मदद मिलती है।

विचार (आइडिया) का विस्तार (वन मिनट स्टोरी)

विचार (आइडिया) एक बीज के समान है। जब आप बीज को जमीन में दबा देते हैं, उसे उचित नमी आदि मिलती है, तो उसमें से अंकुर फूटता है। इस अंकुर को ही 'वन मिनट स्टोरी' का नाम दिया गया है। इस प्रकार 'वन मिनट स्टोरी' विचार (आइडिया) से आगे की घटना है, जिसमें आपकी कहानी के मुख्य-मुख्य पात्र निर्धारित

हो जाते हैं। मुख्य घटनाएं सुनिश्चित हो जाती हैं और साथ ही साथ यह भी लगभग तय हो जाता है कि आपकी कहानी किस तरह से आगे बढ़ेगी। अर्थात परिचय (इंट्रोडक्शन), उलझाव (कॉम्प्लीकेशन) व परिणति (रेजोल्यूशन) की यात्रा किस प्रकार तय करेगी।

परिचय (इंट्रोडक्शन) वाले खण्ड में कहानी अपने पात्रों से परिचय कराते हुए आगे बढ़ती है। इस खण्ड में मुख्य पात्रों के अपने स्वार्थ, उनके लक्ष्य और एक दूसरे से आपसी सम्बंधों का परिचय मिलता है। जैसे-जैसे कहानी आगे बढ़ती है, पात्रों का आपस में द्वन्द्व प्रारम्भ हो जाता है। सभी पात्र एक दूसरे से उलझने लगते हैं और उनकी दुश्वारियां बढ़ने लगती है। इसीलिए इस दूसरे खण्ड को उलझाव के नाम से जाना जाता है। इसके बाद शुरू होता है संघर्ष का असली दौर यानी कहानी का अन्तिम खण्ड। इस खण्ड में मुख्य पात्र (नायक/नायिका) के सामने संकट की घड़ी उत्पन्न हो जाती है। क्रिया-प्रतिक्रिया का दौर चरम पर पहुंच जाता है, जिससे कहानी में चरमोत्कर्ष की स्थिति आ जाती है। पात्रों की आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया से होते हुए कहानी समाधान की ओर बढ़ती है। संकट की घड़ी से लेकर समाधान निकलने की बेला तक के समस्त कालखण्ड को निष्पत्ति अथवा परिणति (रेजोल्यूशन) के नाम से पुकारा जाता है। जब इन सारी चीजों को बहुत संक्षेप में लिख दिया जाता है, तो वह लघुकथा (वन मिनट स्टोरी) बन जाती है। लघुकथा (वन मिनट स्टोरी) से आशय है, ऐसी कहानी, जो एक मिनट में सुनी या पढ़ी जा सके।

राजू एक भोला-भाला युवक है, जो डफ बजा कर लोगों का मनोरंजन करता है। एक दिन उसे रास्ते में घायल अवस्था में डाकुओं के एक गिरोह का सरदार मिला जाता है। राजू सरदार की मदद करता है। वह उसे पानी पिलाता है और अपना खाना खिलाता है। तभी उस गिरोह के बिछड़े हुए डाकू वहां आ जाते हैं। वे अपने सरदार तथा राजू को अपने अड्डे पर उठा ले जाते है। डाकुओं की टोली के सभी सदस्य राजू को पुलिस का आदमी समझते हैं और उसे मार देना चाहते हैं, लेकिन सरदार उनकी बातों से सहमत नहीं होता। वह कहता है कि मैंने इसका नमक खाया है और यह जब तक चाहे, यहां रह सकता है। राजू की मासूमियत देख कर सरदार की लड़की कम्मो उससे प्यार करने लगती है। राजू डाकुओं से घृणा करता है और वहां से जाना चाहता है। इस पर कम्मो उसे बताती है कि हम लोग अमीरों को लूट कर गरीबों में बांटते हैं और यह पुण्य का काम है।

सरदार के घायल होने के कारण गिरोह की कमान राका के हाथ में आ जाती है। वह एक दिन डकैती में राजू को भी साथ ले जाता है। वहाँ पर मासूमों की हत्या

देख कर राजू द्रवित हो जाता है। वह पुलिस सुपरिटेंडेंट से जाकर मिलता है और उनसे डकैती में होने वाले खून-खराबे को रोकने की गुजारिश करता है। पुलिस सुपरिटेंडेंट कहता है कि वह सभी डाकुओं को पकड़ कर उन्हें फाँसी पर लटकवा देगा। राजू इससे चिंतित हो जाता है और डाकुओं को इससे आगाह करने उनके अड्डे पर जाता है।

इसी बीच राका अपने सरदार का कत्ल कर देता है। वह कम्मो से शादी करने और राजू की बलि चढ़ाने की घोषणा करता है। राजू और कम्मो वहाँ से फरार होकर पुलिस स्टेशन पहुँच जाते हैं। उन्हें पुलिस सुपरिटेंडेंट से पता चलता है कि डाकुओं को खत्म करने की योजना बनाई गयी है। डाकुओं को बचाने के लिए राजू राका के पास जाता है और उससे आत्मसमर्पण करने को कहता है। राका राजू को पकड़ लेता है और पुलिस सुपरिटेंडेंट के पास खबर भिजवाता है कि वह कम्मो को छोड़ दे, नहीं तो राजू को मार डालेगा।

अपने बुद्धि चातुर्य से राजू डाकुओं को आत्मसमर्पण के लिए तैयार कर लेता है। उधर पुलिस सुपरिटेंडेंट कम्मो पर दबाव बना कर राका के अड्डे का पता मालूम करके उन्हें घेर लेता है। राका डाकुओं से मुकाबला करने के लिए कहता है, लेकिन बच्चे और महिलाएं उनके आगे आ जाते हैं। मजबूर होकर सारे डाकू हथियार डाल देते हैं। पुलिस सुपरिटेंडेंट खुले मन से राजू की तारीफ करते हैं और वे आश्वासन देते हैं कि डाकुओं की सजा कम करवाने की वे पूरी कोशिश करेंगे।

यह है राजकपूर की मशहूर फिल्म 'जिस देश में गंगा बहती है' की लघुकथा (वन मिनट स्टोरी)। हालांकि हिन्दी में डाकुओं पर बेतादात फिल्में बनी हैं, किन्तु यह फिल्म उन सभी से अलग हट कर है और शायद यही इस फिल्म की सफलता का सबसे बड़ा राज भी था।

कुछ समय पूर्व अखबार में एक रोचक घटना छपी थी- 'पति ने किया पत्नी का कन्यादान'। हुआ यूं कि एक लड़की अपने पड़ोस में रहने वाले किसी लड़के से प्यार करती थी। माँ बाप को जब यह बात पता चली, तो वे बहुत नाराज हुए और उन्होंने लड़की की शादी किसी दूसरी जगह कर दी। लड़की अपनी ससुराल चली गयी, लेकिन वह अपने प्रेमी को अपने दिल से नहीं निकाल पायी। शारीरिक रूप से तो वह अपने पति के साथ रहती है, लेकिन उसका मन हमेशा अपने प्रेमी के पास भटकता रहता है। उसका पति बहुत समझदार व्यक्ति था। उसे जब सारी बात पता चली, तो उसने अपनी पत्नी की शादी उसके पूर्व प्रेमी से करवा दी।

यह अपनी तरह की बिल्कुल अनोखी घटना है। इसी विचार (आइडिये) पर बनी थी फिल्म 'हम दिल दे चुके सनम'। लेकिन मूल विचार (आइडिये) से फिल्म के कथानक में यह बदलाव किया गया था कि शादी के बाद जब पति को अपनी पत्नी के प्रेमी के बारे में पता चलता है, तो वह उसकी तलाश शुरू कर देता है। अपने पति के प्यार और उसे खुश रखने की भावना देख कर धीरे-धीरे पत्नी को पति से प्यार हो जाता है और जब पति उसके सामने प्रेमी को लाकर खड़ा कर देता है, तो पत्नी उसके साथ जाने से इनकार कर देती है।

पटकथाकार को हमेशा नए विचारों (आइडियाज) की तलाश में रहना चाहिए। ऐसे विचार (आइडिया), जो सत्य घटनाओं पर आधारित हों और लोगों को सीधे अपील करते हों। किन्तु सत्य घटनाओं को पटकथा का आधार बनाने में एक चीज का सदैव ध्यान रखना चाहिए। यदि विचार (आइडिया) किसी व्यक्ति विशेष और घटना विशेष (जैसे दिल्ली का प्रसिद्ध तंदूर कांड, तेलगी का स्टैम्प घोटला या लालू यादव का चारा घोटाला) पर आधारित हो, तो वहाँ पर अपनी कल्पना के घोड़ों को जरा बांध कर रखना चाहिए। इस तरह की घटनाओं को आधार बनाने के लिए जरूरी है कि उससे सम्बन्धित रिसर्च किया जाए। यह पता लगाने की कोशिश की जाए कि इसके पीछे किसका हाथ है? क्या कारण थे? या इसे किस उद्देश्य से किया गया है आदि-आदि। तथ्यों के आधार पर ही कहानी को बढ़ाया जाए। इससे न सिर्फ कहानी की प्रामाणिकता बढ़ जाती है, वरन आम आदमी का जुड़ाव भी उससे हो जाता है।

असगर वजाहत और प्रभात रंजन के शब्दों में- 'अगर लालू प्रसाद यादव और भ्रष्टाचार की कहानी आप लिखना चाहते हैं, तो रिसर्च करके उनकी अदाएं, उनके तकिया कलाम, उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि आदि की जानकारी आपको इकट्ठा कर लेना चाहिए। इस तरह के रिसर्च का सबसे बड़ा फायदा यह होता है कि आपकी कहानी में एक प्रकार की प्रामाणिकता आ जाती है और घटनाएं यथार्थ प्रतीत होती हैं।'[10]

ब्यौरेवार विवरण (ट्रीटमेन्ट नोट)

ब्यौरेवार विवरण (ट्रीटमेन्ट नोट) का आशय है कहानी से सम्बन्धित प्रमुख विवरण। अर्थात् आपकी कहानी का घटनास्थल कहाँ का है? कहानी किस समय में घटित हो रही है? उसके मुख्य पात्र क्या हैं? अन्य पात्रों से उसके कैसे सम्बन्ध हैं और किन-किन घटनाक्रमों से होती हुयी कहानी किस प्रकार से आगे बढ़ती है? इसके अतिरिक्त कहानी में यदि कोई ऐसा बिन्दु हो, जोकि दर्शकों के लिए एकदम नया हो,

जैसे कोई लोकेशन, कोई घटना, कोई विशेष दृश्य, कोई खास प्रभाव (स्पेशल इफेक्ट) हो, तो उसका भी उल्लेख ब्यौरेवार विवरण (ट्रीटमेन्ट नोट) में किया जाता है। इसे लिखते समय जिन दो चीजों पर सबसे ज्यादा जोर दिया जाता है, वह है फिल्म का वातावरण (आम्बियांस) अर्थात् देश-काल-समय और नयापन उभारने वाले प्रमुख तत्व (हाइलाइट्स)। चूंकि ज्यादातर कहानियाँ एक जैसी होती हैं, इसलिए फिल्म की कहानी में नयापन भरने और उसे विशिष्टता प्रदान करने के लिए इनकी सबसे ज्यादा जरूरत पड़ती है।

फिल्म लेखन के दौरान यही एक जगह है, जहाँ पर लेखक को अपनी साहित्यिक प्रतिभा दिखाने का पूरा मौका मिलता है, इसीलिए ब्यौरेवार विवरण (ट्रीटमेन्ट नोट) काफी विस्तार से लिखा जाता है। यही कारण है कि यह 15-20 से लेकर 30-35 पेज तक पहुंच जाता है। वैसे इसके लिखने का मुख्य उद्देश्य होता है प्रस्तावित सम्भावनाओं को चिन्हित करना। ब्यौरेवार विवरण (ट्रीटमेन्ट नोट) की सफलता पर ही फिल्म की सारी सम्भावनाएं निर्भर करती हैं, इसलिए यह अतिरिक्त गम्भीरता की मांग करता है।

अपने नये विषय, नये वातावरण और नये संघर्ष के कारण 'किंगकांग' इस दृष्टि से एक उल्लेखनीय फिल्म है। यह पहली फिल्म है, जो विशालकाय जानवर को केन्द्र में रख कर बनायी गयी थी। वस्तुतः 'किंगकांग' एक व्यापारी की सनक का परिणाम है, जो एक अनजान द्वीप के ऊपर जमी भाप की सैटेलाइट फोटो देख कर वहां तेल की खोज में पहुंच जाता है। उस द्वीप पर रहने वाले आदिवासी खोजी दल की महिला सदस्य का अपहरण करके एक विशाल वानर 'किंगकांग', जोकि सामान्य वानर की तुलना में सौ गुना बड़ा है, को भेंट कर देते हैं। व्यावसायिक फिल्म बना कर पैसा कमाने के उद्देश्य से खोजी दल उसे पकड़ कर शहर ले जाता है। शहर पहुंचते ही 'किंगकांग' आतंक मचा देता है। अंत में उसे मार गिराया जाता है।

'किंगकांग' फिल्म में उस वानर की गतिविधियों के अतिरिक्त समुद्री वातावरण, आदिवासियों के प्रसंग और 'किंगकांग' द्वारा नायिका के प्रति उमड़ी भावनाएं और उसका आतंक ही फिल्म की हाइलाइट्स थीं। इन्हीं सब वजहों के कारण यह फिल्म अपने समय की जबरदस्त सफल फिल्म रही।

जब भी किसी फिल्मकार ने नये विषय को लेकर बिल्कुल नए वातावरण में किसी फिल्म का सृजन किया, सफलता के नए मानदण्ड स्थापित होते चले गये। चाहे वह जार्ज लुकास की 'स्टार वार्स' हो, स्टेनले क्यूबिक की '2001 : ए स्पेस ओडिसी'

हो, स्टीवन स्पिलबर्ग की 'शिंडलर्स लिस्ट' हो, वार्नर ब्रदर्स की 'मैट्रिक्स' हो या फिर बॉलीवुड की 'दस्तक', 'मदर इंडिया', 'मुगले आजम', 'शोले', 'दिल वाले दुल्हनियाँ ले जाएंगे' अथवा 'लगान' ही क्यों न हो, सभी जगह पर यह बात समान रूप से लागू होती है।

'स्टार वार्स' अपनी जबरदस्त कल्पना, जादुई वातावरण, हैरतअंगेज फिल्मांकन और गजब के विशिष्ट प्रभाव (स्पेशल इफेक्ट्स) के कारण विश्व की सर्वश्रेष्ठ फिल्मों में शुमार की जाती है। विश्व सिनेमा के इतिहास में किसी दूसरे फिल्मकार को जार्ज लुकास जैसी सफलता कभी नसीब नहीं हुई। 'स्टार वार्स' एक विचार (आइडिया) है, जिस पर कुल 6 फिल्में बनीं। इनके नाम हैं– 'स्टार वार्स', 'द एम्पायर स्ट्राइक्स बैक', 'रिटर्न् आफ द जेडी', 'एपीसोड-1 द फैंटम मिनेस', 'एपीसोड-2 अटैक आफ द क्लोन' और 'एपीसोड-3 रिवेंज आफ द सिथ।'

इसी प्रकार, 'मैट्रिक्स' शृंखला की तीनों फिल्में (मैट्रिक्स, मैट्रिक्स रिलोडेड व मैट्रिक्स रिवोल्यूशन) भी इस दृष्टिकोण से विशेष उल्लेखनीय हैं। ये तीनों फिल्में भविष्य की कहानी कहती हैं, जिसमें नायक मनुष्य को गुलाम बना चुकी मशीनों के खिलाफ संघर्ष करता है। कम्प्यूटर एनीमेशन पर आधारित इसका जादुई वातावरण, पल-पल नित नए चमत्कारिक करतब दिखाते पात्र और मानवीय सोच की चरम-सीमा पर जन्मती घटनाएं 'मैट्रिक्स' के प्रमुख तत्व (हाइलाइट्स) हैं, और शायद यही इसकी सफलता के सबसे बड़े कारण भी हैं।

जिस प्रकार स्टीवन स्पिलबर्ग ने 'शिंडलर्स लिस्ट' की मार्मिकता को रेखांकित करने के लिए श्वेत/श्याम (ब्लैक/व्हाइट) माध्यम चुना था, उसी प्रकार पटकथाकार से फिल्मकार बने राजेन्द्र सिंह बेदी ने अपनी पहली फिल्म 'दस्तक' की आहटों को दर्ज करने के लिए श्वेत/श्याम माध्यम का सहारा लिया था। 'दस्तक' एक ऐसे नवविवाहित युगल की कहानी है, जो वेश्याओं की बस्ती (रेड लाइट एरिया) के एक मकान, ज़ोकि पूर्व में मुन्नीबाई के कोठे के रूप में प्रतिष्ठित था, में रहने लगते हैं। वहाँ का माहौल, वहाँ की संस्कृति और एक नव विवाहित जोड़े की मानसिक स्थिति 'दस्तक' के प्रमुख तत्व (हाइलाइट्स) के रूप में निकल कर सामने आए। जिसने उसे देखा, बस देखता रह गया। नतीजे में फिल्म को सफलता तो हाथ लगनी ही थी। इसके साथ ही साथ 'दस्तक' ने एक बात यह भी बता दी कि अगर फिल्म की कथावस्तु (सब्जैक्ट) में नयापन हो और पटकथा दमदार हो, तो फिल्म की सफलता की सम्भावना कई गुना बढ़ जाती है।

सार संक्षेप (सनाप्सेज)

जब कोई लेखक किसी फिल्म अथवा धारावाहिक का प्रस्ताव लेकर किसी निर्माता/निर्देशक से मिलता है, तो वह कहानी का सार संक्षेप (सनाप्सेज) उसके सामने प्रस्तुत करता है। सार संक्षेप (सनाप्सेज) एक तरह से कहानी का निचोड़ होता है और वह कहानी की समस्त विशेषताओं को एक जगह पर जमा कर देता है। फिल्म अथवा धारावाहिक के सार संक्षेप (सनाप्सेज) में निम्न बिन्दुओं को सम्मिलित किया जाता है-

1. कहानी।
2. मुख्य कथा-वस्तु (मेन प्लाट)।
3. उपकथानक (सब प्लाट)।
4. महत्वपूर्ण घटनाएं (मेन कैरेक्टर ग्राफ)।
5. कहानी का 3 अंकीय ढांचा।
6. हीरो का मानसिक बदलाव (इमोशनल सबटेक्स्ट)।
7. कहानी का प्रधान स्वर (थीम) और आधारिका (प्रोमाइज)।

कहानी और मुख्य कथावस्तु में फर्क को समझने के लिए 'मुगले आज़म' सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इसमें कहानी तो यह है कि सलीम अनारकली के प्यार में इतना दीवाना हो जाता है कि अपने पिता की सल्तनत से विद्रोह कर देता है। जबकि इसकी मुख्य कथावस्तु है बाप और बेटे के बीच का संघर्ष। इस फिल्म में सलीम और अनारकली के बीच की कहानी उप कथानक है और यह मुख्य कहानी में धार पैदा करने का काम करती है। सार संक्षेप में दी जाने वाली महत्वपूर्ण घटनाएं (मेन कैरेक्टर ग्राफ) से आशय है कि मुख्य पात्रों के साथ कौन-कौन सी मुख्य घटनाएं घटती हैं और वह किस तरह से उनका सामना करता है। जबकि हीरो के मानसिक बदलाव (इमोशनल सब टेक्स्ट) में यह बताया जाता है कि उन घटनाओं का सामना करते हुए हीरो के विचारों में क्या बदलाव आता है और वह मानसिक स्तर पर क्या-क्या महसूस करता है।

किसी भी निर्माता-निर्देशक के पास इतना समय नहीं होता कि वह आपकी पूरी पटकथा का अध्ययन करे, इसीलिए सार संक्षेप (सनाप्सेज) का सहारा लिया जाता है। इसीलिए यह पटकथाकार से अतिरिक्त श्रम की मांग करता है। सार संक्षेप (सनाप्सेज) न ज्यादा छोटा होना चाहिए और न बड़ा। इसके लिए टाइप किये हुए चार पृष्ठ उचित माने जाते हैं।

सन्दर्भ सूची

1. 'मीरा', पृष्ठ-13
2. 'स्क्रीन प्ले', पृष्ठ-7
3. 'सिनेमा के बारे में' (साक्षात्कार), पृष्ठ-37
4. गुलजार, 'मीरा', पृष्ठ-13
5. 'भारतीय सिने सिद्धान्त', पृष्ठ-168
6. मनोहर श्याम जोशी, 'पटकथा लेखन : एक परिचय', पृष्ठ-16
7. 'टेजीविजन लेखन : सिद्धान्त और प्रयोग, पृष्ठ-4
8. विनय शुक्ला, 'पटकथा लेखन कार्यशाला, 17-22 अक्टूबर, 2005, फिल्म बंधु, लखनऊ
9. 'पटकथा लेखन : एक परिचय', पृष्ठ-51
10. 'टेलीविजन लेखन', पृष्ठ-3

अध्याय-2

कहानी का क्रमिक विकास

साहित्यिक सिद्धान्तों के अनुसार कहानी के तीन मुख्य भाग होते हैं- प्रारम्भ, मध्य और अंत। इसे ही फिल्म की भाषा में तीन अंकीय ढ़ांचा (थ्री ऐक्ट स्ट्रक्चर) के नाम से जाना जाता है। कहानी के प्रारम्भिक भाग में हमें उसके पात्र, वातावरण और विषय से परिचय प्राप्त होता है। मध्य भाग में कहानी अपने पात्रों और स्थितियों को लेकर आगे बढ़ती है और उसमें जटिलताएं उत्पन्न होने लगती हैं। तीसरे तथा अन्तिम भाग में घटनाएं अपने चरम पर पहुंच जाती हैं। पात्रों में द्वन्द्व होता है और फिर उसकी परिणति हो जाती है।

कुछ कहानियाँ अपने चरमोत्कर्ष से शुरू होती हैं। उसके बाद में कहानी फ्लैश बैक में चली जाती है और प्रारम्भ से शुरू होकर पुनः चरमोत्कर्ष पर पहुंचती हुयी परिणति को प्राप्त होती है। ज्यादातर फिल्मों की कहानी पहले तरीके पर ही आधारित होती है, किन्तु बहुत सी ऐसी भी फिल्में हैं, जो अंत से शुरू करने के कारण ज्यादा प्रभावी बन पड़ी हैं। 'नाम', 'आखिरी रास्ता', 'दिल चाहता है', 'द लीजेंड आफ भगत सिंह' और 'वीर जारा' फिल्में इसी श्रेणी में आती हैं।

कहानी कहने का एक अन्य तरीका भी है, जो रहस्य-रोमांच (सस्पेंस और थ्रिलर) फिल्मों में इस्तेमाल किया जाता है। इस तरह की कहानियों में घटना दर घटना होती जाती है, लेकिन यह ज्ञात नहीं हो पाता कि इस सबके पीछे किसका हाथ है। यह रहस्य कहानी के अन्त में जाकर खुलता है। इस तरह की कहानी के लिए 'इत्तेफाक', 'धुंध', 'बीस साल बाद', 'गुप्त', 'सोल्जर' आदि फिल्मों के नाम गिनाये जा सकते हैं। कहानी कहने के इन तीनों ढ़ंगों में तीन अंकीय ढ़ांचा स्पष्ट रूप से मौजूद रहता है।

कहानी की भूमिका (पहला अंक)

किसी भी फिल्म का प्रारम्भ यानी पहला अंक बहुत मायने रखता है। इसे 'सेट-अप' के नाम से भी जाना जाता है। सामान्यतः इस खण्ड में नायक और नायिका का विस्तृत परिचय दर्शकों को मिल जाता है। वे क्या करते हैं, उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि क्या है, उनका व्यक्तित्व कैसा है, उनकी विचारधारा क्या है, उनका क्या उद्देश्य है आदि-आदि। नायक एवं नायिका के आपस में क्या संबन्ध हैं, उनके

सहयोगी पात्र कौन-कौन से हैं और उन सहयोगी पात्रों से उनके कैसे सम्बन्ध हैं, फिल्म किस काल-खण्ड (समय, स्थान, वातावरण) पर आधरित है, उसकी कहानी किस विषय पर बुनी गयी है, ये तमाम बातें भी फिल्म के पहले भाग को देख कर जानी जा सकती हैं।

फिल्म का पहला खण्ड परिचयात्मक दृष्टिकोण से तैयार होता है, इसलिए उसमें चरित्र-चित्रण पर विशेष जोर दिया जाता है। प्रमुख पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं (सकारात्मक और नकारात्मक दोनों) को चित्रित करने संबंधी दृश्य इसी खण्ड में पिरोये जाते हैं। कहानी के आगे के खण्डों मे होने वाली समस्त घटनाओं एवं पात्रों की कार्यविधियों को तर्कपूर्ण बनाने वाली तमाम क्रियाओं के बीज रोपने का कार्य भी फिल्म के इसी भाग में सम्पन्न होता है।

आदर्श पटकथा के गुणों से सुसज्जित फिल्म 'ज्वैलथीफ' रहस्य और रोमांच पर आधारित एक उत्कृष्ट फिल्म है। नायक विनय, मुम्बई पुलिस कमिश्नर का एक बिगड़ैल लड़का है, जिसे कीमती पत्थर जमा करने का शौक है। पढ़ाई-लिखाई में दिल नहीं लगने के कारण पिता उसे घर से निकाल देता है। पूरी मुम्बई में सुनारों की दुकानों में ताबड़तोड़ चोरियां होती हैं, लेकिन चोर पकड़ में नहीं आता है। इससे पुलिस विभाग की काफी थू-थू होती है। इससे चिढ़ कर पुलिस कमिश्नर (विनय का पिता) ये प्राण करता है मैं 26 जनवरी तक अगर 'ज्वैलथीफ' को नहीं पकड़ सका, तो नौकरी से इस्तीफा दे दूंगा।

विनय की पारखी नजरों का कायल होकर सोने का एक व्यापारी सेठ विश्म्भर उसे 10 हजार रुपये माहवार की नौकरी दे देता है। सेठ की लड़की अंजली के जन्मदिन की पार्टी में सेठ का दोस्त और उसकी बहन शालिनी विनय को अमर समझ बैठते हैं। अमर के साथ पूर्व में शालिनी की सगाई हो चुकी है। अमर के दाएं पैर में छः अंगुलियां हैं। विनय का दाहिना पैर देखने पर यह शक दूर हो जाता है कि वह अमर नहीं है। शालिनी और उसका भाई विनय से अपने व्यवहार के लिए माफी मांगते हैं।

रात में विनय को पता चलता है कि शालिनी कहीं चली गयी है। उसे खोजता हुआ विनय शालिनी के पास पहुंचता है और उसे सान्त्वना देता है। शालिनी विनय को अमर के कपड़े देती है। विनय शालिनी की खुशी के लिए उन्हें पहन लेता है। उसका जी बहलाने के लिए घुमाने ले जाता है। विनय की ईमानदारी से खुश होकर सेठ विशम्भर विनय को हीरों की कटिंग करने वाला कमरा दिखाता है। विनय दो गुनी तनख्वाह पर हीरों की कटिंग की जिम्मेदारी संभाल लेता है।

पुलिस कमिश्नर शालिनी से उस अंगूठी के बारे में पूछताछ करता है, जो उसे सगाई के समय अमर ने दी थी। वह अंगूठी चोरी की निकलती है। शालिनी पर हमला होता है और हमलावर शालिनी की अंगूठी लेकर भाग जाते हैं। इन्हीं सब चक्करों में विनय को हीरा कटिंग के लिए पहुंचने में देर हो जाती है। दुकान पर उसकी सेठ से मुलाकात नहीं होती है, तो वह निराश होकर घर जाता है। घर पर सेठ की लड़की अंजली से मुलाकात होती है। थोड़ी देर में सेठ लौट कर आता है। वह घर में विनय को देख कर हैरान होता है और उससे पूछता है कि जब तुम दुकान में मेरे साथ बैठ कर हीरा काट रहे थे, तो फिर यहां मुझसे पहले कैसे आ गये? दोनों लोग दुकान पहुचंते हैं, तो वहां से सारे हीरे-जवाहारात गायब मिलते हैं। एक लड़का छिप कर उन लोगों की बातें सुनने का प्रयत्न करता है। उसे पैसों का लालच देने पर वह बताता है कि अमर हर रोज रात में 'रोमन नाइट्स क्लब' में आता है और वहां नाचने वाली लड़की के साथ रात बिताता है।

यहां पर फिल्म का पहला भाग समाप्त होता है और शुरू होता है दूसरा यानी मध्य भाग। इस पूरे खण्ड में यह रहस्य बना रहता है कि 'ज्वैलथीफ' कौन है? कहीं वह विनय ही तो नहीं? दूसरा सवाल यह उठता है कि यह अमर कौन है? वह सबके सामने क्यों नहीं आ रहा ? कहीं अमर ने ही पुलिस से बचने के लिए विनय का रूप तो नही रखा? कहीं अमर विनय का जुड़वा भाई तो नहीं, जिसकी शक्ल अमर से मिलती हो और वह उसका फायदा उठा रहा हो?

कहानी का मध्य भाग (दूसरा अंक)

किसी भी फिल्म का दूसरा खण्ड पहले की तुलना में बड़ा, उलझावपूर्ण और जटिल होता है। यहां पर कहानी बड़ी तेजी से आगे बढ़ती है। आमतौर से फिल्मों में खलनायक का आगमन दूसरे भाग में ही होता है। खलनायक अपनी किसी पुरानी दुश्मनी, अपने पेशे अथवा अपनी आदतों की वजह से नायक से उलझता है। यह उलझाव धीरे-धीरे बढ़ता ही जाता है और द्वन्द्व-प्रतिद्वन्द्व की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। इन प्रक्रियाओं के फलस्वरूप फिल्म में घटनाओं की झड़ी सी लग जाती है। दर्शकों के कुतूहल को बढ़ाने वाली ये घटनाएं कथानक की रोचकता में उत्तरोत्तर वृद्धि करती जाती हैं। मध्य भाग के समाप्त होते-होते मुख्य पात्रों के सामने संकट की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और वे संकट से पार पाने के लिए प्रयत्नशील होते हैं।

समय के नजरिए से देखा जाए तो जहां फिल्म का प्रथम भाग 25-30 मिनट में सिमट जाता है, मध्य भाग के लिए 60-70 मिनट की आवश्यकता होती है। आमतौर से मध्य भाग की इसी लम्बाई की वजह से यह खण्ड लड़खड़ा जाता है।

इस समय को भरने के लिए पटकथाकार अक्सर हास्य, सेक्स और द्वन्द्व का सहारा लेते हैं। अक्सर फिल्मों की मुख्य कहानी को तर्कपूर्ण न कर पाने के कारण इस प्रकार के दृश्यों से फिल्म में एक झोल सा पैदा हो जाता है। इस असंगति से बचने के लिए उचित तरीका यह है कि फिल्म में उन्हीं घटनाओं को महत्व दिया जाए, जो पात्रों के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों को उद्घाटित करती हों और साथ ही साथ कहानी को भी आगे बढ़ाने में सहायक हों। इस प्रक्रिया में छोटे-छोटे तनाव डालना और उन तनावों को बड़े तनाव से जोड़ देना एक बढ़िया तरीका है।

फिल्म 'ज्वैलथीफ' की पटकथा इसी बारीक सूत्र पर आधारित है। कहानी के दूसरे खण्ड में अमर को पकड़ने के लिए विनय क्लब में आता है। क्लब डांसर उसे अमर समझ कर अपने साथ ले जाती है। रात में अमर कमरे में आता है, लेकिन विनय की मौजूदगी के कारण वहां से भाग जाता है। बाद में अमर बाहर से फोन करके डांसर से विनय के बारे में पूछता है। विनय के कहने पर वह इससे इनकार करती है। अमर बताता है कि मैं पूना जा रहा हूँ, वहां से तुम्हें फोन करूंगा। अमर को पकड़ने के लिए विनय वीटी स्टेशन पहुंचता है। पूना की ट्रेन में उसकी मुलाकात शालिनी के भाई से होती है। शालिनी का भाई विनय को बताता है कि शालिनी के पास भी उसका फोन आया था, इसीलिए उसे खोजने मैं यहां आया हूँ।

पूना स्टेशन पर जूली विनय को अमर समझ कर अपने अड्डे पर ले जाती है। वे लोग एक व्यापारी को लूटते हैं। अखबार में विनय की फोटो अमर के रूप में छप जाती है। कुछ लोग विनय को अमर समझ पर पकड़ना चाहते हैं। शालिनी का भाई विनय को बचाता है। वह बताता है कि दो दिन से अमर उसके साथ था। दोनों लोग तुरन्त फ्लैट पर पहुंचते हैं, लेकिन वहां अमर नहीं मिलता है। तभी जूली वहां आ जाती है और विनय के रिवाल्वर लगा कर लूट के गहनों के बारे में पूछती है। शालिनी का भाई उसका रिवाल्वर छीन लेता है। शालिनी से पता चलता है कि अमर गैंगटोक चला गया है।

अमर को पकड़ने के लिए कमिश्नर, विनय और शालिनी का भाई गैंगटोक पहुंचते हैं। अमर की खोज में निकले विनय की मुलाकात शालिनी से होती है। विनय शालिनी व उसके भाई को विश्वास दिलाता है कि वह उसे अपना बनाएगा। एक होटल में विनय की मुलाकात अमर के गैंग की एक लड़की से होती है, जो उसके जाल से निकलना चाहती है। अमर उस लड़की के घर जाता है। वहां पर अमर पहले से मौजूद रहता है। वह उस लड़की को अपने भाई प्रिंस, जोकि वास्तव में उसका भाई नहीं है, के पास ले जाती है और उससे कहती है कि अब अमर तुम्हारे कब्जे में

आ गया है, इसलिए तुम मेरे भाई शिशु को छोड़ दो। इससे प्रिंस क्रोधित हो जाता है और शालिनी को भी उसके भाई के साथ बंद करवा देता है।

शालिनी अपने छोटे भाई की मदद से एक गुप्त सुरंग का पता लगा लेती है। वह विनय तक पहुंच जाती है और उसे बताती है कि वास्तव में अमर नाम का कोई व्यक्ति नहीं है। यह सब तुम्हें 'ज्वैलथीफ' के रूप में फंसाने के लिए किया गया। विनय, शालिनी और शिशु को लेकर वहां से भागता है, लेकिन पकड़ा जाता है। यहां पर फिल्म का दूसरा खण्ड समाप्त हो जाता है और शुरू होता है अन्तिम भाग। लेकिन इस दूसरे खण्ड के समाप्त होते-होते दर्शक के मन में बहुत सारे सवाल उठ खड़े होते है। पहला सवाल यह कि क्या प्रिंस विनय को अमर साबित कर पाएगा? दूसरा सवाल यह कि क्या विनय खुद को शालिनी और उसके छोटे भाई शिशु को प्रिंस की कैद से छुड़ा पाएगा? और तीसरा यह कि क्या विनय प्रिंस को गिरफ्तार कर उसके फैलाये मायाजाल को तोड़ने में कामयाब हो पाएगा?

कहानी का अन्तिम भाग (तीसरा अंक)

फिल्म के लिहाज से उसका अन्तिम भाग बहुत महत्वपूर्ण होता है। इस अंक में संकट (क्राइसिस), चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स) और परिणति (सोल्यूसन) के क्रमशः दर्शन होते हैं। यहां तक आते-आते सारी घटनाएं बड़ी तेजी से अपने समापन की भूमिका बनाने लगती हैं। पात्रों का संघर्ष अपने चरम पर पहुंच जाता है। कुछ समय के लिए दर्शकों की सांसे थम सी जाती हैं। कभी एक पक्ष मजबूत होता दिखता है, तो कभी दूसरा पक्ष। अंत में कुछ हैरतअंगेज कारनामे, कुछ अविश्वनीय प्रसंग, कुछ दिल छू लेने वाले संवाद और इस तरह फिल्म समाप्त हो जाती है।

तीसरे खण्ड के अंत में पहले से चली आ रही सारी समस्याएं सुलझ जाती हैं अथवा किसी ठोस नतीजे पर पहुंच जाती हैं। मुख्य कथानक के साथ-साथ चलने वाली उपकथाएं भी अपनी मंजिल पर पहुंच जाती हैं और दर्शकों की सारी शंकाओं/जिज्ञासाओं का समाधान हो जाता है। समयावधि की दृष्टि से तीसरे खण्ड को बहुत छोटा अथवा बहुत बड़ा नहीं होना चाहिए। इसके बहुत छोटा होने पर दर्शक मानसिक रूप से जब तक उसके लिए तैयार होता है, फिल्म खत्म हो जाती है। जबकि यह खण्ड बहुत बड़ा होने पर रोचकता में कमी आने लगती है, जिससे ऊब की स्थिति बनने लगती है। इसीलिए तीसरे खण्ड की आदर्श अवधि लगभग 20 मिनट की मानी गयी है।

'ज्वैलथीफ' का असली थीफ प्रिंस, विनय को अमर मनवाने के लिए उसे बिजली के झटके लगवाता है। विनय प्रिंस और डॉक्टर के बीच की बातचीत सुन लेता

है। वह याद्दाश्त खो जाने का नाटक करता है। प्रिंस और उसके साथी विनय को अमर होने का विश्वास दिलाते हैं। विनय अपनी योजना के अनुसार स्वयं को 'अमर' मान लेने का दिखावा करता है। वह पुलिस कमिश्नर को धमकाने के लिए उसके पास जाता है और उसे वहां से भाग जाने की सलाह देता है।

26 जनवरी के दिन विनय और शालिनी नाचने वाले के रूप में एक राजकुमार की ताजपोशी के कार्यक्रम में पहुंचते हैं। अमर बना विनय राजकुमार का मुकुट लूटता है। तभी अपने दल-बल के साथ पुलिस कमिश्नर वहां आ जाता है। विनय पर पुलिस वाले गोली चलाते हैं। वह जमीन पर गिर पड़ता है। अमर उर्फ ज्वैलथीफ के मर जाने की खुशी में प्रिंस अपने साथियों को इनाम देता है और वहां से भागने की तैयारी करता है। तभी विनय प्रिंस के कमरे में पहुंच जाता है, लेकिन प्रिंस विनय को चकमा देकर वहां से भागने में सफल हो जाता है।

पुलिस प्रिंस के अड्डे को चारों ओर से घेर लेती है। प्रिंस एक गुप्त रास्ते से निकल कर वहां से भागता है। वह पहाड़ी पर बने रनवे पर उड़ने के लिए तैयार जहाज में पहुंच जाता है। उसका पीछा करते-करते विनय भी वहां पहुंचता है। प्रिंस रायफल से विनय पर गोली चलाता है, लेकिन रायफल में नकली गोली होने के कारण विनय को कुछ नहीं होता। तभी पीछे से पुलिस कमिश्नर वहां आते हैं। वे बताते हैं कि विनय की बनाई गई योजना के कारण मैं समय से यहां पहुंच सका। वे प्रिंस को गिरफ्तार करके एक हाल में ले जाते हैं, जहां पर उसके सारे साथी पहले से मौजूद हैं। सेठ विशम्भर की लड़की अंजली, जोकि विनय की दोस्त भी है, वह शालिनी को लेकर वहां आती है और शालिनी का हाथ विनय के हाथ में दे देती है। इसी के साथ फिल्म समाप्त हो जाती है।

फिल्म की पटकथा लेखन प्रक्रिया को यदि पुनः मकान के निर्माण से जोड़ा जाए तो कहा जा सकता है कि जिस प्रकार मकान का निर्माण करते समय दिशाओं के महत्व, सूरज की रोशनी की उपलब्धता, हवा के बहाव और पानी की निकासी जैसे छोटे-छोटे बिन्दुओं पर भी विशेष ध्यान दिया जाता है, उसी प्रकार किसी भी फिल्म की कहानी को प्रभावी बनाने के लिए कुछ छोटे-छोटे लेकिन महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर भी ध्यान देने की आवश्यकता होती है। इन बिन्दुओं पर यदि समुचित ध्यान दिया जाए, तो इससे न सिर्फ फिल्म का तकनीकी पक्ष मजबूत होता है, बल्कि फिल्म की समग्र प्रस्तुति में भी चार चांद लग जाते हैं। वे छोटे किन्तु महत्वपूर्ण बिन्दु इस प्रकार से हैं-

जबरदस्त शुरुआत

क्रिकेट के खेल में यह मान्यता है कि यदि प्रारम्भिक बल्लेबाज (ओपनर) अच्छा खेले और तालिका (स्कोरबोर्ड) पर ठीक-ठाक रन टांग दें, तो बाद के बल्लेबाजों पर विशेष दबाव नहीं रहता और वे अपने सामान्य खेल के सहारे भी टीम का आंकड़ा 250-300 रनों तक पहुंचा देते हैं। यही बात फिल्मों के सम्बंध में भी कही जा सकती है। यदि फिल्म की शुरुआत (ओपनिंग) अच्छी है और बाद की कहानी सामान्य सी हो, तो भी फिल्म चल ही जाती है। सुशील सिद्धार्थ के शब्दों में-

'किसी भी फिल्म की ओपनिंग इतनी महत्वपूर्ण होती है कि कई बार इसी के आधार पर फिल्म की 'माउथ पब्लिसिटी' होने लगती है। प्रारम्भ के दृश्य से ही फिल्म का मूड और 'टेम्परामेन्ट' तय होने लगता है। इसलिए विषयानुसार लेखक ओपनिंग निश्चित करता है। इस संदर्भ में कुछ उल्लेखनीय फिल्में हैं- 'मुगले आजम', 'गंगा-जमना', 'शोले', 'रंगीला', 'प्यार तो होना ही था', 'प्यासा,' 'साहब, बीबी और गुलाम' इत्यादि।'[1]

फिल्म की शुरुआत को शानदार बनाने के लिए उसमें ऐसी घटनाएं डाली जाती हैं, जो दर्शकों की रुचि को जगाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इस तरह की घटनाओं को फिल्म की भाषा में क्रिया बिन्दु के नाम से जाना जाता है। क्रिया बिन्दु का मुख्य काम है फिल्म के प्रति दर्शकों की उत्सुकता जगाना। यहां से फिल्म की कहानी में जबरदस्त तेजी आती है और वह द्रुत गति से आगे बढ़ने लगती है। क्रिया बिन्दु फिल्म के विषय को उजागर करने में भी सहायक होता है। यहां तक आते-आते दर्शक बाहर की दुनिया को भूल कर पूरी तरह से फिल्म में रम जाता है, इसीलिए कहा जाता है कि यदि क्रिया बिन्दु कमजोर हो, तो आगे के दृश्यों को जमाने के लिए पटकथाकार को बहुत दिमाग लगाना पड़ता है।

गुरुदत्त की फिल्म 'प्यासा' एक शायर की जिंदगी पर आधारित उत्कृष्ट फिल्म है। नायक दिन भर अपनी शायरी के नशे में मतवाला सा इधर-उधर घूमता रहता है। उसे घर के किसी भी काम से कोई लेना-देना नही होता है। फिल्म में क्रिया बिन्दु (एक्शन प्वांइट) तब आता है, तब नायक को उसके बड़े भाई घर से निकाल देते हैं। नायक के निकाले जाने के बाद दर्शकों के मन में यह उत्सुकता जागती है कि अब वह क्या करेगा? कहां जाएगा? क्या खाएगा-पिएगा? और कहां रहेगा?

फिल्म का क्रिया बिन्दु (एक्शन प्वांइट) जितना नया और मौलिक होता है, वह उतना ही अधिक प्रभावी होता है। जैसे कि फिल्म 'मैट्रिक्स,' जोकि सुपर कम्प्यूटर नियंत्रित मशीनी मानव और मनुष्य के संघर्ष पर आधारित है। फिल्म में क्रिया बिन्दु

(एक्शन प्वांइट) तब आता है, जब मशीनों के एजेंट 'नियो' (नायक) को पकड़ लेते हैं और उस पर बागी मनुष्यों के सरदार 'मार्फियस' को पकड़वाने के लिए दबाव डालते हैं। नियो उनका विरोध करता है। इससे एजेंट स्मिथ क्रोधित हो जाता है। वह नियो की गतिविधियों को जानने के लिए उसके शरीर में जबरन एक चलता-फिरता ट्रांसमीटर डाल देता है।

किसी भी फिल्म के शुरूआती 10-15 मिनट उस फिल्म की सफलता/असफलता के लिए काफी हद तक जिम्मेदार होते हैं, क्योंकि 'हाल में बैठा दर्शक फिल्म के बारे में अपनी राय पहले दस मिनटों में बना लेता है। अगर इन दस मिनटों में आप उसका ध्यान नहीं खींच सके, फिल्म के प्रति उसका कुतूहल नहीं जगा सके, तो उसका मूड शुरु से उखड़ जाएगा'। इसलिए 'फिल्म का आरम्भ ऐसा होना चाहिए जो फिल्म का मूड जमा कर दर्शक को पूरे ध्यान और दिलचस्पी से फिल्म देखते रहने के मूड में ले आए। कोई ऐसा पात्र, कोई ऐसी घटना हो जो बहुत दिलचस्प हो और जिसके कारण दर्शक के मन में आगे देखते रहने का कुतूहल जागे।'[2]

परिचयात्मक दृश्य (इन्ट्रोडक्शन सीन)

फिल्म के पर्दे पर जब कोई पात्र पहली बार अवतरित होता है, तो वह उस पात्र का परिचयात्मक दृश्य (इन्ट्रोडक्शन सीन) कहलाता है, जिसे संक्षेप में प्रथम दृश्य (इन्ट्रो सीन) भी कहा जाता है। 'लेखक अपने प्रमुख पात्रों की उपस्थिति को शानदान बनाए, यही निर्माता व निर्देशक की मांग होती है। अनुभव भी है कि जब पहली बार पर्दे पर हीरो का पदार्पण होता है, तो हाल तालियों से गूंज उठता है, हीरोइन आती है तो वातावरण आनंद, शृंगार, उत्तेजना और उद्‌दाम अनुभूति से भर जाता है तथा विलेन दिखता है तो कुर्सियों पर संभल कर बैठ जाते हैं। जैसे 'फूल और पत्थर' में धर्मेन्द्र, 'गुलाम' में रानी मुखर्जी और 'शोले' में अमजद खान के प्रथम दृश्य।'[3]

किसी भी प्रमुख पात्र का प्रथम दृश्य (इन्ट्रो सीन) इस प्रकार का होना चाहिए, जिसमें उस पात्र के व्यक्तित्व की झलक मिलती हो। इसमें पात्र का शारीरिक, मानसिक और आर्थिक परिचय भी शामिल होता है। कभी-कभी पात्र का प्रधम दृश्य (इन्ट्रो सीन) ही फिल्म को अच्छी-खासी लोकप्रियता दिला देता है। यह जितना नया और दमदार हो, उतना ही अच्छा माना जाता है। इस प्रकार के दृश्यों द्वारा लेखक की कल्पना शक्ति का भी पता चलता है, इसीलिए ऐसे दृश्यों के लिए पटकथाकार काफी सचेत रहते हैं।

फिल्म 'मैट्रिक्स' की नायिका ट्रिनिटी का प्रथम दृश्य (इन्ट्रो सीन), जोकि उस फिल्म का पहला दृश्य भी है, इस लिहाज से विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शुरूआत

में नायिका को रात में एक होटल के कमरे में अपने लैपटॉप पर काम करते हुए दिखाया गया है। तभी उसे पकड़ने के लिए वहाँ पर पुलिस पहुँच जाती है। नायिका चुपचाप अपने हाथ ऊपर उठा देती है। जैसे ही पुलिस आफीसर हथकड़ी लगाने के लिए अपने हाथ आगे बढ़ाता है, वह बिजली की गति से उस पर आक्रमण कर देती है और उन्हें धराशायी करके वहाँ से भाग निकलती है। तब तक वहाँ पर मशीनी एजेंट स्मिथ भी आ जाता है। एजेंट से बचने के लिए ट्रिनिटी होटल की छत से डेढ़-दो सौ फुट दूर बनी एक बिल्डिंग की खिड़की के अंदर कूद जाती है। मोबाइल फोन पर उसे अगले चौराहे पर बने टेलीफोन बूथ तक पहुँचने का आदेश मिलता है। ट्रिनिटी तूफानी गति से बूथ की तरह भागती है। एक ट्रक उसे कुचलने के लिए तेजी से आगे बढ़ता है। ट्रक से कुछ समय पहले ट्रिनिटी बूथ में पहुँच जाती है। फोन की घन्टी बज रही है। ट्रिनिटी रिसीवर को उठा कर 'हैलो' कहती है। ट्रक उस बूथ को एक जोरदार टक्कर मारता है, लेकिन तब तक ट्रिनिटी वहाँ से गायब हो चुकी होती है।

इस दृश्य को देखने के बाद दर्शक हैरान-परेशान हो उठता है। उसकी समझ में नहीं आता कि ट्रिनिटी कहाँ गायब हो गयी? वह कौन थी? और पुलिस उसका पीछा क्यों कर रही थी? इस दृश्य द्वारा न सिर्फ ट्रिनिटी की शारीरिक क्षमताओं का पता चलता है बल्कि यह भी उद्घाटित हो जाता है कि वह किन्ही अतिमानवीय (सुपर नेचुरल) ताकतों की स्वामिनी है। इससे दर्शक बेहद उत्सुक हो जाता है और वह आगे की घटनाओं के बारे में जानने के लिए बेकरार हो उठता है।

यहाँ पर यदि फिल्म 'शोले' में गब्बर के प्रथम दृश्य (इन्ट्रो सीन) का जिक्र न किया जाए तो शायद बात अधूरी रह जाए। 'शोले' की अपार सफलता के पीछे गब्बर का बहुत बड़ा योगदान था। गब्बर के प्रथम दृश्य में सिर्फ इतनी सी बात कही गयी है कि रामगढ़ के किसानों से अनाज-वसूली के लिए गये उसके तीन साथी खाली हाथ लौट आए हैं, इससे गब्बर बुरी तरह से नाराज है। वह इसे अपनी बेइज्जती समझता है और गुस्से में उन तीनों को गोली से उड़ा देता है। लेकिन इस छोटे से दृश्य को सलीम-जावेद ने अपनी पटकथा द्वारा इतनी खूबसूरती से प्रस्तुत किया है कि देखने बाला गब्बर के चरित्र पर निसार हो जाता है।

गब्बर हाथ में बेल्ट पकड़े हुए पहाड़ी पर ऊपर-नीचे टहल रहा है। वह पूछता है- 'कितने आदमी थे?' जैसे ही उसे पता चलता है कि वो दो आदमी थे, वह जोर से चिल्ला पड़ता है- 'सुअर के बच्चों।' अगले ही पल गब्बर फिर समान्य हो जाता है- 'वो दो थे और तुम तीन, फिर भी वापस आ गये, खाली हाथ। क्या सोच कर आए थे, कि सरदार बहुत खुस होगा, सबासी देगा।' और फिर वह एकदम से चिल्ला पड़ता है- 'धिक्कार है।'

इतना गुस्सा देखने के बाद लगता है कि अब तो गब्बर चिल्लाता ही चला जाएगा, लेकिन वह ऐसा नहीं करता। अगले ही पल वह अपनी आवाज फिर धीमी कर लेता है। ध्यान से देखें, तो 'उसके किरदार में एक बुनियादी अनप्रेडिक्टीबिलिटी है। न सिर्फ उसकी हरकतों में, बल्कि उसके बोलने के ढ़ंग में, उसके मुहावरे में, ...आप उसकी इस अनप्रेडिक्टीबिलिटी पर फिदा हो जाते हैं क्योंकि वो आप में एक ऐसा डर पैदा करती है कि आप अन्दाजा ही लगाते रह जाते हैं कि गब्बर का अगला कदम क्या होगा।'[4]

इसी प्रकार, 'जिस देश में गंगा बहती है' में राजू, 'मदर इंडिया' में बिरजू, 'तीसरा पत्थर' में भगवती, 'मुगले-आजम' में संगतराश, 'शोले' में जय व वीरु के प्रथम दृश्य (इन्ट्रो सीन) काफी प्रभावी रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

निर्णायक बिन्दु (टर्निंग प्वाइंट/प्लाट प्वाइंट)

एक सामान्य अध्ययन के अनुसार कोई भी कहानी एकदम नाक की सीध में नहीं चलती है। प्रत्येक कहानी में कहीं न कहीं ऐसा मोड़ अवश्य आता है, जहाँ पर उसकी दिशा में परिवर्तन हो जाता है, यह बिन्दु ही उस कहानी का निर्णायक बिन्दु (टर्निंग प्वाइंट) कहलाता है। निर्णायक बिन्दु (टर्निंग प्वाइंट) कहानी को रुचिकर एवं कौतूहलपूर्ण बनाने में मददगार होता है। फिल्म की कहानी में ऐसे कम से कम दो महत्त्वपूर्ण मोड़ अवश्य होने चाहिए। यदि इनकी संख्या तीन हो, तो बहुत अच्छा। लेकिन यदि इनकी संख्या तीन से अधिक होगी, तो फिर कहानी को चूं-चूं का मुरब्बा बनने में देर नहीं लगेगी।

फिल्म के सम्बन्ध में 'टर्निंग प्वाइंट' (निर्णायक बिन्दु) को 'प्लाट प्वाइंट' के नाम से भी जाना जाता है। सामान्यतः फिल्म में दो निर्णायक बिन्दु (टर्निंग प्वाइंट) रखे जाते हैं। पहला मोड़ कहानी के प्रथम अंक के अंत में और दूसरा मोड़ कहानी के दूसरे अंक की समाप्ति पर डाला जाता है। पहला अंक यदि मध्यांतर (इन्टरवल) के पूर्व आता है, तो वह दर्शकों में रुचि जगाने और बांधे रखने का काम करता है जबकि दूसरा मोड़ कहानी को चर्मोत्कर्ष की ओर ले जाने में मददगार होता है।

कहानी का निर्णायक बिन्दु (टर्निंग प्वाइंट) पूर्व निर्धारित होने से पटकथा में उपयुक्त कसाव बना रहता है, जिससे फिल्म की रोचकता में कमी नहीं होने पाती। इस बात को सत्य घटना पर आधारित फिल्म 'द पैट्रियाट', जोकि अमेरिका के दक्षिणी कोरोलाइना प्रान्त में 1776 ई0 में अंग्रेज सैनिकों और अमेरिकावासियों की लड़ाई पर आधारित है, में भी देखा जा सकता है। कोरोलाइना की संसद लार्ड कार्नवालिस

की सेना से मुकाबला करने का निश्चय करती है। फिल्म का नायक बेंजामिन मार्टिन उस युद्ध का समर्थन नहीं करता, लेकिन उसके लाख मना करने के बावजूद उसका बड़ा लड़का गैबरिएल फौज में भर्ती हो जाता है।

फिल्म में पहला निर्णायक बिन्दु (टर्निंग प्वाइंट) तब आता है, जब एक दिन गैबरिएल घायल होकर घर आता है। उसके साथ अमेरिकी सेना के तमाम सैनिक भी मार्टिन के घर में शरण लेते हैं। मार्टिन उन सबकी मरहम-पट्टी करता है। तभी अंग्रेज कमाण्डर वहाँ आ जाता है। वह गैबरिएल को पकड़ कर ले जाने लगता है। उसका छोटा भाई थॉमस उसे छुड़ाने की कोशिश करता है। इससे क्रोधित होकर अंग्रेज कमाण्डर थॉमस को गोली मार देता है। यह देख कर मार्टिन अपना निश्चय बदल देता है और अंग्रेजी सेना में शामिल हो जाता है। फिल्म में दूसरा निर्णायक बिन्दु (टर्निंग प्वाइंट) तब आता है, जब अंग्रेज सेना मार्टिन की मदद करने की वजह से एक गांव के समस्त लोगों को चर्च में जमा क्ररके उसमें आग लगा देती है। उस चर्च क्र साथ समस्त गाँववासी, जिसमें गैबरिएल की मंगेतर भी शामिल होती है, जल कर मर जाते हैं। इससे मार्टिन के क्रोध की सीमा नहीं रहती और वह पूरी शक्ति के साथ अंग्रेजों पर टूट पड़ता है।

तीन मस्तमौला दोस्तों के क्रिया-कलापों पर आधारित फिल्म 'दिल चाहता है' में पहला निर्णायक बिन्दु (टर्निंग प्वाइंट) तब आता है, जब आकाश, सिद्धार्थ और तारा के सम्बन्धों को लेकर एक घटिया कमेंट करता है। सिद्धार्थ यह बर्दाश्त नहीं कर पाता और आकाश के गाल पर एक झापड़ रसीद कर देता है। इससे आकाश बुरी तरह से चिढ़ जाता है और दोनों के बीच अलगाव की स्थिति पैदा हो जाती है। इसके बाद फिल्म में दूसरा निर्णायक बिन्दु (टर्निंग प्वाइंट) तब आता है, जब शालिनी, जिसकी शादी किसी और के साथ तय है, को आकाश से प्यार हो जाता है। शालिनी आकाश को ओपेरा दिखाने ले जाती है। शो के दौरान शालिनी आकाश से कहती है कि तुम अपनी आंखें बंद करो, तुम्हें जिसका चेहरा नजर आए, समझो तुम उसी से प्यार करते हो। आकाश, जो प्यार-व्यार में विश्वास नहीं करता है, उसे आंखें बंद करने पर शालिनी का चेहरा नजर आता है। यह देख कर आकाश हड़बड़ा जाता है। शालिनी उससे उस चेहरे के बारे में पूछती है, पर आकाश एकदम चुप्पी साध लेता है।

फिल्मों में निर्णायक बिन्दु (टर्निंग प्वाइंट) खोजने के लिए थोड़ी सी सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता होती है। यह एक ऐसा अभ्यास है, जिसे हर पटकथाकार को करना

चाहिए। जिन फिल्मों में घटनाओं की बहुलता होती है, उनमें निर्णायक बिन्दु (टर्निंग प्वाइंट) खोजना कोई मुश्किल काम नहीं, किन्तु जिन फिल्मों में न तो ज्यादा पात्र होते हैं और न ही ज्यादा रोचक घटनाएं, उनमें निर्णायक बिन्दु (टर्निंग प्वाइंट) की तलाश करना काफी दुरूह होता है।

ऐसी ही एक फिल्म है 'ब्रीफ एनकाउन्टर', जोकि विवाहेत्तर प्रेम सम्बन्धों पर आधारित एक सामान्य सी प्रेम कहानी है। नायिका अन्ना एक शादी-शुदा महिला है। वह अपने पति और दो बच्चों के सा. .हती है। एक दिन स्टेशन पर अन्ना की आँख में कचरा चला जाता है। वहीं पर मौजूद डॉ0 हार्वे उस कचरे को निकालता है। इस प्रकार नायक और नायिका की आपस में जान-पहचान होती है। फिल्म का पहला निर्णायक बिन्दु तब आता है, जब एक दिन दोपहर के भोजन के समय वेनचेस्टर के एक पार्क में डा0 हार्वे की अन्ना से मुलाकात हो जाती है। यहां से दोनों में प्रगाढ़ता पनपने लगती है और वे एक दूसरे के करीब आने लगते हैं। फिल्म में दूसरा टर्निंग प्वाइंट तब आता है, जब दोनों लोग अपनी प्रेम-अगन को बुझाने के लिए डा0 हार्वे के एक मित्र की अनुपस्थिति में उसके मकान पर मिलते है। दोनों लोग निश्चिंत होकर प्यार करते हैं। तभी हार्वे का दोस्त लौट आता है। इससे अन्ना बहुत घबरा जाती है। उसे शर्मिन्दगी महसूस होती है और वह अकेले ही वहां से भाग जाती है।

भारतीय फिल्म के इतिहास में 'मुगले आजम', 'गाइड', 'बंदिनी' और 'दीवार' फिल्मों का बड़ा महत्व है। इन फिल्मों के टर्निंग प्वाइंटस इस प्रकार से हैं:-

फिल्म	पहला निर्णायक बिन्दु और उसका प्रभाव	दूसरा टसंग प्वाइंट और उसका प्रभाव
मुगले-आजम	बहार के शिकायत करने पर अकबर सलीम के महल में जाना और वहां पर सलीम और अनारकली को एक साथ देखना। **प्रभावः-** इससे क्रोधित होकर अकबर अनारकली को कारागार में डाल देता है। सलीम इसका विरोध करता है, जिससे बाप-बेटे में टकराहट बढ़ती है।	अनारकली को दरबार में हाजिर न करने के जुर्म में अकबर द्वारा सलीम को मौत की सजा सुनाना। **प्रभावः-** सलीम की सजा की बात सुनकर अनार कली अपना समर्पण कर देती है। इससे अकबर सलीम की सजा माफ कर देता है। अनार कली को जिन्दा दीवार में चुनवाने का हुक्म देता है।

गाइड	रोजी का अपने पति से झगड़ा कर उसका घर छोड़ना और राजू गाइड के पास जाना। **प्रभावः**– रोजी के आने से राजू के घर में चिकचिक होने लगती है। रोजी के अंदर राजू को एक महान कलाकार नजर आत ा है। वह अपने ख्वाब को साकार करने के लिए अपना घर छोड़ देता है।	रोजी के नकली हस्ताक्षर करने के जुर्म में राजू का जेल जाना। **प्रभावः**– रोजी द्वारा उसका बचाव न करने के कारण उसे रोजी से नफरत हो जाती है । जेल से छूटने पर वह घर-बार त्याग कर इधर-उधर भटकता रहता है । एक गांव के लोग उसे पहुंचा हुआ सन्यासी समझ कर गांव के मंदिर में जगह दे देते हैं।
बंदिनी	हत्या की सजा भोग रही महिला कैदी कल्याणी द्वारा डॉ० देवेन्द्र के शादी के प्रस्ताव को ठुकराना। **प्रभावः**– कल्याणी अपने गुजरे हुए कल में पहुंच जाती है, जिससे उसकी दुःख भरी जिंदगी के पन्ने दर्शकों के सामने खुलते चले जाते हैं।	कल्याणी द्वारा अपने प्रेमी विकास बाबू की कर्कशा पत्नी को जहर देना। **प्रभावः**– कल्याणी द्वारा जहर दे देने से उसके जीवन में एक बार फिर भूचाल आ जाता है और वह जेल की सीखचों के पीछे पहुंच जाती है।
दीवार	विजय द्वारा ह फ्ता वसूली करने वाले बदमाशों की पिटाई की बात सुन कर डॉवर का उससे मिलना और उसे अप ने गिरोह में शामिल कर लेना। **प्रभावः**– इससे विजय की जिन्दगी में जबरदस्त परिवर्तन आता है। वह अधिक से अधिक पैसा कमाने की हवस में अपराध के दलदल में धंसता चला जाता है	विजय द्वारा अपने साथ की गयी धोखाधड़ी का बदला लेने के लिए सावंत उसकी गर्भवती प्रेमिका अनीता की हत्या कर देन। **प्रभावः**– अपने आने वाले बच्चे की खबर सुनकर विजय ने अपराध की दुनिया छोड़ने का मन बनाया था। पर अनीता की हत्या से विजय अपना इरादा बदल देता ह ै और उसका बदला लेने निकल पड़ता है।

टकराव (संघर्ष)

सामान्यतः हर व्यक्ति के दिल में कुछ हसरतें, कुछ सपने अवश्य होते हैं। जब व्यक्ति उन हसरतों, उन सपनों को पूरा करने की कोशिश करता है और उसमें कुछ न कुछ अड़ंगा लगता है, तो वहां पर टकराव का जन्म होता है। इसके अलावा कभी-कभी हमारे न चाहने के बावजूद हमारे साथ कुछ अनचाहा हो जाता है। तब उस अनचाहेपन से बचने के लिए हम जो कोशिशें करते हैं, वे भी टकराव का कारण बनती हैं।

यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाए, तो पता चलेगा कि हमारे आसपास प्रायः रोज ही ऐसी घटनाएं होती रहती हैं, जो कहीं न कहीं हमें सीधे अथवा परोक्ष रूप से टकराव के लिए प्रेरित करती हैं। यदि किसी व्यक्ति से यह पूछा जाए तो वह सामान्तः यही कहेगा कि उसके जीवन में कोई संघर्ष नहीं है। लेकिन यदि उसके बीते हुए एक दिन की भी विवेचना की जाए, तो हो सकता है ऐसे बीसियों बिन्दु मिल जाएं, जिनसे वह संघर्ष कर रहा हो। हो सकता है कल सुबंह आफिस जाते समय किसी आदमी ने अपनी कार से उसकी मोटरसाइकिल में टक्कर मार दी हो? हो सकता है उसके किसी सहकर्मी से उधार चुकाने को लेकर विवाद छिड़ गया हो, जिसने उससे तीन महीने पहले दो हजार रुपये उधार लिये थे। हो सकता है कि बॉस से उसकी इस बात को लेकर बहस हो गयी हो कि उसने फलां बिल्डर्स की फाइल अभी तक क्यों नहीं तैयार की? हो सकता है उस फाइल में कुछ कमियां रही हों, लेकिन बॉस द्वारा बिल्डर्स से पैसे खा लिये जाने के कारण वह उसे जल्दी से निपटा देना चाहता हो। हो सकता है कि वह शाम को घर लौटते समय सब्जी ले जाना भूल गया हो, जिसे देख कर पत्नी आग बबूला हो गयी हो और...

कहने का आशय यह है कि जहां जीवन है, वहां टकराव तो होगा ही। वास्तव में टकराव जीवन का एक हिस्सा है। जब दो लोग होंगे तो उनमें टकराव भी होगा, भले ही उनके बीच कितने अच्छे संबंध क्यों न हों। भले ही उनका रिश्ता कितना ही प्रगाढ़ क्यों न हो। और वह इसलिए कि किन्ही दो व्यक्तियों की विचारधारा एक समान हो ही नहीं सकती। जब भी दो लोगों के बीच टकराव होता है, तो वह तीसरे व्यक्ति के लिए रुचिकर और जिज्ञासापरक होता है। टकराव के मूल के बारे में जानना और उसकी गहराई तक पहुंचना, यह मानव की बहुत बड़ी कमजोरी है। कहानीकार और पटकथाकार अपनी फिल्मों में मानव की इसी कमजोरी का फायदा उठाते हैं।

'सड़क के किनारे खिंचे बिजली के तारों की ओर हमारा ध्यान सामान्य रूप से नहीं जाता, लेकिन यदि उनमें से चिंगारी निकलने लगे, तो लोग रुक कर देखने

लगते हैं। यही टकराव है। दूसरा उदाहरण, रास्ते में आते-जाते सैकड़ों लोग बिना एक-दूसरे पर ध्यान दिये गुजरते रहते हैं, लेकिन अगर कहीं झगड़ा हो जाए, तो फौरन कुछ लोग उसमें शामिल हो जायेंगे। कुछ बीच-बचाव करेंगे, कुछ दूर खड़े रह कर तमाशा देखते रहेंगे और कुछ लोग दो-चार मिनट देख कर अपना रास्ता लेंगे। दूसरे शब्दों में, वह 'एक्शन' वहां मौजूद हर व्यक्ति को कमोबेश अपने साथ जोड़ लेता है।'[5]

कहानी में टकराव एक तरह से चाशनी का काम करता है। जिस प्रकार चाशनी देख कर चीटियां और मक्खियां वहां इकट्ठी हो जाती हैं, उसी प्रकार टकराव लोगों को आकर्षित करता है। टकराव से कहानी में रोचकता आती है, टकराव से कहानी का विस्तार होता है, टकराव से कहानी में नया मोड़ आता है, टकराव से नये-नये पात्रों का प्रवेश (इन्ट्री) होता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि 'टकराव' ही कहानी की नींव है।

टकराव मुख्यतः दो प्रकार का होता है– सामाजिक टकराव और परिस्थितिजन्य टकराव। सामाजिक टकराव का दूसरा नाम है व्यवस्थागत टकराव। इसे 'जाति संघर्ष' और 'वर्ग संघर्ष' कह कर भी पुकारा जाता है। कुछ लोग इसे 'विचारधारा का संघर्ष' भी कहते हैं। भ्रष्टाचार, जमींदारी, आतंकवाद और सरकार की ज्यादतियों पर आधारित तमाम फिल्में इसी श्रेणी में आती हैं। इस प्रकार की कहानियों में नायक व्यवस्था की चपेट में आ जाता है और व्रिदोह का बिगुल बजा देता है। 'जिस देश में गंगा बहती है', 'दो बीघा जमीन', 'मदर इंडिया', 'दीवार', 'माचिस', 'दिल से', 'भगत सिंह', 'मंगल पाण्डे', 'द पैट्रियाट', 'ब्रेव हर्ट' व 'मैट्रिक्स' जैसी अनगिनत फिल्मों में इसी टकराव को आधार बनाया गया है।

सुप्रसिद्ध साहित्यकार भगवती चरण वर्मा ने कहा है कि आदमी परिस्थितियों का दास है। जब, जहां, जैसी परिस्थिति बनती है, व्यक्ति को उसके अनुसार कार्य करना पड़ता है। फिल्म 'उमराव जान' की नायिका अमीरन को उसका पड़ोसी दिलावर अपहृत करके बाजार मे बेच देता है, तो वह अमीरन से उमराव जान बनने के लिए विवश हो जाती है। फिल्म 'शोले' में जब गब्बर सिंह ठाकुर के दोनों हाथ काट देता है, तो वह बदला लेने के लिए जय और वीरू को बुलाता है। इसी प्रकार 'मुन्नाभाई एम.बी.बी.एस' का नायक मुन्नाभाई, जोकि मुम्बई का दादा है, लेकिन अपने पिताजी की नजरों में डाक्टर बन कर रहता है, के सामने उसके पिता को अपमानित होना पड़ता है तो वह वास्तव में डाक्टर बनने की कोशिश करता है। इसी प्रकार 'रोजा' फिल्म भी परिस्थितिजन्य टकराव का अच्छा उदाहरण है।

परिस्थितिजन्य टकराव का एक अहम पहलू है अन्तर्द्वन्द्व। जब कोई व्यक्ति किसी परिस्थितिवश यह निश्चित नहीं कर पाता कि वह इधर जाए अथवा उधर, इसका साथ दे अथवा उसका, तो उसे अन्तर्द्वन्द्व कहते हैं। 'ब्रीफ एन्काउन्टर' एवं 'सिलसिला' इसी श्रेणी की फिल्में हैं।

'ब्रीफ एनकाउन्टर' की नायिका अन्ना, जोकि सप्ताह में एक दिन अपनी नौकरी पर जाती है, डॉ0 हार्वे से मिलने के बाद बराबर कशमकश में उलझी रहती है। शुरू-शुरू में तो वह हार्वे से यूं ही मिलती रहती है, लेकिन जब उसे एहसास हो जाता है कि वह गलती कर रही है, तो वह एक दिन कार्यालय से छुट्टी ले लेती है। लेकिन जब उसका प्यार जोर मारता है, तो वह खुद-ब-खुद घर से निकल पड़ती है। अन्ना को जब यह लगने लगता है कि वह अपनी हदों से आगे जा रही है, तो वह अपने आफिस जाने के दिन बदलवाने का निश्चय करती है (क्योंकि डॉ0 हार्वे उस नियत दिन व नियत समय पर ही उस स्टेशन पर आता है, जहाँ दोनों की मुलाकात हुयी थी)। लेकिन अपने दिल के आगे मजबूर हो जाने के कारण वह उस फैसले को भी अमली जामा नहीं पहना पाती है। इसी प्रकार जब हार्वे अन्ना से अपने एक दोस्त के घर चलने को कहता है, ताकि वे वहाँ पर निश्चिंत होकर प्यार कर सकें, तो अन्ना साफ इनकार कर देती है। लेकिन जब हार्वे नाराज होकर वहाँ से उठ कर चल देता है, तो अन्ना अपने आप को रोक नहीं पाती और उसके पीछे दौड़ पड़ती है।

बिना कान्फ्लिक्ट (टकराव) के किसी कहानी का जन्म नहीं होता। अगर कहानी में कान्फलिक्ट की कमी हो, तो बोरियत होने लगती है। रायटर को इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि कान्फ्लिक्ट बढ़ते हुए क्रम में हो। इससे कहानी में इंटरेस्ट पैदा होता है। जिस कहानी के कान्फ्लिक्ट के जितने ज्यादा लेवल होते हैं, वह कहानी उतनी इम्प्रेसिव होती है।[6]

टकराव के दो प्रमुख अंग हैं अन्तर्द्वन्द्व एवं व्यक्तिगत संघर्ष। इसका एक तीसरा रूप भी है सामाजिक संघर्ष। अन्तर्द्वन्द्व जहां व्यक्ति के भीतर होता है, वहीं व्यक्तिगत संघर्ष किन्ही दो लोगों के बीच हुई टकराहट से जन्म लेता है। लेकिन जब यही टकराहट पूरी व्यवस्था अथवा समाज के खिलाफ होती है, तो उसे सामाजिक संघर्ष का नाम दिया जाता है।

एक आदर्श कहानी के लिए यह आवश्यक होता है कि उसमें संघर्ष के तीनों प्रकारों को दिखाया जाए। हिन्दी की तीन चर्चित फिल्मों 'दीवार', 'मुगले आजम' और 'बंदिनी' में संघर्ष के इन तीनों स्तरों को साफ-साफ देखा जा सकता है।

फिल्म	अन्तर्द्वन्द्व	व्यक्तिगत संघर्ष	सामाजिक संघर्ष
दीवार	अपने हाथ पर गुदे हुए गोदना 'मेरा बाप चोर है' के कारण विजय के मन में खीझ और गुस्सा उत्पन्न होना और मन ही मन उसका बदला लेने के बारे में सोचना।	विजय द्वारा डॉबर के गिरोह में शामिल होने के बाद उसका अपने परिवार के मूल्यों से टकराव उत्पन्न होना।	अपने साथ हुए अन्यायों का बदला लेने के लिए विजय द्वारा कानून को चुनौती देना और गैर कानूनी कामों द्वारा पैसा कमा कर अपने परिवार की भरपाई की चाह रखना।
मुगले आजम	अनारकली द्वारा अपने और सलीम के सामाजिक स्तर के कारण कदम-कदम पर पशोपेश में रहना। अकबर का एक कुशल प्रशासक और आदर्श पिता के बीच संघर्षरत रह ना। जोधा द्वारा माँ और पत्नी के रूप में अपने आप से संघर्ष करना।	अनारकली के कारण सलीम का अपने पिता से संघर्षरत रहना। बहार द्वारा अनारकली की प्रतिद्वन्द्वी (जबकि अनारकली को इसकी जानकारी नहीं रहती है) के रूप में अपने आप को प्रस्तुत करना।	अनारकली को पाने के लिए सलीम का अकबर के साम्राज्य को चुनौती देना और स्वयं कटार लेकर अकबर से युद्ध करना।
बंदिनी	देवेन्द्र की आपराधिक पृष्ठभूमि के कारण कल्याणी का उससे शादी से इनकार करना। विकास बाबू की पत्नी को देख कर कल्याणी के मन में जलन पैदा होना है और अंततः उसकी हत्या कर देना।	डिप्टी जेलर द्वारा कल्याणी में रुचि लेने के कारण कल्याणी को असहज स्थितियों का सामना करना।	विकास बाबू द्वारा कल्याणी को त्याग दिये जाने के कारण कल्याणी का सामाजिक संघर्ष। देश की आजादी के लिए विकास बाबू का ब्रिटिश हुकुमत से संघर्ष करना।

मध्यान्तर का समय (इन्टरवल)

एक आम दर्शक फिल्मों को मनोरंजन के उद्देश्य से देखता है, लेकिन कुछ लोगों के लिए ढ़ाई घन्टे तक एक जगह पर बैठे रह कर लगातार पर्दे को घूरते रहना एक कष्टप्रद कार्य हो सकता है। इसीलिए फिल्म में मध्यान्तर का प्राविधान किया गया है। लगभग सवा घंटे के बाद जब दर्शक को दस मिनट का समय मध्यांतर (इन्टरवल) के रूप में मिलता है, तो वे क्षण बहुत सुकूनदायक होते हैं।

मध्यांतर की बेला तक पहुंचते-पहुंचते फिल्म की कहानी और उसकी समस्याएं पूरी तरह से विकसित हो जाती हैं। पात्रों के बीच में पाले बंट चुके होते हैं और वे अपनी-अपनी तलवारें लेकर एक-दूसरे पर टूटने को बेकरार हो रहे होते हैं। फिल्म की कहानी के तीन खण्डों वाले बंटवारे पर यदि पुनः गौर किया जाए, तो पता चलता है कि उसमें कहानी का मध्य भाग काफी बड़ा होता है। इस कारण फिल्म में एक प्रकार का ढ़ीलापन आने की सम्भावना पैदा हो जाती है, इसीलिए पटकथाकार एक रोचक मोड़ पर कहानी को लाकर मध्यांतर कर देता है। इससे दर्शक उस संभावित ऊब से बच जाता है। इसके अलावा जो लोग बहुत एकाग्र होकर फिल्म देखते हैं, उनके मस्तिष्क में एक प्रकार का तनाव जन्म ले लेता है। इस तनाव को दूर करने में मध्यांतर काफी मददगार होता है। चाय-कॉफी के बाद जब दर्शक पुनः फिल्म देखना प्रारम्भ करता है, तो उसका दिमाग तरोताजा हो चुका होता है और वह मानसिक रूप से पुनः फिल्म का आनन्द लेने के लिए तैयार हो जाता है।

हिन्दी फिल्मों की सर्वश्रेष्ठ पटकथाओं में से 'दीवार' इस लिहाज से एक माकूल उदाहरण है। फिल्म का नायक विजय दर-दर की ठोकरें खाने के बाद कुलीगिरी छोड़ कर डॉबर के ग्रुप में शामिल हो जाता है। वह एक नया मकान खरीदता है और मां को उस मकान की एक-एक चीज दिखाता है। वह मकान देख कर मां को आश्चर्यमिश्रित खुशी होती है और वह पूछती है कि क्या तुम्हारे मालिक ने तुमको इतना बड़ा मकान सचमुच में दिया है? तभी विजय का छोटा भाई रवि भी वहां आ जाता है। वह बताता है कि उसे पुलिस इंस्पेक्टर की नौकरी मिल गयी है। यह सुन कर विजय को एक जोरदार झटका लगता है। ठीक उसी समय फिल्म में इन्टरवल हो जाता है। यह इन्टरवल अपने पीछे बहुत सारे सवाल छोड़ जाता है। जब रवि को यह पता चलेगा कि उसका बड़ा भाई एक स्मगलर है, तो उस पर क्या बीतेगी? क्या वह अपना फर्ज निभा पाएगा? क्या वह अपने पिता समान बड़े भाई के हाथों में हथकड़ी पहना पाएगा? अथवा अपने भाई के नमक का हक अदा करने के लिए क्या रवि अपने उसूलों और आदर्शों की तिलांजलि दे देगा?

अपने समय की बेहद सफल फिल्म 'बैजू बावरा' अकबर के नवरत्नों में से एक तानसेन और एक लोकनायक बैजू बावरा के आपसी द्वन्द्व पर आधारित संगीत प्रधान फिल्म है। फिल्म का नायक बैजू तानसेन से अपना प्रतिशोध लेने के लिए उसकी हत्या करने का प्रण करता है। वह तलवार लेकर तानसेन के घर जाता है। उस समय तानसेन गायन का अभ्यास कर रहा होता है। बैजू उसे मारने के लिए आगे बढ़ता है, लेकिन उसके हाथ कांपने लगते हैं। तभी तानसेन उसे देख लेता है। वह बैजू से कहता है कि मुझे मारने से तुम्हें क्या मिलेगा? तुम तो खुद एक गायक हो। यदि तुम सचमुच में मुझे परास्त करना चाहते हो, तो मुझे अपने गायन से हराओ। इसी जगह पर फिल्म का इंटरवल हो जाता है और दर्शकों के मन में यह सवाल कौंध जाता है कि क्या बैजू सचमुच तानसेन जैसे गायक को हरा पाएगा?

हिन्दी की पहली डायमण्ड जुबली फिल्म 'मुगले आजम' में मध्यांतर बहुत ही सटीक जगह पर रखा गया है। सलीम के महल की एक बांदी, जिसका नाम बहार है, वह मन ही मन सलीम की मलिका बनने का ख्वाब देखती रहती है। बहार को सलीम और अनारकली की मोहब्बत की पल-पल की खबर रहती है। वह अनारकली से मन ही मन जलती है और उसे हटा कर सलीम के दिल में जगह पाना चाहती है। अनारकली की नजदीकियां जब बहार से बर्दाश्त नहीं होतीं, तो वह अकबर के सामने सारा किस्सा बयान कर देती है। हकीकत जानने के लिए अकबर स्वयं सलीम के महल में चला जाता है। वह सलीम और अनारकली को एक साथ देख कर बहुत क्रोधित होता है और अनारकली को कैदखाने में डलवा देता है। यहीं पर फिल्म का मध्यांतर (इन्टरवल) हो जाता है।

कुछ फिल्मों में मध्यांतर को 'कॉमिकल' रूप दिया गया है। जैसे कि फिल्म 'दूल्हे राजा'। कादरखान अपनी लड़की के पुरुष मित्र (ब्वाय फ्रेन्ड) को बिलकुल पसंद नहीं करता है। वह उससे कहता है कि तुम इसके अलावा जिसे भी पसंद करोगी, चाहे वह मेरा सबसे बड़ा दुश्मन ही क्यों न हो, मै उससे तुम्हारी शादी करवा दूंगा। अपने पिता को मजा चखाने के लिए लड़की अपने पिता के प्रतिद्वन्द्वी और सबसे बड़े दुश्मन गोविन्दा को पसंद कर लेती है। कादरखान जब अपने भावी दामाद के रूप में गोविन्दा को देखता है, तो वह बेहोश हो जाता है। यह देख कर कादरखान का नौकर उसे जूता सुंघाने की सलाह देता है। इस पर गोविंदा कहता है कि अब चाहे जूता सुंघाओ, चाहे चप्पल, इनको होश तो इन्टरवल के बाद ही आएगा। और तभी पर्दे पर 'इन्टरवल' लिख कर आ जाता है।

चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स) का खेल

फिल्म के नजरिए से चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स) एक बहुत ही महत्वपूर्ण बिन्दु है। क्लाइमेक्स से आशय है फिल्म के समाप्त होने से पहले उत्सुकता/रोचकता का चरम बिन्दु। ज्यादातर फिल्में चरमोत्कर्ष तक आते-आते बिखर जाती हैं। कहने का आशय यह है कि दर्शक को पहले से ही पता चल जाता है कि अब क्या होने वाला है। इसे ही ढ़ीला या लचर चरमोत्कर्ष कहा जाता है।

अधिकतर फिल्मों में नायक और खलनायक के बीच द्वन्द्व का दृश्य होता है। जब खलनायक के हाथ से बाजी निकलने लगती है, तो उसके गुर्गे नायक की मां/बहन/प्रेमिका को पकड़ कर ले आते हैं और इस तरह नायक हथियार डालने को विवश हो जाता है। लेकिन अगले ही क्षण फिर ऐसा कुछ होता है कि नायक हारी हुयी बाजी फिर से जीत लेता है। कभी-कभी जनता की मांग पर फिल्मकार को अपनी फिल्म का चरमोत्कर्ष ही बदलना पड़ता है। जैसे फिल्म 'बॉबी' जब पहली बार प्रदर्शित हुयी, तो उसका चरमोत्कर्ष लोगों को पसंद नहीं आया। निर्देशक को यह बात समझते देर नहीं लगी। उसने बॉबी का चरमोत्कर्ष बदल दिया और दुबारा फिल्म को रिलीज किया। फिल्म का नया चरमोत्कर्ष दर्शकों को भा गया और फिल्म सफल हो गयी।

हिन्दी फिल्मों के चरमोत्कर्ष सामान्यतः बहुत घिसे-पिटे से होते हैं। 'शोले' जैसी अत्यंत सफल फिल्म का चरमोत्कर्ष भी अधिक बेहतर नहीं बन पड़ा है। इस लिहाज से 'मदर इंडिया', 'मुगले आजम' और 'ज्वैलथीफ' जैसी फिल्में लाजवाब कही जाएंगी। फिल्म 'मदर इंडिया' में नायक बिरजू सुक्खी लाला के जुल्मों से तंग आकर डाकू बन जाता है। वह सुक्खी की लड़की रूपा की शादी के दिन उसके घर हल्ला बोलता है और उसके तमाम बही-खातों को आग लगा देता है। लाला से उसकी ज्यादतियों का बदला लेने के लिए बिरजू लाला की लड़की रूपा को उठा कर ले जाने की कोशिश करता है। तभी बिरजू की मां राधा सामने आ जाती है। वह बिरजू से कहती है कि रूपा सारे गांव की बेटी है। वो मेरी लाज है। मैं बेटा दे सकती हूं, लाज नहीं दे सकती। इस पर भी बिरजू नहीं मानता, तो राधा उसे गोली मार देती है। यह देख कर दर्शक एकदम हतप्रभ रह जाता है। जिस मां ने अपना तन काट कर, भूखे-प्यासे रह कर, अपनी इज्जत को दांव पर लगा कर बच्चों को पाला, उसने अपने दुश्मन की लड़की की इज्जत के लिए उसी की हत्या कर दी?

'मुगले आजम' फिल्म में जलालुद्दीन अकबर अपने बेटे सलीम द्वारा अनारकली न सौंपने के कारण उसे मौत की सजा सुना देता है। सलीम को जंजीरों में जकड़ कर एक ऊंचे चबूतरे पर खड़ा कर दिया जाता है। अकबर अपने हाथ से

तोप के पलीते में आग लगाता है। तभी अनारकली भागती हुयी वहां आ जाती है। जैसे ही तोप से गोला छूटने वाला होता है, राजा मानसिंह तोप का मुंह ऊपर उठा देता है। अनारकली मिल जाने के कारण बादशाह सलीम को छोड़ देता है और अनारकली को जिन्दा दीवार में चुनवाने का हुक्म दे देता है।

इधर अनारकली दीवार में चुनवायी जा रही है, उधर अनारकली की मां, जोकि सलीम की दाई भी है, अकबर की दी हुयी अंगूठी लेकर जिल्ले-इलाही के सामने चीखती हुयी पहुंच जाती है। सलीम के जन्म के समय दाई द्वारा अकबर को उसकी सूचना देने पर बादशाह ने उसे अपनी अंगूठी इनाम में देते हुए कहा था कि जिंदगी में एक बार जो कुछ मांगोगी, तुम्हें दिया जाएगा। बादशाह को वह अंगूठी दिखा कर दाई उस वचन की याद दिलाती है। अकबर गुस्से में दाई को ढ़केल देता है और वहाँ से चला जाता है। अनारकली पूरी तरह से दीवार में चुन जाती है। दर्शकों को लगता कि बादशाह ने अपना वचन पूरा नहीं दिया। अनारकली बे-मौत मारी गयी, लेकिन अगले ही दृश्य में लोहे की मोटी चेन से जकड़ा एक गुप्त द्वार खुलता है। वहाँ से अनारकली बाहर निकलती है। अकबर दाई को उसकी बेटी सौंपते हुए कहता है कि इसे लेकर हमारी सरहदों से बाहर चली जाओ। अनारकली जिन्दा है, यह बात राज ही रहना चाहिए। बादशाह की बात सुन कर अनारकली अपनी माँ के साथ एक सुरंग में प्रवेश कर जाती है और फिल्म समाप्त हो जाती है।

जब चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स) की बात चल रही हो और वहाँ पर 'ज्वैलथीफ' का जिक्र न हो, तो बात कुछ अधूरी-अधूरी सी रह जाती है क्योंकि 'ज्वैलथीफ' जैसा जबरदस्त चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स) बहुत कम देखने को मिलता है। फिल्म 'ज्वैलथीफ' एक ऐसे चोर अमर की कहानी है जो चोरी तो करता है, पर पकड़ा नहीं जाता है। अमर की शक्ल फिल्म के नायक विनय से मिलती है। पूरी फिल्म में अमर की आमद दर्ज होती है, वह घटना पर घटना करता रहता है, पर पुलिस के हत्थे नहीं चढ़ता। फिल्म के दौरान दर्शक यह जानने को बेकरार रहते हैं कि आखिर यह ज्वैलथीफ है कौन? और जब सच पता चलता है, तो दर्शकों के पैरों के नीचे से जमीन निकल जाती है।

फिल्म के उत्तरार्ध में जब विनय ज्वैलथीफ द्वारा बंदी बना लिया जाता है, तो शालिनी उसे एक गुप्त रास्ता बताती है। शालिनी और उसका छोटा भाई शिशु भी ज्वैलथीफ का बंदी है। कैद से भागने के दौरान जब विनय शालिनी से पूछता है कि क्या तुम्हें शुरू से यह मालूम था कि मैं अमर नहीं हूँ? तब शालिनी हैरान होकर कहती है कि क्या तुम्हें अभी तक नहीं मालूम कि अमर नाम का कोई आदमी नहीं

है? यह सुन कर विनय ही नहीं दर्शक भी सन्नाटे में आ जाते हैं क्योंकि इससे पहले ज्वैलथीफ प्रिंस और उसके साथियों द्वारा इतना जबरदस्त नाटक रचा जाता है कि दर्शक क्या उसके फरिश्तों को भी यह इलहाम नहीं हो पाता।

इसके अलावा ज्वैलथीफ में एक अन्य चरमोत्कर्ष भी रखा गया है। असली ज्वैलथीफ प्रिंस अपनी योजना में नाकाम होकर भागता है और अपने साथी से हवाई पट्टी पर जहाज तैयार रखने को कहता है। प्रिंस के पीछे-पीछे विनय भी वहाँ पहुँच जाता है। प्रिंस वहीं रखी रांयफल उठा कर विनय पर गोली चला देता है, लेकिन रायफल में नकली गोली रहती है। कारण पुलिस वहाँ पहले की पहुँच चुकी होती है और सारी चीजें अपने नियंत्रण में ले चुकी है। तभी पुलिस कमिश्नर भी पीछे से आ जाता है और बताता है कि विनय के साथ योजनाबद्ध तरीके से काम करने के कारण यह सब सम्भव हुआ। इससे प्रिंस को झटका लगता है और वह समर्पण कर देता है।

आदर्श चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स) के नजरिए से देखा जाए तो फिल्म 'दीवार', 'बंदिनी' और 'गाइड' उच्चकोटि की फिल्में हैं। 'दीवार' फिल्म में विजय अपनी प्रेमिका अनीता की हत्या कर बदला लेने के लिए सावंत को मारता है। विजय का छोटा भाई इंस्पेक्टर रवि उसका पीछा करता है। भागते समय विजय के हाथ से 786 का बिल्ला गिर जाता है। रवि गोली चलाता है। गोली अपने निशाने पर लगती है। विजय लड़खड़ा जाता है। यह देख कर दर्शक के मन में यह विचार आता है कि अब क्या होगा? क्या रवि विजय को गिरफ्तार कर लेगा? क्या विजय मर जाएगा? क्य विजय अपनी माँ से मिलने मंदिर में पहुँच पाएगा? क्या विजय अपने पापों का प्रायश्चित कर पाएगा?

फिल्म 'बंदिनी' के चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स) में कल्याणी को अपने पिता की मृत्यु का समाचार मिलता है। अपने पिता के अन्तिम दर्शन करने के बाद वह वापस अस्पताल लौटती है। वहाँ पर एक कर्कशा औरत कल्याणी को झिड़कती है और सबके सामने उसका अपमान करती है। उसी समय कल्याणी को पता चलता है कि यह औरत और कोई नहीं, उसके प्रेमी विकास की पत्नी है। यह जान कर कल्याणी का रोम-रोम बदले की भावना से जल उठता है और वह जहर देकर उसकी हत्या कर देती है। फिल्म 'गाइड' के चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स) में सूखाग्रस्त गाँव में किसी बात को लेकर गाँव वालों से झगड़ा होता है। स्वामी बना राजू कहता है कि अगर तुम लोग इस तरह झगड़ोगे, तो मैं खाना नहीं खाऊँगा। राजू को खाना लेकर जाने वाला व्यक्ति गूंगा होता है। वह गाँव वालों को यह बात जाकर बताता है। गाँव वाले समझते

हैं कि जब तक बारिश नहीं होगी, स्वामी जी खाना नहीं खाएंगे। वे लोग स्वामी की जय-जयकार करने लगते हैं। गाँव वालों के विश्वास के आगे राजू लाचार हो जाता है। उसे मजबूरी में व्रत रखना पड़ता है।

उपकथाओं (सब प्लाट) का सामंजस्य

फिल्म को एकांगी और नीरस होने से बचाने के लिए पटकथाकार को उपकथाओं (सब प्लाट) का सहारा लेना पड़ता है। उपकथाओं से आशय है फिल्म की मुख्य कहानी के साथ चलने वाली अन्य कथाएं। उपकथाओं के लिहाज से शोले एक आदर्श फिल्म है। इसमें ठाकुर, गब्बर, जय और वीरु की कहानी फिल्म की मुख्य कथा है, जबकि वीरु और बसंती का आपसी चक्कर तथा इमाम साहब और उनके बेटे की घटना उपकथा है। इसी प्रकार 'मुगले आजम' में मुख्य कहानी है अकबर और सलीम के बीच संघर्ष, जबकि सलीम और अनारकली की दास्तान फिल्म की उपकथा है। उपकथाओं द्वारा कहानी में रोचकता का समावेश होता है और मुख्य पात्रों को नया आयाम मिलता है। यह मुख्य कहानी की धार को पैना करने में उत्प्रेरक का कार्य करती है। फिल्मों में अंग-प्रदर्शन, हास्य और मारधाड़ का छौंका लगाने के लिए भी उपकथाओं का सहारा लिया जाता है।

प्राय: यह देखने में आता है कि 'चटपटा मसाला' परोसने के चक्कर में फिल्म का मुख्य कथानक गौण हो जाता है। इससे फिल्म की कहानी झोल खाने लगती है। इसलिए उपकथानक को जोड़ते समय पटकथाकार को यह देखना चाहिए कि वे पात्र कहानी में फिट बैठ रहे हैं अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध साहित्यकार और पटकथाकार मनोहर श्याम जोशी की सलाह काबिले गौर है-

'फिल्म में उपकथानक सीमित होने चाहिए और हर उपकथानक फिल्म को गति प्रदान करने वाला होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि आप अपनी फिल्म की कहानी में हर छोटा-बड़ा पात्र ऐसा रखें, जो मुख्य पात्र के मिशन में कहीं न कहीं किसी न किसी तरह से सहायक या बाधक होता हो और इस दृष्टि से मुख्य कथानक का ही अंग बनता हो।'[7]

फिल्म 'शोले' में इमाम साहब तीन दृश्यों में परदे पर आते हैं। पहले दृश्य में वे तब दिखते हैं, जब बसंती मौसी के कहने पर कच्चे आम तोड़ने बाग की ओर जा रही है। उस समय उसे इमाम साहब मस्जिद की सीढ़ियों से उतरते हुए दिखते हैं। तब बसंती उन्हें सहारा देती है और इमाम साहब के कहने पर उनके लड़के अहमद को मामू के बीड़ी-कारखाने में काम करने के लिए समझाती है। दूसरे दृश्य में जब पोस्टमैन इमाम साहब के लड़के की चिट्ठी लेकर आता है, जिसमें उन्होंने

लिखा है कि अहमद की नौकरी पक्की हो गयी है। उसे तुरन्त भिजवा दीजिए। तीसरे दृश्य में जब गब्बर, अहमद को मार कर घोड़े पर लाद कर वापस भेज देता है, तो पुनः इमाम साहब नजर आते हैं। अहमद की लाश के साथ गब्बर एक चिट्ठी भी भेजता है, जिसमें लिखा है कि जब तक जय और वीरू इस गाँव में रहेंगे, लोग इसी तरह से मरते रहेंगे।

गब्बर की चिट्ठी सुन कर गाँव वाले भड़क जाते हैं और वे ठाकुर पर दबाव डालते हैं कि जय व वीरू को गाँव से बाहर निकालो। हम लोग इस मुसीबत का बोझ नहीं उठा सकते। तब इमाम साहब गाँव वालों से पूछते हैं- 'कौन ये बोझ नहीं उठा सकता भाई? मैं बूढ़ा ये बोझ (अपने बेटे की लाश) उठा सकता हूँ और तुम एक मुसीबत का बोझ नहीं उठा सकते?'

इमाम साहब की बात सुन कर गाँव वाले द्रवित हो जाते हैं। उन्हें अपनी गलती का एहसास होता है और वे जय तथा वीरू को रखने के लिए तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार इमाम साहब का प्रसंग न सिर्फ फिल्म में रोचकता पैदा करता है, उसमें एक नया मानवीय रंग भरता है, बल्कि फिल्म की कहानी को आगे बढ़ाने में भी सहायक होता है।

फिल्म 'दिल चाहता है' में समीर और क्रिस्टीन का प्रकरण एक रोचक उपकथा है। होता यूं है कि फिल्म के नायक तीनों दोस्त (आकाश, समीर और सिद्धार्थ) गोवा घूमने जाते हैं। गोवा में समीर की मुलाकात क्रिस्टीन नामक एक अंग्रेज लड़की से हो जाती है। क्रिस्टीन और समीर के बीच नजदीकियां बढ़ती हैं। बकौल समीर वह क्रिस्टीन से प्यार करने लगता है। जब उसके दोस्त वापस लौटने के लिए तैयार होते हैं, तो समीर क्रिस्टीन के साथ वहां कुछ दिन और रुकने की बात कहता है। आकाश और सिद्धार्थ समीर को गोवा में ही छोड़ वापस मुम्बई लौट जाते हैं। क्रिस्टीन दिन भर समीर के साथ घूमती फिरती है। समीर उसे लेकर अपने कमरे में जाता है। क्रिस्टीन के पीछे-पीछे उसका साथी एक लड़का भी वहाँ आ जाता है। दोनों लोग मिल कर समीर को रस्सियों से बांध देते हैं और उसका सारा सामन लूट कर भाग जाते हैं।

इस घटना द्वारा समीर को दिलफेंक आशिक के रूप में स्थापित किया गया है। इसके अतिरिक्त हास्य रस की दृष्टि से भी यह प्रसंग उत्तम है। किसी आलोचक का कहना है कि फिल्म में उपकथाओं का स्थान दाल में नमक की तरह होता है। बिना नमक की दाल एकदम बेस्वाद लगती है, लेकिन यदि दाल में नमक ही नमक नजर आए और दाल बहुत कम हो, तो उसे खाना भी दूभर हो जाता है। यह बात

फिल्म की उपकथाओं पर भी एकदम फिट बैठती है।

यादगार अंत

दर्शक के मन में फिल्म के बारे में बनने वाली धारणा में फिल्म का समापन एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसकी वजह यह है कि पटकथाकार द्वारा फिल्म के अंत में दर्शक को मारधाड़, भावनाओं और संवाद की त्रिवेणी में एकदम सराबोर कर दिया जाता है। जिस प्रकार दौड़ प्रतियोगिता में धावक अन्तिम चरण के लिए अपनी ऊर्जा बचा कर रखता है, उसी प्रकार पटकथाकार फिल्म के अंत में अपनी क्षमताओं को निचोड़ कर रख देता है। इसके पीछे सोच (फिलासफी) यह है कि यदि फिल्म का आरम्भ या मध्य भाग उतना प्रभावी न भी हो, किन्तु अंत दमदार हो, तो दर्शक फिल्मकार की पहले की गल्तियों को माफ कर देता है।

कुमुद नागर के शब्दों में– 'नाटक चाहे दुःखान्त हो या सुखान्त, चाहे हास्य नाटिका हो या सीरियो-कामेडी, उसका अंत निश्चित रूप से प्रभाव छोड़ने वाला होना चाहिए। कहा भी जाता है कि 'अंत भला तो सब भला'। याद रखिए दर्शक हमारे अच्छे काम के लिए जिस प्रकार तारीफ करने में उदारता दिखाता है, उतनी ही तत्परता से नाक-भौं सिकोड़ने से भी बाज नहीं आता।[8]

उपरोक्त बातें फिल्म के बारे में ज्यों की त्यों लागू होती है, इसीलिए फिल्म का अंत विशेष श्रम की मांग करता है। मिर्जा हादी रुसवा के उपन्यास पर आधारित फिल्म 'उमराव जान' अपने प्रभावी और मार्मिक अंत के कारण खूब सराही गयी थी। अमीरन उर्फ उमराव जान, जो हालात का शिकार होकर तवायफ बन जाती है, अन्तिम दृश्य में अपने घर जाती है। वहाँ पर उसकी बूढ़ी माँ मिलती है। वह अपनी अम्मी से लिपट कर रोने लगती है। तभी उसका भाई वहाँ आ जाता है। वहा कहता है– 'नहीं अम्मी, ये अमीरन नहीं, लखनऊ की मशहूर तवायफ उमराव जान है।' फिर वह अपनी बहन से कहता है, 'हम तो समझे थे कि तुम मर गयी हो, लेकिन तुम अभी जिन्दा हो? तुम्हें तो चुल्लू भर पानी में डूब मरना चाहिए था। बेहतर यही होगा कि तुम यहाँ से चली जाओ।' यह सुन कर अमीरन रो पड़ती है और हताश होकर वहाँ से चली जाती है।

निर्माता-निर्देशक विजय आनन्द की फिल्म 'गाइड' भी अपने प्रभावशाली अंत के कारण हमेशा याद की जाती है। कहानी यह है कि एक 'गाइड' को गांव के भोले-भाले लोग अज्ञानतावश सिद्ध-महात्मा समझ बैठे हैं। उसके आभामण्डल से प्रभावित होकर लोग यह विश्वास कर लेते हैं कि ये अपने तपोबल से हमारे सूखा ग्रस्त गाँव में पानी बरसा देंगे। फिल्म में एक पत्रकार उससे पूछता है– स्वामी जी,

क्या आपको लगता है कि बरसात होगी? इस पर स्वामी जी उत्तर में कहते हैं कि मुझे इस असंख्य जनता के विश्वास पर विश्वास है और सचमुच जनता का विश्वास रंग लाता है। गाँव में बारिश होती है और उसी के साथ 'गाइड' के प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं।

जिस फिल्म का अंत जितना मौलिक और रोमांचक होता है, वह फिल्म की लोकप्रियता में उतना ही ज्यादा मददगार साबित होता है। इस दृष्टिकोण से 'मैट्रिक्स' एक उल्लेखनीय फिल्म है। फिल्म के अंत में नायक नियो नायिका ट्रिनिटी के सहयोग से अपने प्रदर्शक मार्फियस को छुड़ाने में सफल हो जाता है। वह अपने शहर रवाना होने के लिए रेलवे स्टेशन पहुँचता है। वहाँ पर एक रेल उन्हें शिप पर पहुँचाने के लिए तैयार होती है। स्टेशन पर एजेंट स्मिथ उनका रास्ता रोकता है। स्मिथ को चकमा देकर ट्रिनिटी और मार्फियस वहाँ से रफूचक्कर हो जाते हैं। नियो स्मिथ से मुकाबला करता है। शरीर में गोली लगने के कारण वह गिर जाता है और अचेत हो जाता है। यह देख कर स्मिथ जोर से हंसता है और कहता कि मनुष्यों का मसीहा मशीन के हाथों मारा गया।

उधर 'शिप' पर ट्रिनिटी और मार्फियस नियो के वास्तविक शरीर के पास खड़े हैं। नियो को गिरते देख कर मार्फियस निराश हो जाता है, लेकिन ट्रिनिटी उसकी मृत्यु को मानने के लए तैयार नहीं होती है। वह शिप में मौजूद नियो के वास्तविक शरीर को सम्बोधित करते हुए कहती है- 'नहीं नियो, नहीं। ओरेकल (भविष्यवक्ता और मनुष्यों की रहनुमा) ने मुझसे कहा था कि मुझे जिससे प्यार हो जाएगा, वही महाशक्तिमान होगा। मुझे तुमसे प्यार है नियो। तुम मर नहीं सकते।' यह सुन कर रेलवे स्टेशन पर पड़े नियो के कृत्रिम (वर्चुअल) शरीर में जान आ जाती है। वह स्मिथ के शरीर के अन्दर घुस जाता है और उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देता है। यह देख कर स्मिथ के साथियों की रूह कांप जाती है और वे सिर पर पैर रख कर भाग खड़े होते हैं।

छोटे पर्दे की कहानी : शैतान की आंत

फिल्म और टी.वी. धारावाहिक की कहानियों के फर्क को जानने से पहले दोनों माध्यम के अंतर को समझना जरूरी है। फिल्म देखते समय जहां अंधेरे हॉल में दर्शकों के सामने एक बड़ी स्क्रीन होती है, वहीं टी.वी. एक छोटे से रोशनीयुक्त कमरे में छोटी सी स्क्रीन के साथ दर्शकों के सामने उपस्थित रहता है। टी.वी. देखते समय इधर-उधर बहुत सारी बातें होती रहती हैं, जो दर्शकों की एकाग्रता में बाधक होती है। फिल्म में जहां लॉग शाट और वाइड शॉट में दृश्यों को कलात्मक स्वरूप प्रदान

किया जाता है, वहीं दूरदर्शन का पर्दा छोटा होने के कारण उसके लिए ऐसे शॉट अनुपयोगी सिद्ध होते हैं। फिल्म में संवाद का उतना ही प्रयोग होता है, जितना जरूरी समझा जाता है। जबकि दूरदर्शन के दर्शकों के लिए यह माना जाता है कि वे घर की चिल्ल-पों के बीच बैठे हुए हैं, जिसमें उनका ध्यान खींचे रहने के लिए लच्छेदार बातें होती रहना बहुत जरूरी है। इसके अतिरिक्त दूरदर्शन के दर्शक के हाथ में एक रिमोट भी होता है, जिसके एक इशारे पर अन्य तमाम चैनल अपने ढ़ेरों मनोरंजक कार्यक्रम परोसने के लिए तैयार खड़े रहते हैं। जबकि हॉल में फिल्म देखते समय दर्शक के पास ऐसा कोई 'आप्शन' नहीं होता।

मनोहर श्याम जोशी फिल्म और टी.वी. की कहानी के अन्तर स्पष्ट करते हुए कहते हैं- 'फिल्म की कहानी नायिका अथवा नायक प्रधान होती है। उस नायक अथवा नायिका का कोई एक लक्ष्य होता है। लक्ष्य की प्राप्ति में कई बाधाएं होती हैं, जिनसे जूझ कर वह अपने लक्ष्य तक पहुंच पाता है। दूसरी ओर टेलीविजन धारावाहिक की कहानी में कई-कई नायक नायिकाएं होती हैं। वह एक निश्चित अवधि में ही पूरी दिखा देने के लिए अथवा पात्रों की जिंदगी का एक निश्चित कालक्रम ही दर्शाने के लिए नहीं लिखी जाती। उसका कोई सुनिश्चित अंत नही होता...। फिल्म के लिए बड़ी छोटी सी कहानी चाहिए। उस कहानी में भी बाहरी-भीतरी वातवरण को दर्शाने की गुंजाइश अधिक चाहिए, संवाद कम। लेकिन धारावाहिक में बड़ी और जटिल सी कहानी चाहिए। ऐसे संवादों की भरमार, जिनसे चरित्र-चित्रण होता हो, आवश्यक सूचनाएं मिलती हों और हर दृश्य में नाटक और कौतूहल पैदा होता हो। टेलीविजन धारावाहिक इस मायने में उपन्यास, मंच के नाटक और फिल्म की विधाओं को मिला कर बनायी गयी चाट है, जिसमें फिल्म का अंश सबसे कम है।'[9]

किसी भी एक परिवार के सभी लोग एक जैसी प्रकृति के नहीं होते हैं। उनकी रुचियों और मान्यताओं में भी काफी भिन्नता पाई जाती है। इस बात को ध्यान में रखते हुए टी.वी. की कहानी कुछ इस तरह से बुनी जाती है, जिसमें भिन्न रुचियों वाले कई एक नायक-नायिकाएं होती हैं। हर पात्र की अपनी एक अलग कहानी होती है, जो दूसरे पात्रों की कहानियों के सामानान्तर चलती रहती है। धारावाहिक के दर्शकों में मूल रूप से महिलाएं और लड़कियां होती हैं, इसलिए उनमें प्रखर स्त्री चरित्रों को प्रमुखता दी जाती है और इन चरित्रों के माध्यम से महिला समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। ये चरित्र पुरुष पात्रों से बराबर की टक्कर लेते हैं और अपने व्यवहार में 'मर्दवादी' रवैया अपनाते हैं। सामान्यतः ऐसे चरित्र पहले तो बेहद कमजोर और निरीह दिखाए जाते हैं, जो बाद में अबला से 'लौह महिला' में तब्दील हो जाते

हैं। ये स्त्री पात्र अपनी जिंदगी के सारे फैसले अपनी मर्जी से करते हैं, अपनी मर्जी से (शादी से पहले और शादी के बाद भी) चलते हैं और अपनी मर्जी से कई-कई बार शादियां रचाते हैं।

प्रेम-प्रसंग धारावाहिकों के दर्शकों का एक प्रिय विषय है। प्रायः कहानी के सभी पात्रों का 'चक्कर' किसी न किसी पात्र के साथ चलता रहता है। कुछ पात्र तो ऐसे होते हैं, जिनकी एक से अधिक लोगों के साथ कहानी चलती रहती है। मां-बेटी के सामानान्तर प्रेम प्रसंग दिखाना और जायज तथा नाजायज औलादों के बीच जायदाद की जंग दिखाना धारावाहिकों का प्रिय शगल है।

धारावाहिक की कहानियों का ढ़ांचा इस तरह से तैयार किया जाता है कि वे अननन्तकाल तक चलायी जा सकें, इसीलिए उनमें एक जैसी घटनाओं और संवादों को बार-बार दोहराया जाता है। कभी किसी वजह से यदि किसी दर्शक से दो-चार कड़ियां (एपीसोड) देखने से रह जाएं, तो उसे पुनः कहानी समझने में कोई दिक्कत न हो, इस बात का बहुत ध्यान रखा जाता है। आमतौर से इनकी कहानी की गति इतनी सुस्त होती है कि कई-कई कड़ियां निकल जाने के बाद भी लगता नहीं कि कहानी आगे बढ़ी है। दर्शकों को पिछली घटनाओं की याद ताजा बनी रहे, इसलिए अक्सर फ्लैश बैक अथवा संवाद द्वारा बीच-बीच में उनका स्मरण कराया जाता रहता है।

'अलिफ लैला' की कहानी के बारे में यह विख्यात है कि वह हर रात बादशाह को अपनी कहानी सुनाती थी और फिर भी कहानी खत्म नही होती थी। इसके पीछे कारण था बादशाह का वह हुक्म, जिसमें उसने कहा था कि जिस दिन तुम्हारी कहानी समाप्त हो जाएगी, उसी दिन तुम्हारे सिर को धड़ से अलग कर दिया जाएगा। इस मामले में धारावाहिक की कहानियां भी अलिफ लैला की प्रतिद्वन्द्व मानी जाएंगी। ये कहानियां कड़ी दर कड़ी शैतान की आंत की तरह खिंचती चली जाती हैं। इसके लिए पटकथाकार कुछ प्रमुख सूत्रों का सहारा भी लेता है, जिन्हें कहानी खींचने के नुस्खे के नाम से जाना जाता है।

हमारे जीवन की कुछ ऐसी घटनाएं, जो अतिनाटकीय होती हैं और बहुत कम देखने को मिलती हैं, धारावाहिकों में कहानी खींचने के नुस्खे के रूप में इस्तेमाल में लाई जाती हैं। जैसे किसी की लाटरी खुल जाना, वसीयत में अनपेक्षित जगह से बहुत सा धन मिला जाना, किसी के चेहरे पर तेजाब फेंका जाना, अविवाहित लड़की का गर्भवती हो जाना, किसी को एड्स/कैंसर हो जाना, किसी की याद्दाश्त चली जाना, किसी के अतीत से जुड़ा पात्र वर्तमान में आ जाना, किसी आदर्शवादी पात्र का पुराना

प्रेम-प्रसंग पता चलना, किसी लड़की का अपने प्रेमी के संग भाग जाना, किसी पात्र का बिना बताये गायब हो जाना, किसी का गम्भीर एक्सीडेंट हो जाना आदि-आदि। इस तरह की तमाम घटनाएं कहानी में अतिनाटकीयता का संचार करती हैं। इस तरह की घटनाओं द्वारा जहां कहानी में एक नया मोड़ आ जाता है, वहीं उसे 10-15 एपीसोड तक आराम से खींचा जा सकता है।

दर्शकों को धारावाहिक के साथ जोड़ने के लिए उनकी राय भी मांगी जाती है। अक्सर इस तरह के पत्रों द्वारा दर्शक न सिर्फ अपनी राय देते हैं, बल्कि यह भी बताते हैं कि फलां पात्र को ऐसा नहीं करना चाहिए और फलां पात्र को अपनी मुसीबत से छुटकारा पाने के लिए यह कदम उठाना चाहिए। अक्सर पात्रों की मांग पर कहानी के रुख को उल्टा मोड़ना पड़ जाता है। कई बार किसी लोकप्रिय पात्र के साथ कोई अनहोनी दिखा देने पर दर्शक भड़क जाते है और उस 'गल्ती' को सुधारने की चेतावनी तक दे बैठते हैं। उस परस्थिति में पटकथाकार को अपने धारावाहिक की लोकप्रियता (टी.आर.पी.) बचाए रखने के लिए वैसा करना पड़ता है, जैसा दर्शक-भगवान चाहते हैं।

संदर्भ सूची

1. सुशील सिद्धार्थ, फीचर फिल्म लेखन कला, 'मीडिया लेखन', पृष्ठ-112
2. मनोहर श्याम जोशी, 'पटकथा लेखनः एक परिचय', पृष्ठ-91
3. सुशील सिद्धार्थ, फीचर फिल्म लेखन कला, 'मीडिया लेखन', पृष्ठ-112
4. जावेद अख्तर, 'सिनेमा के बारे में' (साक्षात्कार), पृष्ठ-65
5. कुमुद नागर, 'टेलीविजन लेखनः सिद्धान्त और प्रयोग', पृष्ठ- 66
6. विनय शुक्ला, पटकथा लेखन कार्यशाला, 17-22 अक्टूबर, 2005, फिल्म बंधु, लखनऊ
7. 'पटकथा लेखनः एक परिचय', पृष्ठ-99
8. 'टेलीविजन लेखनः सिद्धान्त और प्रयोग', पृष्ठ-20
9. संकलित साक्षात्कार, 'टेलीविजन लेखन', पृष्ठ-76

कोई अंतरंग चरित्र भी है? नायक और यदि नायिका भी है, तो उनके चरित्रों की मूलभूत प्रवृत्तियाँ कौन सी हैं? खलनायक यदि है, तो उसकी विशेषताएं क्या हैं? अन्य चरित्रों की अपनी-अपनी विशेषताएं क्या हैं? ...चरित्र परिस्थितियों से प्रभावित होकर विकसित होते रहते हैं अथवा वे अपने सबल व्यक्तित्व से परिस्थितियों को नयी दिशा भी प्रदान करते हैं? ...विभिन्न चरित्र अपने-अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व से अनुप्राणित हैं अथवा किन्ही प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि बन कर आते हैं?'[1]

किसी भी नाटक अथवा फिल्म में 'नायक और नायिका को विषय वस्तु के अनुरूप होना चाहिए। अन्य पात्रों का समावेश केवल इस अभिप्राय से होना चाहिए कि कथावस्तु का विकास स्वाभाविक रूप से हो सके, अपेक्षित रस का परिपाक कराने में सहायता मिले और इन सबके साथ नाटक का श्रृंगार बने। ...इन पात्रों के व्यवहारों और वार्ताओं को नायक-नायिका के चरित्र विकास में सहायक होना चाहिए। इनकी गलतियाँ भी ऐसी होनी चाहिए, जिनसे नायक-नायिका के प्रति सहानुभूति उत्पन्न होती हो। तात्पर्य यह कि अन्य पात्र नायक-नायिका के चरित्र-चित्रण में सहायता देने के लिए विशेष रूप से होने चाहिए। यों कुछ पात्र दर्शकों या पाठकों के मनोरंजन के लिए भी हो सकते हैं। यदि वे भी मूल कथावस्तु से सम्पृक्त हों और नायक-नायिका के चरित्र-विकास में सहायक हों तो और भी अच्छा।'[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पात्रों से ही कहानी में वजन आता है। पात्रों का चरित्र यदि दमदार हो, तो कहानी सुनने व देखने दोनों में मजा आता है, इसलिए किसी भी पटकथाकार के लिए यह जानना आवश्यक है कि पात्र कितने प्रकार के होते हैं, पात्रों को विशिष्ट किस प्रकार बनाया जाता है और पात्रों द्वारा कहानी में किस प्रकार से रंग भरा जाता है। पात्रों की इस महिमा को जानने के लिए इसका विस्तृत अध्ययन आवश्यक है।

पात्रों के प्रकार

पात्र कितने प्रकार के होते हैं? किसी आम आदमी की दृष्टि में यह प्रश्न बड़ा हास्यास्पद हो सकता है, पर बिना इस प्रश्न से जूझे कोई भी व्यक्ति अच्छा पटकथाकार नहीं बन सकता। पटकथा के विशेषज्ञों ने पात्रों को दो वर्गों में विभक्त किया है। नम्बर एक- विशिष्ट पात्र अर्थात् 'आर्कटाइप' और नम्बर दो- साधारण पात्र, जिन्हें 'स्टीरियोटाइप' के नाम से भी जाना जाता है।

विशिष्ट पात्र यूं तो साधारण पात्र ही होते हैं, लेकिन उनमें कुछ ऐसी विशेषता होती है, जो उनके चरित्र को आम आदमी से अलग बना देती है और उन्हें देख कर आदमी बरबस ही कह उठता है कि आदमी हो तो ऐसा। ये पात्र मिथक, पुराण और

लोककथाओं से प्रेरित होते हैं। या यूं कहें कि उनसे प्रेरणा लेकर गढ़े जाते हैं, तो ज्यादा उचित होगा। जैसे भरत जैसा आज्ञाकारी भाई, सीता जैसी पतिव्रता पत्नी, कर्ण जैसा अन्धभक्त मित्र, अभिमन्यु और लवकुश जैसे परमवीर पुत्र, यशोदा और कौशल्या जैसी ममतामयी माँ, मन्थरा जैसी अधम कुटिला, राधा जैसी समर्पित प्रेमिका, कृष्ण-सुदामा जैसी अप्रतिम मित्रता, राम जैसा आज्ञाकारी और वचनपालक बेटा, लक्ष्मण जैसा समर्पित भाई, दशरथ जैसा पत्नी आसक्त पति और हातिम जैसा दयावन सरदार आदि-आदि।

राम को वन-वन भटकते, सीता को अपने पतिव्रता धर्म की रक्षा के लिए हजारों-हजार कष्ट सहते हुए, लक्ष्मण को निष्ठापूर्वक भाई की सेवा करते हुए, दशरथ को अपने वचनों के आगे मजबूर होते हुए हम सबने हजारों हजार बार पढ़ा-सुना व देखा है। ये मिथक जनमानस में बहुत गहरे तक छाए हुए हैं। इन मिथकों से मिलता-जुलता जब भी कोई पात्र पर्दे पर नजर आता है, तो उस पात्र की छाया में दर्शक को राम, सीता, राधा व कौशल्या आदि के दर्शन होने लगते हैं। इस वजह से दर्शक उस पात्र से एक तरह का श्रद्धा मिश्रित लगाव महसूस करने लगता है। अगर हम नजर उठा कर अपने आसपास देखें तो हमारे वास्तविक जीवन में ऐसे पात्र बहुत कम दिखाई पड़ते हैं, इसीलिए ऐसे पात्रों को विशिष्ट पात्र(आर्कटाइप) अर्थात् सामान्य से अलग छवि वाले पात्र (लार्जर दैन लाइफ) का खिताब दिया जाता है।

साधारण पात्र वे होते हैं, जो हमारे चारों ओर बिखरे हुए हैं। ये पात्र इतने घिसे-पिटे, इतने जाने-पहचाने, इतने आम होते हैं कि इनके बारे में सुनते ही व्यक्ति कह उठता है- 'अरे छोड़ो यार, होगा कोई।' इस तरह के पात्रों को भी दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है। पहले वे, जो एकदम साधारण हैं। जो 'लेना एक न देना दो' के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं और अपने आप में ही मगन रहते हैं। इस तरह के पात्र बिना कारण दूसरों को तंग नहीं करते। ये पात्र हमारे चारों ओर बिखरे हुए हैं। जैसे ममतामयी माँ, कठोर बाप, स्नेही चाचा, खुशमिजाज पड़ोसी, लंगोटिया यार, स्नेही मौसी, निष्ठुर काकी, सीधी-साधी बहन, कोमलांगी प्रेमिका, मस्तमौला टीचर, कंजूस बनिया आदि। दूसरे तरीके के वे पात्र हैं, जो बेहद घटिया और बुरे पात्र कहलाते हैं। किसी को सुखी और प्रसन्न देखना इनकी फितरत में नहीं होता, इसीलिए ये उनकी जिंदगी में कोई न कोई पलीता लगाते रहते हैं। ये पात्र अपने सुख से नहीं, दूसरों के दुःख से प्रसन्न होते हैं, इसलिए हमेशा ये अपने प्रिय कर्म में रत रहते हैं। सौतेली माँ, सौतेला भाई/बहन, ईर्ष्यालु मित्र/पड़ोसी/बॉस/टीचर, क्रूर सास, चालबाज ननद/देवरानी/जेठानी, धूर्त नेता/गुण्डे/पुलिस आदि पात्र इस श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

एक पटकथाकार के लिए यह आवश्यक है कि वह इस तरह के तमाम पात्रों की श्रेणीवार सूचियाँ बना कर रखे। इसका सबसे बड़ा फायदा यह है कि जब कभी कहानी को विकसित करना हुआ या नया पात्र डालना हुआ, तो अपनी सूची में से उपयुक्त पात्र छांट लिया। इसका दूसरा फायदा यह भी है कि पटकथाकार का जो समय उस इच्छित पात्र की खोज में लगता है, वह भी बच जाता है। इस प्रकार पात्रों की सूची न सिर्फ लेखक के समय को बचाती है, बल्कि पटकथा को प्रभावी बनाने में भी बहुत मददगार होती है। किसी भी लेखक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने आस-पास के समाज का अध्ययन करता रहे और नये-नये पात्रों से अपनी सूची को समृद्ध करना रहे। इससे पटकथा के लिए नये-नये पात्र मिलते रहेंगे, जिससे उसे अपनी पटकथा को प्रभावी बनाने में बहुत मदद मिलेगी।

पात्रों की विशिष्टताएँ

सामान्य से सामान्य अथवा बुरे से बुरा पात्र, भले ही वह कितना घिसा-पिटा और परिचित सा क्यों न हो, उसके अंदर कुछ न कुछ ऐसा अवश्य होता है जो सामान्य से अलग होता है। यह गुण ही उस पात्र की विशिष्टता होती है या यूं कहें कि पात्र को विशिष्ट बनाता है। जैसे बहुत ज्यादा धार्मिक/कर्मकाण्डी होना, हमेशा गुजरे जमाने को याद करना, हर एक की आलोचना करना, बात-बात में महापुरुषों का नाम लेना, तकिया कलाम इस्तेमाल करना, शास्त्रीय संगीत सुनना, शायरी का शौकीन होना, देश में फैले भ्रष्टाचार पर चिन्ता व्यक्त करना, नेताओं को गाली देना, अन्याय को बुरा बताते हुए भी स्वयं उसमें लिप्त रहना, चिड़ियों को दाना चुगाना, नियमित गाय को रोटी देना, घायल पशुओं की सेवा करना, राह चलते बूढ़े/कमजोर लोगों को रास्ता पार कराना, नल को खुला छोड़ देना, कुछ भी खाते समय थोड़ा सा पहले निकाल कर अलग रख देना, बात-बात में अपने पुत्र, पिता, पत्नी, बेटी के गुणों का उदाहरण देना, बहुत जल्दी-जल्दी बोलना, बोलते समय किसी खास अक्षर पर हकलाना व हमेशा हड़बड़ी में रहना आदि इत्यादि।

फिल्म 'वक्त-द रेस अगेन्स्ट टाइम' में नायिका के पिता की यह आदत है कि वह सामने वाले की कोई भी बात बर्दाश्त नहीं कर पाता है और अपने परिवार के किसी भी व्यक्ति से सम्बन्धित उससे बड़ा उदाहरण सुनाने लगता है। वह अपनी इस आदत का इतना लती है कि मौका और दस्तूर कुछ भी नहीं देखता और हर समय चालू रहता है। फिल्म के एक दृश्य में जब उसे पता चलता है कि अमिताभ बच्चन को कैंसर की बीमारी है, तो भी वह कहता है कि यह भी कोई कैंसर है, मेरे मौसा

को दो-दो कैंसर थे। 'वक्त-द रेस अगेन्स्ट टाइम' में ही अमिताभ का नौकर, जो कम बुद्धि का है, को बिना मतलब के सवाल पूछने की बीमारी है। अमिताभ बच्चन जब उससे कहता है कि जाओ पीने के लिए पानी ले आओ, तो वह पूछता है कि बाथरूम से लाऊं या किचन से? जब उसको बताया जाता है कि किचेन से, तो वह पूछता है कि ठन्डा लाऊं या गरम? और जब यह भी पता चल जाता है कि गरम लाना है या ठन्डा, तो वह पूछता है कि गिलास में लाऊं या जग में? इससे एक तो हास्य रस की उत्पत्ति होती है, दूसरे उस पात्र को एक विशिष्ट पहचान मिलती है।

'शोले' का गब्बर सिंह यूं देखा जाए, तो एक साधारण सा डाकू है, लेकिन उसके चरित्र की दो-तीन छोटी-छोटी खूबियाँ ऐसी हैं, जो एकदम अनोखी हैं। पहली विशेषता है बड़बोलापन। गब्बर अपने ऊपर सरकार द्वारा लगाए गये इनाम की रकम खुद नहीं बताता है। वह उसे सांभा से पूछता है और जब सांभा इनाम की रकम बता देता है, तो वह उस रकम का महत्व बताते हुए कहता है कि यहाँ से पचास-पचास कोस तक जब कोई बच्चा रोता है, तो माँ कहती है कि बेटा सो जा, नहीं तो गब्बर सिंह आ जाएगा। इसीलिए सरकार ने उस पर पचास हजार रुपयों का इनाम रखा है।

गब्बर की दूसरी विशेषता है उसका जालिमपन, जो उसके शब्दों से भी टपकता है। जब वह ठाकुर के दोनों हाथ बांध देता है और वह छूटने के लिए कसमकसाता है, तो गब्बर कहता है- 'कैसा फड़फड़ा रहा है, साला।' इसी प्रकार फिल्म के उत्तरार्ध में जब वीरू और बसंती को पकड़ कर गब्बर के साथी उसके अड्डे पर ले जाते हैं, तो गब्बर बसंती से नाचने के लिए कहता है। बसंती के इनकार करने पर गब्बर उससे कहता है- 'देखो छमिया, ज्यादा नखरे मत करो हमसे। नहीं तो ये गोरी चमड़ी है न, सारे बदन से खुरच-खुरच कर उतार दूँगा।'

तीसरी चीज है अनिश्चितता, जो गब्बर के चरित्र में बुरी तरह से छायी रहती है। वह कब क्या करेगा, क्या कहेगा, यह अंदाज लगाना नामुमकिन है। जैसे होली के दिन जब गब्बर रामगढ़ जाता है और जय तथा वीरू को आत्मसर्मपण करने के लिए मजबूर कर देता है, तो वह उन्हें खत्म कर सकता था। लेकिन वह उन्हें मारने के बजाए अपने पैर छूकर गिड़गिड़ाने के लिए कहता है। इसी प्रकार जब गाँव में वसूली करने गये उसके साथी खाली हाथ लौट आते हैं, तो वह बहुत नाराज होता है। उस समय उसका बोलने का लहजा ध्यान देने लायक है। जब गब्बर यह पूछता है कि कितने आदमी थे, तो उसका स्वर सामान्य है, लेकिन जब उसे पता चलता है कि सिर्फ दो आदमी थे, तो वह जोर से चिल्लाता है- 'सुअर के बच्चों।' अगले ही पल वह फिर सामान्य हो जाता है। एक-दो बातों के बाद वह फिर जोर से चीखता

है- 'धिक्कार है।' यह देख कर लगता है कि अब वह चिल्लाता ही जाएगा, लेकिन नहीं, वह अपनी आवाज फिर सामान्य कर लेता है। थोड़ी देर बाद जब वह तीनों डाकुओं को गोली मारता है और तीनों लोग बच जाते हैं, तो वह गुस्सा होने, चीखने-चिल्लाने की जगह हंसने लगता है और फिर हंसते-हंसते उन्हें गोली मार देता है। इस तरह ये तीनों विशेषताएं ऐसी हैं जो गब्बर के चरित्र को आम डाकू से ऊपर उठा कर अलग छवि प्रदान करती हैं। इसी छवि के कारण गब्बर न सिर्फ फिल्म को हिट करा देता है, बल्कि जनमानस में भी बुरी तरह से छा जाता है।

फिल्म 'मदर इंडिया' का खलनायक सुक्खी लाला एक सूदखोर बनिया है। देखने में वह एक छोटा सा पतला-दुबला निरीह आदमी है, लेकिन अपनी शातिर चालों से सारे गाँवों की जायदाद का मालिक बनता चला जाता है। बात-बात में सुक्खी शेर की तरह दहाड़ता है, लेकिन जैसे ही कहीं पर बाजी पलटने लगती है या बात बिगड़ने लगती है, तो वह एकदम मेमना बन जाता है और भिखारी की तरह गिड़गिड़ाने लगता है। सुक्खी की यह गिड़गिड़ाने वाली अदा उसके पात्र में एक अलग रंग भरती है और वह अन्य पात्रों की भीड़ में दूर से चमकता हुआ नजर आता है।

कभी-कभी कोई पात्र मूक रह कर भी कुछ ऐसी गतिविधि को अंजाम दे देता है, जो उसके चरित्र में चार चाँद लगा देती है। फिल्म 'द पैट्रियाट' का नायक बेंजामिन मार्टिन अमेरिका का निवासी है। वह ब्रिटेन की सेना में एक जाबांज सैनिक के रूप में अपनी भूमिका निभा चुका है। एक नाटकीय घटनाक्रम के तहत वह ब्रिटेन की बागी सेना का नेतृत्व संभाल लेता है। उसके मन में ब्रिटेन के प्रति तीखा आक्रोश है। वह अपने इस आक्रोश को एक बिलकुल नये तरीके से व्यक्त करता है। फुर्सत के समय में मार्टिन अपने बचपन में जमा की गयी अंग्रेज सिपाहियों की लघु मूर्तियों को चम्मच में रख कर गर्म करता है। इससे वे मूर्तियाँ पूरी तरह से पिघल जाती हैं। पिघलने के बाद मार्टिन उन्हें सांचे में डाल कर गोली के रूप में जमा लेता है और लड़ाई के दौरान अंग्रेज सिपाहियों पर उनका इस्तेमाल करता है।

एक प्रभावशाली पटकथा के लिए सिर्फ शक्तिशाली नायक ही नहीं, दमदार खलनायक की भी आवश्यकता होती है। खलनायक जितना ताकतवर होता है, वह नायक को उतनी अच्छी चुनौती प्रस्तुत करता है। इससे न सिर्फ 'टकराव' आकर्षक बनता है वरन नायक का चरित्र भी मजबूती के साथ उभर कर सामने आता है।

सिर्फ नायक/नायिका या खलनायक ही नहीं, अन्य चरित्रों पर भी पटकथाकार को पर्याप्त ध्यान देना चाहिए। एक अच्छे पटकथाकार की यह निशानी है कि वह अपने छोटे से छोटे पात्र को भी एकांगी और नीरस नहीं रहने देता। वह अपने लघु से लघु

पात्र में भी कोई न कोई ऐसी खूबी डाल देता है, जो उसके चरित्र में चार चाँद लगा देती है।

पात्रों से साक्षात्कार

जब हम किसी व्यक्ति से पहली बार मिलते हैं, तो सबसे पहले हमारी नजर उसकी शारीरिक बनावट पर जाती है। वह गोरा है अथवा काला? लम्बा है अथवा नाटा? पतला है अथवा मोटा? उसकी आँखें कैसी हैं? उसके बालों का रंग कैसा है? उसकी नाक किस बनावट की है? वगैरह-वगैरह। उसके बाद हमारी नजर उसके पहनावे पर जाती है कि वह किस तरह के कपड़े पहनता है। किसी भी व्यक्ति का पहनावा उसके बारे में काफी कुछ बयां कर देता है। वह किस वर्ग से सम्बन्ध रखता है, उसकी धार्मिक पहचान क्या है और वह किस पेशे से जुड़ा हुआ है। जैसे अगर कोई व्यक्ति सिखों वाली पगड़ी के साथ-साथ खाकी रंग की वर्दी पहने हुए है, तो उससे कोई नहीं पूछेगा कि क्या आप सरदार हैं? अथवा क्या आप पुलिस विभाग में काम करते हैं? यदि कोई व्यक्ति सफेद खादी का धोती-कुर्ता पहने दिखता है, तो उसके बारे में आप समझ जाते हैं कि वह नेता टाइप आदमी है।

उसके बाद जब वह व्यक्ति बोलता है और आपसे बातें करने लगता है, तो आपको उसके शैक्षिक स्तर, विचारधारा, पसंद-नापसंद, आदतें, शौक, खान-पान आदि का भी धीरे-धीरे परिचय मिलता जाता है। धीरे-धीरे आप उसके उठने-बैठने, चलने-फिरने, उसकी दिनचर्या आदि से पूरी तरह वाकिफ हो जाते हैं।

इसी तरह से जब कोई कहानीकार अपनी कहानी के लिए किसी पात्र को गढ़ता है, तो उससे सम्बन्धित समस्त जानकारी उसके पास नोट होनी चाहिए। इस जानकारी से पहला फायदा यह होता है कि उसके चरित्र को प्रभावी बनाने में मदद मिलती है। दूसरा अन्य पात्रों से उसका सम्बन्ध कैसा होगा और कहानी के विकास में वह क्या भूमिका निभा सकता है, यह भी आसानी से समझ में आ जाता है। कुमुद नागर के अनुसार-

'नाटक (और फिल्म) लिखने से पहले अगर अपने प्रमुख पात्रों की विस्तृत रूपरेखा बना ली जाए, तो बहुत उपयोगी रहता है। पात्र का नाम, उम्र, पेशा, पारिवारिक ढांचा, उसकी आय, पत्नी के साथ उसके सम्बन्ध, उसका जीवन स्तर और शैली आदि यदि पहले से तय हो जाएं, तो उस पात्र के रूप-रंग, व्यवहार और शब्दावली आदि के निरूपण में आसानी हो जाएगी और इतना कर लेने पर उस पात्र से आपका इतना निकट का परिचय हो जाएगा कि वह एकांत में शायद आपसे बातें भी करेगा, अपने बारे में बताएगा, आपको उकसाएगा कि आप उसके बारे में लिखें।'[3]

'आमतौर से (अपवादों को छोड़ कर) व्यक्ति अपनी जिंदगी में जैसा दिखता है, वैसा होता भी है। अर्थात् किसी व्यक्ति के रंग-रूप और वेशभूषा द्वारा उस व्यक्ति के चरित्र के बारे में भी काफी हद तक जानकारी मिल जाती है। इसीलिए फिल्मों में, जहाँ समय के अभाव के कारण व्यापक चरित्र-चित्रण कर सकने की गुंजाइश नहीं होती, ऐसे अभिनेता-अभिनेत्री चुने जाते हैं, जो देखने-सुनने में सम्बद्ध पात्र के चरित्र के अनुरूप लगते हों। इसे ही टाइप कास्टिंग कहा जाता है। याद रखिए कि दर्शक पात्र की बाहरी विशेषताओं से उसकी भीतरी विशेषताओं का अनुमान लगाते हैं। इसका फायदा उठाते हुए नाटक और पटकथा लिखने वाले अपने पात्र की किसी बाहरी विशेषता को उसकी भीतरी विशेषता का प्रतीक भी बना सकते हैं। शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक 'रिचर्ड थर्ड' का नायक विकलांग है और यह विकलांगता उसके चरित्र की खामियों का बाहरी प्रतीक बन जाती है।'[4]

किसी भी पात्र के बारे में मोटी-मोटी बाहरी जानकारी कर लेने के बाद बारी आती है उसके मानसिक स्तर को जानने व् समझने की। अर्थात् वह किस दर्शन को मानता है, भाग्यवादी है अथवा कर्मशील, आस्तिक है अथवा नास्तिक, सोशलिस्ट है अथवा कम्युनिस्ट? क्योंकि कोई भी व्यक्ति जैसा सोचता है, वह उसी के अनुसार कार्य करता है और जब वह कोई कार्य करता है, तो उसके आस-पास के व्यक्ति उससे प्रभावित होते हैं। उसी के अनुसार उस व्यक्ति का अन्य लोगों के साथ सम्बन्ध कायम होता है। इसलिए उसकी विचारधारा (आइडियोलॉजी) से सम्बन्धित सम्पूर्ण जानकारी भी पटकथाकार के पास संग्रहीत होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त पात्र विशेष का व्यवहार भी उसकी पहचान बनाने में प्रमुख भूमिका निभाता है। जैसे कोई व्यक्ति यदि आशावादी नजरिया रखता है, तो वह निराशावादी लोगों के बीच अपने को सहज नहीं रख पाता। बात-बात में वह उनका विरोध करता है। इससे टकराव की स्थितियाँ पैदा होती हैं। नतीजतन वह धीरे-धीरे निराशावादी प्रकृति के लोगों से मिलना-जुलना बंद कर देता है। इसलिए लेखक के पास यह जानकारी भी होनी चाहिए कि उसका पात्र आशावादी है अथवा निराशावादी? खुशमिजाज है अथवा उदास? दरियादिल है अथवा कंजूस? हिम्मतवाला है अथवा डरपोक?

पात्रों के शारीरिक और मानसिक स्तर की समस्त जानकारी कर लेने के बाद एक और छोटी सी बात भी यदि ध्यान में रखी जाए, तो सर्वथा उचित होगा। वह है पात्र का पेशा। अर्थात् पात्र की रोजी-रोटी का जरिया क्या है? वह व्यापारी है अथवा तकनीकी विशेषज्ञ? सरकारी मुलाजिम है या फिर कोई दलाल? व्यक्ति का पेशा उसके सामाजिक सम्पर्क, उसके व्यवहार और उसकी भाषा को भी दर्शाते हैं। पात्र

के चरित्रीकरण के लिए भी यह अत्यंत आवश्यक है। पेशे से अनुसार ही किसी व्यक्ति की 'आय' का अनुमान लगाया जाता है। क्योंकि ऐसा नहीं हो सकता है कि कोई व्यक्ति लगाता हो चाट का ठेला, लेकिन घूमता हो सफारी अथवा शेवरलेट में। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ज्यादातर लोगों के सामाजिक सम्बन्ध उसकी हैसियत के अनुसार ही कायम होते हैं। इसलिए किसी पात्र को गढ़ते समय उसके पेशे को ध्यान में रखना निहायत जरूरी होता है।

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि फिल्म/दूरदर्शन धारावाहिक की कहानी तैयार करते समय अपने सभी प्रमुख पात्रों का बायोडाटा तैयार कर लेना चाहिए। इसका सबसे बड़ा कारण तो यह है कि धारावाहिक बहुत दिनों तक चलता है और ऐसे में हो सकता है कि एक लेखक अपने कुछ छोटे पात्रों के बारे में भूल जाए या अपने बड़े पात्रों के बारे में कोई ऐसी गल्ती कर जाए, जो उसके पहले दिखलाए गये रूप से भिन्न हो। इस तरह के बायोडाटा में आप अपने पात्रों के बारे में एक-एक छोटी जानकारी लिख लें। ठीक उसी तरह जैसे एक जासूस अपने केस के बारे में एक-एक जानकारी इकट्ठा करता है। इसमें उसकी आदतें, बाकी पात्रों से उसके सम्बन्ध की बारीकियाँ, उसका अगर कोई तकिया कलाम हो तो वह, उसकी इच्छाएं आदि एक-एक छोटी-बड़ी आदतों को लिख लिया जाता है। इससे आगे लेखन में बहुत सुविधा हो जाती है। यह काम थोड़ा श्रमसाध्य है, लेकिन लेखक के काम को बाद में आसान बना देता है।'[5]

पात्रों का विकास

अक्सर लोगों के जीवन में कोई न कोई ऐसी घटना जरूर घटती है, जो उसकी जीवन-शैली में महत्त्वपूर्ण बदलाव का सबब बन जाती है। जैसे किसी परिवार में मुखिया को कोई लाइलाज बीमारी हो जाना, मुखिया की नौकरी छूट जाना, उसका किसी लड़की/औरत के प्यार में गिरफ्तार हो जाना, जवान लड़के का घर छोड़ जाना, लड़की का किसी के साथ भाग जाना आदि। इन तमाम परिस्थितियों में परिवार के अन्य सदस्यों के सामने 'करो या मरो' की स्थिति बन जाती है और उसके साथ वह सब घटित होने लगता है, जिसकी उन्होंने कभी कल्पना भी नहीं की थी।

मान लीजिए एक परिवार का मुखिया दुर्घटना में मारा जाता है। उस व्यक्ति के परिवार में पत्नी के अलावा तीन बच्चे हैं। बच्चों में सबसे बड़ी लड़की है, जो स्नातक कर चुकी है। दूसरे नम्बर पर लड़का है, वह स्नातक द्वितीय वर्ष का विद्यार्थी है और सबसे छोटा लड़का हाईस्कूल का विद्यार्थी। यहाँ से कहानी किसी भी तरफ जा सकती है। कहानी में अतिनाटकीयता लानी हो, तो दिखाया जा सकता है कि माँ

भी सदमे की वजह से चारपाई पकड़ लेती है। बच्चों के कन्धों पर घर की जिम्मेदारी आ जाती है। अगर बड़ी लड़की को एक मजबूत पात्र दिखाना है, तो दिखा सकते हैं कि वह किसी कम्पनी में नौकरी करने लगती है। उसका बॉस एक ईमानदार और रहमदिल इंसान है। वह लड़की की मदद करता है। लेकिन यदि लड़की के चरित्र से भी कहानी में मोड़ पैदा करना है, तो दिखाया जा सकता है कि वह किसी नौकरी दिलाने वाले दलाल के चक्कर में फँस जाती है और उसकी हवस का शिकार हो जाती है। इसी बीच छोटे वाले लड़के की फीस न जमा हो पाने के कारण उसे कालेज से निकाल दिया जाता है। इससे घर में तनाव बढ़ जाता है।

यदि लड़की को सबल दिखाया गया है, तो बड़े लड़के को लापरवाह और आवारा दिखाना उचित होगा। इससे कहानी में रोचकता का पुट आ जाएगा और आगे नाटकीयता की ज्यादा सम्भावनाएं पैदा होंगी। लेकिन यदि लड़की का चरित्र कमजोर दिखाया गया है, तो लड़के को मेहनतकश और जुझारू प्रकृति का चित्रित किया जा सकता है। यदि और अधिक नाटकीयता की जरूरत हो तो दोनों चरित्रों को असफल दिखाने के बाद यह दिखाया जा सकता है कि लड़के/लड़की का कोई दोस्त, जो बड़ी लड़की को चाहता हो अथवा कोई अन्य जान-पहचान का व्यक्ति, जो इसी बहाने लड़की को पाना चाहता हो, उस परिवार की मदद करता है।

इस तरह एक छोटी सी घटना ने न सिर्फ घर के तमाम व्यक्तियों का चरित्र उद्घाटित किया, बल्कि उनके चरित्रों में होने वाले विकास को भी रेखांकित कर दिया। कहानी में रोचकता और पात्र के चरित्र में वजन तभी पैदा होता है, जब उसके चरित्र को घटनाओं के अनुसार बदलते हुए दिखाया जाता है। इससे दर्शक की सहानुभूति उस पात्र/परिवार के साथ जुड़ जाती है और वह मन ही मन उस पात्र के लिए इस संकट से उबरने की कामना करने लगता है।

चारित्रिक विकास के नजरिए से 'उमराव जान' की नायिका अमीरन का चरित्र इसका सटीक उदाहरण है। शुरू-शुरू में अमीरन एक आम लड़की के रूप में हमारे सामने आती है, जो अपने माता-पिता के सामने चुप रहती है। लेकिन जब उसे कोठे पर पहुंचा दिया जाता है, तो वह तवायफों के रंग-ढंग अपना लेती है। न सिर्फ अपनी अदाओं से वह लोगों को लाजवाब कर देती है, बल्कि अनेक पात्रों के बीच संघर्ष का कारण भी बनती है।

हॉलीवुड की फिल्म 'ब्रेव हर्ट' में एक अंग्रेज सेनापति नायक विलियम वॉलिस के पिता की हत्या कर देता है। उसका चाचा उसे अपने साथ ले जाता है और उसे

युद्ध की बारीकियाँ सिखाता है। लेकिन इसके बावजूद वॉलिस युद्ध से दूर रहने का फैसला करता है। वह अपने बचपन की मित्र मरान से प्यार करता है और उससे गुपचुप तरीके से शादी कर लेता है। अंग्रेज राजा यह नियम लागू कर देता है कि जब भी किसी लड़की की शादी होगी, वहाँ का जमींदार उस लड़की के साथ एक रात बिताएगा। स्थानीय जमींदार ब्रूस को जब इस बारे में पता चलता है, तो वह विलियम की पत्नी मरान को उठवा लेता है। एक नाटकीय घटनाक्रम में वहाँ का सिपहसालार मरान से कुपित होकर उसकी हत्या कर देता है। यह देखकर वॉलिस अपना शान्ति-पसंद नागरिक का चोला उतार फेंकता है और अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ाई का शंखनाद कर देता है।

फिल्म 'शोले' में ठाकुर की छोटी बहू राधा के चरित्र में उस वक्त बदलाव आता है, जब उसके पति की हत्या हो जाती है। उस घटना के बाद वह हर समय गुमसुम और शान्त बनी रहती है। उसके होंठ भी तभी हिलते हैं, जब उनका हिलना अपरिहार्य हो गया हो। जबकि शादी के पूर्व वह इतनी नटखट और बातूनी लड़की के रूप में दिखाई गयी है, जो शायद ही कभी चुप और शान्त बैठती हो।

'वक्त-द रेस अगेन्स्ट टाइम' का नायक एक बेहद ही गैर जिम्मेदार और अपने बाप की कमाई पर ऐश करने वाला लड़का है। उसका पिता उसको समझाता है कि कुछ काम-धाम के बार में भी सोचो। लेकिन जनाब के कानों में जूं तक नहीं रेंगती। इससे नाराज होकर पिता उसे घर से निकाल देता है। नायक पहले इसे एक मजाक समझता है, लेकिन जब उसे सारी बात समझ में आती है, तो उसके पैरों के नीचे से जमीन निकल जाती है और वह प्रतिक्रिया स्वरूप अपने पिता से घृणा करने लगता है।

फिल्मों में अक्सर कोई एक सीधा-सादा सा पात्र होता है, जो किसी के धोखे का शिकार होता है। उसके बाद उस पात्र के चरित्र में इतना बदलाव आता है कि वह एक तेजतर्रार व्यक्तित्व में बदल जाता है और बदला लेना ही उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य बन जाता है। 'खून भरी मांग' फिल्म की नायिका एक ऐसा ही पात्र है। फिल्म का नायक एक अय्याश प्रकृति का व्यक्ति है, जिसका काम है अमीर औरतों को फँसाना, उनसे शादी करना और फिर उनकी हत्या करके सारी जायदाद हथिया लेना। इसी क्रम में नायिका रेखा से शादी करने के बाद नायक उसे एक घड़ियाल के आगे ढ़केल देता है। उसके बचने की कोई गुंजाइश न रहे, इसलिए वह उस पर गोलियाँ भी बरसाता है। लेकिन वे गोलियाँ बजाय नायिका के लगने के उस घड़ियाल को लगती हैं। घड़ियाल मर जाता है और नायिका बच जाती है। बाद में

नायिका प्लास्टिक सर्जरी द्वारा अपना चेहरा बदलवा देती है और नायक से गिन-गिन कर बदला लेती है।

धारावाहिकों के सन्दर्भ में अगर बात की जाए, तो वहाँ ऐसे चरित्रों की भरमार पायी जाती है। वहाँ हर पात्र या तो स्वभावतः असंतुष्ट है अथवा किसी अपमान की अग्नि में झुलस रहा है। इस अपमान का बदला लेने के लिए वह पात्र चाल पर चाल चलता है और अपने विरोधी के लिए मुश्किलें पैदा करता रहता है। अक्सर धारावाहिक की लोकप्रियता (टी0आर0पी0) का ख्याल रखते हुए अथवा दर्शकों की मांग के अनुसार भी पटकथाकार को पात्रों के चरित्र में ऐसे बदलाव लाने पड़ते हैं। भारतीय धारावाहिकों (सोप ओपेरा) के जनक मनोहर श्याम जोशी धारावाहिक 'हम लोग' से जुड़ी ऐसी ही एक रोचक घटना का उल्लेख करते हुए कहते हैं-

'करैक्टर ग्राफ' के अनुसार बड़की को अन्त में डाक्टर अश्विनी कुमार से शादी नहीं करनी थी, लेकिन दर्शक बड़की को समझाने के लिए जोरदार आग्रह ही नहीं करते रहे बल्कि एक बार उन्होंने (दिल्ली में) यमुना पुल पर अग्निहोत्री सीमा भार्गव को घेर लिया कि इतना अच्छा लड़का मिल रहा है, तुमसे प्रेम भी करता है, उससे शादी क्यों नहीं कर लेती? उसके बुजुर्ग से माफी मांगने में तुम्हारा क्या बिगड़ा जा रहा है? लिहाजा मुझे बड़की और अश्विनी की शादी करानी पड़ी, जिस पर अनेक दर्शकों ने दूरदर्शन के पते पर बधाई के तार भेजे।'[6]

कहानी के विकास की प्रक्रिया में पात्रों के चरित्रगत विकास को मद्देनजर रखते हुए ही घटनाओं का जाल बुनना चाहिए। इससे पात्रों के चरित्र में एक गइराई आती है और सबसे बड़ी बात यह कि कहानी दर्शकों के दिल में सीधे उतरती जाती है।

विविधता का महत्व

फिल्म और धारावाहिक के सम्बन्ध में विविधता से आशय है उसके पात्रों में चारित्रिक विरोधाभास होना। विरोधाभास से तनाव पैदा होता है और तनाव नाटकीयता को जन्म देता है। इससे कहानी में रोचकता का पुट बना रहता है और घटनाएं तेजी से आगे बढ़ती हैं।

किसी भी कहानी में पात्रों के चरित्र-चित्रण के समय इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है। बात चाहे पति-पत्नी की हो, प्रेमी-प्रेमिका की, दो दोस्तों की, भाई-भाई की, भाई-बहन की, दो पड़ोसियों की अथवा मालिक-नौकर की, सभी जगह पर यह बात समान रूप से लागू होती है।

फिल्म 'दिल चाहता है' तीन दोस्तों के सम्बन्धों को लेकर बुनी गयी फिल्म है, जिनके नाम हैं, आकाश, समीर और सिद्धार्थ। आकाश हंसमुख है, मिलनसार है और हरदम मजाक करता रहता है। लेकिन उसे प्यार-व्यार में बिलकुल यकीन नहीं है। नई-नई लड़कियों से दोस्ती गांठना उसका शगल है। लेकिन दो-चार दिन में ही वह लड़की से बोर हो जाता है और फिर किसी नई की तलाश में निकल पड़ता है। समीर भोला-भाला है, वह किसी भी लड़की को देखते ही देखते फिदा हो जाता है और उसके लिए दीवानों जैसी हरकतें करने लगता है। लेकिन इसके बावजूद उससे कुछ न कुछ ऐसा हो जाता है कि हर लड़की उसे लात मार कर अपनी जिंदगी से बाहर कर देती है। सिद्धार्थ एक धीर-गम्भीर युवक है। उसे लड़कियाँ बिलकुल आकर्षित नहीं करतीं। वह एक ऐसीा औरत से प्यार करने लगता है, जो न सिर्फ तलाकशुदा है बल्कि उससे उम्र में भी काफी बड़ी है। तीनों पात्रों के विरोधाभासी चरित्र होने के कारण उनमें नोंक-झोंक होती है, तकरार होती है और कहानी अपने-आप आगे बढ़ती रहती है।

'शोले' फिल्म के जय और वीरू की जोड़ी भी इसका बेहतरीन उदाहरण है। वीरू एक दिलफेंक, रोमांटिक और बहुंत जल्दी गुस्सा हो जाने वाला युवक है, जबकि जय हमेशा शान्त रहने वाला युवक है, जो बहुत कम बोलता है और अपने काम से काम रखता है। दोनों में सिर्फ एक ही समानता है कि वे बहादुर चोर हैं। और शायद यही उनकी दोस्ती का राज है। 'पेज थ्री' की नायिकाएँ माधवी और पर्ल भी इसी श्रेणी में आती हैं। माधवी जहाँ सीधी-सादी और अपने काम से काम रखने वाली मितभाषी पत्रकार है, वहीं पर्ल खूब बोलने वाली, मुंहफट और पैसे को महत्व देने वाली एयर होस्टेस है। लेकिन इसके बावजूद वे अच्छी दोस्त हैं।

दो भाइयों की कहानी पर आधारित फिल्म 'दीवार' की पटकथा हिन्दी फिल्मों की सर्वश्रेष्ठ पटकथाओं में से एक मानी जाती है। फिल्म के मुख्य पात्र विजय और रवि दोनों सगे भाई हैं। विजय इस दुनिया और खासकर अपने बाप से, जो बचपन में अपने परिवार को छोड़ कर चला गया था, काफी नाराज है। लेकिन वह अपनी माँ को बहुत प्यार करता है। वह संसार की सारी दौलत को अपनी माँ के कदमों में डाल देना चाहता है। उसकी यही इच्छा उसे बुराई की तरफ धकेल देती है और वह कुली से स्मगलर बन जाता है। उसका छोटा भाई रवि हमेशा उसूलों और सिद्धान्तों की बातें करता है। वह क्रान्ति के द्वारा दुनिया को बदलने के सपने भी देखता है। जब उसे पता चलता है कि उसका भाई एक स्मगलर है, तब भी वह अपने आदर्शों से पीछे नहीं हटता है। दोनों भाइयों के बीच टकराव का यही मुख्य कारण है। 'राम-बलराम', 'राम-लखन' आदि इसी तरह की तमाम फिल्में हैं, जिनमें अलग-अलग प्रवृत्ति वाले भाइयों को दर्शाया गया है।

सिर्फ मुख्य पात्र ही नहीं बल्कि सहायक पात्रों और यहाँ तक कि क्षणिक भूमिका निभाने वाले पात्रों को गढ़ते समय भी पटकथाकार के मन में यह बात होनी चाहिए कि उसका पात्र कुछ अलग तरह का दिखे। जिस कहानी में एक से अधिक नायक होते हैं, वहाँ पर यह चुनौती और ज्यादा बढ़ जाती है। पटकथाकार हमेशा अपनी कहानी का भार नायक के कंधों पर नहीं छोड़ सकता। उसे नायक की प्रेमिका/पत्नी, माँ-बाप और दोस्त आदि भी दिखाने चाहिए, अन्यथा फिल्म के एकांगी और नीरस हो जाने का खतरा बना रहता है।

पात्रों की विविधता और संगठन के दृष्टिकोण से 'बार्डर' का उदाहरण उपयुक्त है। फिल्म की कहानी मुख्य रूप से मेजर कुलदीप, विंग कमाण्डर ऐंडी, कैप्टन भैरों सिंह, सेकेण्ड लेफ्टीनेन्ट धरमवीर पर केन्द्रित है। कहानी के इन सभी पात्रों में देशभक्ति का जज्बा है। वे कर्तव्यनिष्ठ हैं और देश सेवा के लिए अपनी जान देने के लिए हर समय तैयार रहते हैं, लेकिन इसके बावजूद चारों पात्रों के चरित्र में कुछ बुनियादी विविधताएं हैं, जो उन्हें एक दूसरे से अलग करती हैं।

सिख होने के कारण मेजर कुलदीप पंजाबी लहजे में बोलता है। जब उसे पता चलता है कि बार्डर पर जाने से रोकने के लिए उसकी पत्नी ने अपने पिता के प्रभाव से तबादला (पोस्टिंग) रुकवा दिया है, तो वह उसको तलाक देने की धमकी दे देता है। ऐंडी कुंआरा है। वह फर्राटेदार अंग्रेजी बोलता है। किसी का बड़बोलापन उससे बिलकुल बर्दाश्त नहीं होता है। इसके अलावा उसके मन में वायुसेना की महत्ता से सम्बन्धित अहम (ईगो) है, जिसकी वजह से वह मेजर कुलदीप से हर समय बहस करने को तत्पर रहता है। कैप्टन भैरों सिंह, जोकि बी0एस0एफ0 से ताल्लुक रखता है, धरती माँ को दीवानों की तरह चाहता है। जबकि धरमवीर हमेशा उखड़ा-उखड़ा सा रहता है। वह इस वजह से नाराज है कि उसे अपनी मर्जी के खिलाफ शहीद पिता की इच्छा का सम्मान रखने के लिए फौज में भर्ती होना पड़ा, लेकिन बाद में उसकी धारणा बदल जाती है और वह एक समर्पित सिपाही बन जाता है।

फिल्म में चारों पात्रों की पत्नी या प्रेमिका को दिखाया गया है और उनके चरित्र में भी विविधता का पूरा ख्याल रखा गया है। कुलदीप की पत्नी एक बच्चे की माँ है। अपने पति को वह अपनी जान से भी ज्यादा चाहती है और उसकी सलामती के लिए कुछ भी कर सकती है। धरमवीर की प्रेमिका उसके पड़ोस की रहने वाली एक घरेलू लड़की है, जो हमेशा सेवा-भाव से अपनी भावी सास की खिदमत में लगी रहती है। भैरों सिंह की पत्नी फिल्म में सिर्फ एक दृश्य में आती है और वह दृश्य है सुहागरात

का। जबकि ऐंडी की प्रेमिका आत्मविश्वास से लबरेज नास्तिक विचारधारा की लड़की है, जिसे भगवान के सामने भी अपना सिर झुकाना गंवारा नहीं है।

फिल्म में धरमवीर और कुलदीप के ही माता-पिता को दर्शाया गया है। धरमवीर की माँ अंधी है। बकौल धरमवीर उनकी आँखों की रोशनी आँसुओं के साथ बह गयी है। कुलदीप के ससुर की पकड़ राजनैतिक दृष्टि से काफी मजबूत है। वे अपने रसूख से सेना की पोस्टिंग तक रुकवाने की हैसियत रखते हैं। कहानी में एक और पात्र है रतन सिंह, जिसके माँ-बाप का जिक्र आता है। रतन सिंह कश्मीर का रहने वाला है। उसके माँ-बाप इतने बूढ़े और लाचार हैं कि अपनी टूटी छत की मरम्मत भी नहीं कर पाते, जिससे बर्फ अंदर आती रहती है।

फिल्म में सहायक पात्रों से मुख्य रूप से तीन तरह का काम लिया जाता है- पहला कहानी में रोचकता लाना, दूसरा मुख्य पात्र के चरित्र की गहराई को उजागर करना और तीसरा है घटनाओं द्वारा कहानी को आगे बढ़ाने में मदद करना। इसलिए इनके चरित्र को कुछ इस तरह से प्रस्तुत किया जाता है कि ये क्षणिक उपस्थिति के बावजूद दिमाग में बस जाते हैं। 'उमराव जान' का नवाब, 'शोले' के इमाम, जेलर और मौसी, 'दीवार' के डॉवर और सावंत, 'मुगले आजम' के संगतराश और बहार, 'मदर इंडिया' की रूपा, 'बार्डर' के मथुरादास और रतन सिंह, 'ज्वैलथीफ' की अंजली और सेठ विशम्भर, 'ब्रेव हर्ट' के मरान और ब्रूस, 'स्टार वार्स' (पार्ट-1) के रानी एमीडारा और वॉयसराय, 'कान्सटैन्टाइन' के चैस और गैबरिया कुछ ऐसे ही उल्लेखनीय पात्र हैं। ये पात्र अपनी सीमित भूमिका के बावजूद फिल्म में गहरी छाप छोड़ने में सफल रहे हैं।

सहायक पात्रों के अलावा फिल्म में कुछ ऐसे पात्र भी होते हैं, जोकि किसी महत्त्वपूर्ण सूचना देने अथवा किसी महत्त्वपूर्ण घटना को अन्जाम देने के लिए इस्तेमाल में लाए जाते हैं। फिल्म 'दीवार' में चंदर नामक एक ऐसा ही पात्र है। वह अपने भूखे माँ-बाप के लिए ब्रेड चुरा कर भागता है। इंस्पेक्टर रवि उसके पैर में गोली मारता है। उस घटना से पहले विजय के गैरकानूनी कार्यो की तहकीकात सम्बन्धी फाइल कमिश्नर साहब रवि को सौंपना चाहते हैं, लेकिन वह धर्मसंकट में पड़ जाने के कारण उसे लेने से इनकार करता है। चंदर को अस्पताल में भर्ती कराने के बाद रवि खाना लेकर उसके घर जाता है। चंदर की माँ रवि को खरी-खोटी सुनाते हुए कहती है कि गरीबों को गोली तो सभी मार देते हैं, पर बड़े लोगों को कोई नहीं पकड़ता, जो स्मगलिंग और कालाबाजारी करते हैं। उसकी बात सीधे रवि के दिल में लगती है और वह विजय की तहकीकात की जिम्मेदारी अपने हाथ में ले लेता है।

चीखते–चिल्लाते पात्र : सन्दर्भ दूरदर्शन

आमतौर से धारावाहिक की परिकल्पना 104 एपीसोड को लक्ष्य करके की जाती है। इस लिहाज से धारावाहिक के पटकथाकार के पास अपने चरित्रों को विकसित करने के लिए काफी समय होता है। इस वजह से धारावाहिक में पात्रों के चरित्र-चित्रण पर विशेष बल दिया जाता है।

मनोहर श्याम जोशी के अनुसार 'टीवी एक ऐसा माध्यम है, जिसमें डुगडुगी बजाते रह कर मजमा जुटाए रखना जरूरी है। नाटकों की बात छोड़िए, टी.वी. के साधारण कार्यक्रमों के लिए भी ऐसे ही लोग उपयुक्त समझे जाते हैं, जो बड़े ताबड़तोड़ ढ़ंग से लच्छेदार बातें करते ही चले जाते हैं। किसी भी नीरस, उबाऊ या कम बोलने वाले आदमी को अमेरिका में टी.वी. कार्यक्रम के लिए आमंत्रित नहीं किया जाता।'[7]

इसके पीछे कारण यह है कि टी.वी. का पर्दा (स्क्रीन) सिनेमा हाल के पर्दे के मुकाबले काफी छोटा होता है। इसके अलावा घर में हर-पल इधर-उधर कुछ न कुछ खटर-पटर होता रहता है। दर्शकों का ध्यान कार्यक्रम से उचट न जाए, इसीलिए पात्र प्रायः जोर-जोर से बोलते हैं और अपनी बात को बार-बार दोहराते चलते हैं। इसके अतिरिक्त टी.वी. धारावाहिकों की ज्यादातर कहानियाँ सास-बहू छाप कथानकों पर आधारित होती हैं, जिनमें प्रखर स्त्री पात्रों को वरीयता दी जाती है। ये स्त्री पात्र न सिर्फ पुरुषों के बराबर जबान एवं हाथ-पैर चलाते हैं बल्कि अक्सर उन्हें भी पीछे छोड़ देते हैं।

ज्यादातर धारावाहिक में दौलत, व्यवसाय अथवा वैध/अवैध सन्तानों के बीच अधिकारों की जंग विषय-वस्तु के रूप में छाई रहती है। जब बात इतने महत्त्वपूर्ण मुद्दे पर केन्द्रित हो, तो संयम और मर्यादा की याद किये आती है? यही कारण है कि सारे पात्र दो गुटों में बंटे नजर आते हैं। एक गुट एक तरफ और दूसरा गुट दूसरी ओर। किसी एक गुट के सारे पात्र मिलकर दूसरे गुट के लिए चक्रव्यूह की रचना करते हैं। दूसरा गुट उस चक्रव्यूह में फंस जाता है। लेकिन जल्दी ही वे कुछ ऐसा रास्ता निकाल लेते हैं कि उन्हें उस मुसीबत से निजात मिल जाती है। तब दूसरा गुट पहले के लिए उसी तरह का जाल बुनने में व्यस्त हो जाता है। इस सब के दौरान ही कई पात्रों की निष्ठाएं और सम्बन्ध एक से दूसरे और दूसरे से तीसरे तक बनते और संवरते हैं।

एक पुरानी कहावत है कि मोहब्बत और जंग में सब जायज है। यही कारण है कि यह पात्र साम-दाम-दण्ड-भेद मतलब हर तरीके को आजमाते हैं और अपना उल्लू सीधा करते हैं। इस चक्कर में कई बार ऐसा भी होता है कि कहानी कहीं से

कहीं पहुँच जाती है। लेकिन जैसे ही पटकथाकार को इस बात का एहसास होता है, वह कहानी को एक जबरदस्त पल्टा दिलाता है और वह वापस अपने रास्ते (ट्रैक) पर आ जाती है।

संघर्ष किसी भी टी.वी. धारावाहिक का मूल बिन्दु माना जाता है। धारावाहिक का कोई भी दृश्य ऐसा नहीं होता, जिसमें उसकी छाया न नजर आए। इस संघर्ष को साधने के लिए ही पात्र ऊंची आवाज का सहारा लेते हैं। लेकिन यदि सारे पात्र एक साथ जोर-जोर से बोलने लगें, तो न दर्शकों को कोई बात समझ में आएगी और न ही वह दृश्य प्रभावी रह पाएगा। पटकथाकार दृश्य योजना बनाते समय इस बात का ध्यान रखता है कि किसी दृश्य में जोर-जोर से बोलने वाले सारे पात्र एक साथ 'घपड़चों' न मचाने पाएं। इसीलिए किसी तेज चिल्लाने वाले पात्र को संभालने के लिए उसके साथ एक संयमित और संतुलित भाषा का प्रयोग करने वाला पात्र भी रखा जाता है और यदि किसी दृश्य में ऐसे तमाम पात्र एकत्रित भी करने पड़ें, तो उन्हें संभालने के लिए पटकथाकार किसी पात्र विशेष का सृजन करता है, जिसके प्रभाव से समस्त पात्र अपनी-अपनी हदों के अंदर रहने को विवश हो जाते हैं।

फिल्म की तुलना में धारावाहिक में एक स्वतंत्रता यह भी रहती है कि उसमें पटकथाकार जितने चाहे, उतने तरह के पात्रों का समावेश कर सकता है। इसी वजह से ज्यादातर धारावाहिक में एक से अधिक परिवारों की कहानियाँ साथ-साथ चलती हैं। इसके साथ ही हर परिवार में एक आदमी कुटिल प्रवृत्ति का, एक झगड़ालू स्वभाव का और एक व्यक्ति संतुलित विचारधारा का अनिवार्य रूप से रखा जाता है। यही कारण है कि वहाँ पर सामान्य (स्टीरियोटाइप) पात्रों की भरमार होती है। प्रायः सभी पात्र अपनी खिचड़ी अलग पकाने के प्रयास में लगे रहते हैं। हर पात्र की एक अलग हंडिया चढ़ जाने के कारण कहानी में चारों ओर धुंआ और चिंगारियां निकलती हैं। जब यही धुआं आखों तक पहुँचता है, तो चीख पुकार से चारों दिशाएं गूंजने लगती हैं।

पात्रों की जीवनी (बॉयोग्राफी)

सामान्यतः दो व्यक्तियों की बनावट और बुनावट में काफी अंतर पाया जाता है। बनावट से आशय है कि व्यक्ति की शारीरिक संरचना और वेश-भूषा, जबकि बुनावट का तात्पर्य है व्यक्ति की भाषा-शैली, पसंद-नापसंद और विचारधारा। इन सबसे मिल कर ही एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

इसी प्रकार, किसी पात्र की रूपरेखा बनाते समय पटकथाकार उसके व्यक्तित्व को परिभाषित करता चलता है। पात्र देखने में कैसा है, उसकी पंसदीदा ड्रेस क्या है,

वह कैसी भाषा बोलता है, खाने-पीने की उसकी पसंद क्या-क्या है, उसे किस तरह के लोग पसंद हैं, वह कहाँ-कहाँ जाना पसंद करता है, उसकी सोच कैसी है और उसके जीवन का लक्ष्य क्या है।

इस प्रकार पात्र तैयार हो जाने के बाद कहानी के मुख्य पात्रों की संक्षिप्त जीवनी तैयार की जाती है। जैसे उस व्यक्ति के सम्पर्क में कौन-कौन से लोग हैं? उन लोगों से उसके कैसे सम्बन्ध हैं? मुख्य कहानी के अतिरिक्त उस पात्र के जीवन में कब-कब और कौन से परिवर्तन आते हैं? उसे कब, कौन सी उपलब्धियाँ हासिल होती हैं? किस मोड़ पर उसे किस तरह के संकट का सामना करना पड़ता है? सामने आने वाली मुसीबतों का वह किस तरह से सामना करता है? आदि-आदि। इस तरह उस पात्र विशेष के जीवन से सम्बन्धित तमाम तरह की जानकारी एक जगह पर तैयार हो जाती है।

इस जानकारी को तैयार करने का पहला मकसद यह होता है कि निर्माता-निर्देशक को कलाकार चुनते समय काफी मदद मिलती है। दूसरा फायदा यह है कि जो अभिनेता उस पात्र की भूमिका निभाना चाहता है, उसे उस से सम्बन्धित जानकारी एक जगह पर मिल जाती है और वह अपने आपको उस पात्र के अनुसार तैयार कर लेता है। तीसरा फायदा यह होता है कि लम्बे धारावाहिकों में अक्सर छोटे-छोटे पात्र पटकथाकार की नजर से विस्मृत हो जाते हैं। लेकिन यदि पटकथाकार के पास सभी पात्रों की जीवनी मौजूद रहती है, तो उसे अपने समस्त पात्रों की याद बराबर बनी रहती है और वह प्रत्येक उपयुक्त स्थान पर अपने पात्रों का समुचित उपयोग करता चलता है। चौथा फायदा यह है कि ज्यादातर आम पात्र (स्टीरियोटाइप) दूर से लगभग एक जैसे ही नजर आते हैं। जीवनी सामने रहने से लम्बे धारावाहिकों में एक अन्तराल के बाद पात्र विशेष के व्यक्तित्व में किसी पात्र का घालमेल नहीं हो पाता और सम्बन्धित चरित्र आखिर तक पूरी दृढ़ता के साथ दर्शकों के सामने मौजूद रहता है।

न सिर्फ अभिनेता बल्कि निर्देशकों के लिए भी यह जीवनी एक प्रकार की निर्देशिका (गाइड लाइन) का काम करती है। वे इसी के आधार पर अभिनेता को दो पात्रों के बीच का रिश्ता समझाते हैं, जिससे उन्हें उस चरित्र में वास्तविक भाव उभारने में मदद मिलती है। 'ट्रैजिडी किंग' के नाम से मशहूर अदाकार दिलीप कुमार अपने समय के निर्देशकों की इसी भूमिका को रेखांकित करते हुए कहते हैं- 'वे मुझे मेरे किरदार की दूसरे किरदारों के साथ रिलेशनशिप पहले समझाते, तब मेरे एक्शन या रिएक्शन की बात पर आते।'[8]

किसी धारावाहिक में तमाम ऐसे पात्र होते हैं, जो काफी अन्तराल के बाद परदे पर प्रकट होते हैं। चूँकि ये कलाकार एक साथ पाँच-छः धारावाहिकों में अलग-अलग प्रकार के चरित्रों को अभिनीत करते हैं, इसलिए किसी धारावाहिक विशेष की वेष-भूषा याद रख पाना सम्भव नहीं रह जाता। शूटिंग यूनिट के वे लोग, जो निरन्तरता (कन्टीन्यूटी) वगैरह नोट करते हैं, उनके पास भी इतनी फुर्सत नहीं होती कि वे हर पात्र की सम्पूर्ण जानकारी अपने पास सुरक्षित रख सकें। ऐसे में पात्रों की जीवनी यहाँ पर भी मददगार साबित होती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पात्रों की जीवनी (बायोग्राफी) न सिर्फ लेखक के लिए बल्कि कलाकार और निर्देशकीय टीम के लिए भी समान रूप से लाभकारी होती है।

पात्रों की सार्थकता

व्यापार मार्ग पर कर लगाने के बाद 'नाबू' ग्रह पर उपजे असंतोष को दबाने के लिए व्यापार महासंघ का प्रमुख अपने प्रतिनिधि को वॉयसराय बना कर नाबू पर अधिकार कर लेता है। नाबू ग्रह हमारी आकाश गंगा से हजारों प्रकाश वर्ष दूर किसी अन्य ब्रह्मांण का ग्रह है। नाबू की रानी एमीडारा को अपनी जान बचा कर वहाँ से भागना पड़ता है। एमीडारा गणतंत्रों के संघ में इसके विरोध में अपनी आवाज उठाती है और संघ से मदद मांगती है। संघ में इस बात को लेकर विवाद हो जाता है। संघ से ही जुड़ा एक संगठन जड़ायु परिषद, जोकि दिव्य शक्ति सम्पन्न ब्रह्मांण के विशिष्ट योद्धाओं का समूह है, एक कुशल जड़ायु 'कोएगान' और उसके शिष्य को नाबू ग्रह पर संतुलन बनाने के लिए गुप्त रूप से भेजता है। वे दोनों जड़ायु योद्धा अपनी शक्ति के बल पर नाबू की रोबोट सेना को परास्त करके वॉयसराय को गिरफ्तार कर लेते हैं। इस प्रकार नाबू ग्रह पर एक बार फिर रानी एमीडारा का शासन स्थापित हो जाता है।

यह कथानक जार्ज लुकास की अद्भुत फिल्म 'स्टार वार्स' (भाग-1) का सार संक्षेप है। कहानी के प्रमुख पात्र कोएगान का जड़ायु परिषद के आदेश पर नाबू के संकट का समाधान करना उसका उद्‌देश्य है। वह अपने इसी उद्‌देश्य की खातिर अपनी जान की परवाह न करते हुए दुश्मनों से लोहा लेता है। फिल्म अथवा धारावाहिक में किसी भी पात्र की सार्थकता से आशय है कि उस पात्र का सृजन किस आवश्यकता के मद्‌देनजर किया गया है और क्या वह पात्र कहानी में अपनी इस भूमिका का निर्वहन कुशलतापूर्वक कर रहा है। सिर्फ मुख्य पात्र ही नहीं, बल्कि कहानी के छोटे से छोटे पात्र का भी एक निजी उद्‌देश्य होता है, उसका एक लक्ष्य होता है।

प्रत्येक पात्र पूरी कहानी में अपने उस लक्ष्य के प्रति समर्पित रहता है। पटकथा में कोई भी ऐसा दृश्य नहीं होना चाहिए, जो सम्बन्धित पात्र के घोषित उद्देश्य के सर्वथा विपरीत हो। इसके लिए पटकथाकार को काफी सजग रहना पड़ता है।

जब तक दर्शकों को नायक/नायिका का उद्देश्य ज्ञात नहीं होता, कहानी के साथ उनका तादात्म्य नहीं स्थापित हो पाता। इसलिए कुशल पटकथाकार विशेष रूप से ऐसे दृश्यों की रचना करता है, जिससे नायक की अभिलाषा प्रकट होती हो। इसके लिए पटकथाकार कभी किसी पात्र के मुख से कहला कर, कभी लक्ष्य से जुड़े दृश्यों को बार-बार दिखा कर, तो कभी प्रतिनायक अथवा खलनायक द्वारा चुनौती देकर नायक के लक्ष्य को उद्घाटित करता है। पात्र का लक्ष्य घोषित हो जाने के बाद दर्शकों के मन में नायक के प्रति एक प्रकार का लगाव सा हो जाता है। वह संकट में पड़ने पर नायक की सफलता की कामना करने लगता है और कामयाब होने पर अपनी खुशी का इजहार करता है। यही कारण है कि बार-बार नायक को असफल होते और दुश्मन के चक्रव्यूह में फंसते हुए दिखाया जाता है। इससे नायक की सुरक्षा को लेकर दर्शक के मन में एक प्रकार का तनाव जन्म लेता है। यह तनाव जितना सघन होता है, कहानी की सफलता का ग्राफ उतना ही ऊंचा जाने की संभावना होती है।

किसी भी कथानक में अगर पात्रों को अपनी मंजिल का पता ही न हो, तो कहानी भटक जाती है। ऐसे में पटकथाकार घटनाओं द्वारा पटकथा को कितना ही क्यों न सजा दे, उसकी सारी मेहनत 'का वर्षा जब कृषि सुखानी' की तर्ज पर बेकार सिद्ध होती है। जबकि इसके विपरीत पात्रों का लक्ष्य पूर्व निर्धारित होने पर कहानी तीर की तरह आगे बढ़ती जाती है।

फिल्म 'जंजीर' के नायक का उद्देश्य है अपने पिता के कातिलों से बदला लेना। 'दीवार' के नायक का लक्ष्य है एक अमीर आदमी बनना, जिससे वह अपनी माँ को दुनियाँ की सारी खुशियाँ दे सके। 'शोले' के ठाकुर का उद्देश्य है अपने परिवार के कातिल गब्बर को जिंदा पकड़ना। 'परदेश' के नायक की इच्छा है नायिका को पाना, जोकि उसके भाई की मंगेतर है। 'बाजीगर' के नायक का लक्ष्य है अपने पिता के हत्यारे से बदला लेना और अपनी खोई हुई दौलत दुबारा हासिल करना। 'दिलवाले दुल्हनिया ले जाएंगे' के नायक की जिद है नायिका को अपना बनाना, वह भी उसके पिता की रजामन्दी के बाद।

इसी प्रकार धारावाहिक के पात्रों का भी कोई न कोई एक घोषित लक्ष्य होता है और सम्बंधित पात्र उसे पाने के लिए तन-मन-धन से लगे रहते हैं। जैसे 'स्वाभिमान' के मूल में सम्पत्ति का कांटा है, तो 'इम्तिहान' के केन्द्र में उद्योगपतियों

का आपसी संघर्ष। इसी प्रकार 'उड़ान' में जहाँ एक लड़की की हसरतों को पंख दिया गया है, वहीं 'कुंती' के मूल में एक अविवाहित लड़की द्वारा अपने बच्चे के अधिकारों के लिए किये गये संघर्ष का चित्रण है।

जिस प्रकार देवराज इन्द्र ने विश्वामित्र की तपस्या से घबरा कर उनकी तपस्या भंग करने के लिए अप्सराओं का सहारा लिया था, उसी प्रकार नायक को उसके लक्ष्य से भटकाने के लिए खलनायक प्रायः नायिका अथवा किसी मॉडल आदि का सहारा लेते पाये जाते हैं। इससे कुछ समय के लिए नायक अपने लक्ष्य को भूल जाता है और मोह-माया में खो जाता है। लेकिन फिर सहसा कथानक में किसी ऐसे पात्र का प्रवेश होता है, जो नायक को नींद से जगाता है और उसे उसके लक्ष्य की याद दिलाता है। इस प्रकार नायक पुनः अपने उद्देश्य की प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील हो जाता है। इस तरह के प्रसंग अक्सर फिल्मों में देखने को मिल जाते हैं। धारावाहिकों में भी अक्सर इस युक्ति का प्रयोग अलग-अलग तरीके से किया जाता है। इस प्रकार के प्रसंग जहाँ एक ओर नायक की कमजोरी को उद्घाटित करते हैं, वहीं कहानी में चटपटी चाट का भी काम करते हैं।

सन्दर्भ सूची

1. 'नाटक का रंग विधान', पृष्ठ-4
2. कृष्णाजी श्रीवास्तव, नाट्य लेखन कला, 'मीडिया लेखन', पृष्ठ-53
3. 'टेलीविजन लेखन : सिद्धान्त और प्रयोग', पृष्ठ-14
4. मनोहर श्याम जोशी, 'पटकथा लेखन : एक परिचय', पृष्ठ-58
5. 'पटकथा लेखन : एक परिचय', पृष्ठ-44
6. वही, पृष्ठ-130
7. इंडिया टुडे 'साहित्य वार्षिकी' 1995-96, पृष्ठ-238

अध्याय-4

पटकथा का प्रारूप

पटकथा लेखन की प्रक्रिया (दृश्य योजना)

जब भी हम किसी फिल्म को याद करते हैं, तो हमें उस फिल्म के छोटे-छोटे दृश्य याद आते हैं। जिस फिल्म के दृश्य जितने यादगार होते हैं, वह फिल्म उतनी ही सफल कहलाती है। यह बात किसी भी भाषा में बनी सफलतम फिल्मों पर समान रूप से लागू होती है। फिल्म के यादगार दृश्य वे होते हैं, जिनमें भावनाएं अपने उफान पर होती हैं। ऐसे दृश्य फिल्म की कहानी में एक रोचक मोड़ के कारक बनते हैं। जैसे 'दीवार' में रवि द्वारा विजय के साइन मांगने, पुल के नीचे रवि और विजय के मिलने (मेरे पास माँ है), विजय द्वारा भवान से माफी मांगने के दृश्य, 'मदर इंडिया' में राधा द्वारा अपन बच्चे की भूख से तड़पन देख कर सुक्खी लाला के आगे समर्पण के लिए जाने का दृश्य, 'गाइड' में रोजी द्वारा मार्को का घर छोड़ कर जाने का दृश्य, 'मुगले आजम' में अकबर के सामने सलीम द्वारा संगतराश के बनाए बुत से पर्दा हटाने, अकबर द्वारा सलीम और अनारकली को एक साथ देख लेने, युद्धभूमि में अकबर और सलीम की मुलाकात के दृश्य।

कहानी से पटकथा बनाने की प्रक्रिया में घटनाओं को छोटे-छोटे दृश्यों में तोड़ दिया जाता है। ये दृश्य ही कहानी को आगे बढ़ाने का काम करते हैं। प्रत्येक दृश्य कहानी के भाव (थीम) का वाहक होता है। दृश्य के माध्यम से न सिर्फ पात्रों से सम्बन्धित जानकारियाँ प्राप्त होती हैं, बल्कि कहानी की दुनिया का भूत-भविष्य भी पता चलता है। इसीलिए दृश्य को पटकथा की सबसे प्रमुख इकाई माना गया है। एक स्थान पर विभिन्न पात्रों के बीच जो कार्य-व्यापार होता है, वह एक दृश्य कहलाता है। किसी दृश्य का जब घटना स्थल बदलता है (भले ही पात्र वही रहें), तो वह दृश्य भी बदल जाता है और वहाँ से नया दृश्य प्रारम्भ हो जाता है। इसे उदाहरण के रूप में इस तरह से देखा जा सकता है-

मान लीजिए तीन दोस्त काफी समय के बाद एक जगह पर इकट्ठे हुए हैं। वे एक होटल में ठहरे हुए हैं। अब इस दृश्य को कई तरह से दिखाया जा सकता है। जैसे कैमरे में तीनों दोस्त पहले से इकट्ठा हैं। उनका आपस में परिचय हो चुका है और वे एक दूसरे को अपने अनुभव बता रहे हैं। दूसरा तरीका यह हो सकता

है कि कमरा खाली है। एक दोस्त दरवाजा खोल कर अंदर आता है और इधर-उधर देखता है। फिर पीछे से एक-एक करके उसके अन्य साथी आते हैं। या फिर दो दोस्त पहले से मौजूद हैं और तीसरा देर से वहाँ आता है। किसी भी दृश्य का संगठन किस प्रकार से करना है और उसमें पात्रों का प्रवेश/निकास किस प्रकार होना है, यह पूरी तरह से कहानी के मूड और पटकथाकार की समझ पर निर्भर करता है।

अब मान लीजिए कि एक दृश्य चल रहा है। तीनों दोस्त कमरे में बैठे आपस में बातें कर रहे हैं। तभी बाहर से गोली चलने की आवाज आती है। वे लोग चौंक कर दरवाजा खोलते हैं। उसमें से एक आदमी बाहर निकल कर पता करने चला जाता है। अब अगर लेखक यह दिखाना चाहता है कि वह व्यक्ति निकल कर कहाँ गया, किससे पूछा, तो दृश्य नम्बर बदल जाएगा। जैसे वह कमरे से निकल कर बाहर गैलरी में पहुँचा। गैलरी में सन्नाटा पसरा हुआ था। तभी दाहिनी ओर से आता हुआ एक वेटर दिखाई दिया। उस व्यक्ति ने वेटर को बुला कर गोली चलने का कारण पूछा और संतुष्ट होने पर अपने कमरे की ओर लौट पड़ा। जब तक वह व्यक्ति कमरे से बाहर है, दृश्य नं. 2 चलता रहेगा। लेकिन जैसे ही वह वापस अपने कमरे में पहुँचेगा, दृश्य नं. 3 शुरू हो जाएगा।

फिल्म एक समयबद्ध माध्यम है, इसलिए उसके दृश्यों की रूपरेखा बनाते समय इस चीज का बहुत ध्यान रखा जाता है कि दृश्यों की संख्या उतनी ही हो, जितनी जरूरी हो। हर दृश्य के पीछे कोई मकसद अवश्य होना चाहिए। आमतौर से फिल्मों में दृश्यों से चार प्रकार का काम लिया जाता है-

1. किसी नये पात्र से परिचय कराना।
2. किसी प्रकार की महत्त्वपूर्ण सूचना देना।
3 किसी पात्र का चरित्र-चित्रण करना।
4. कहानी को आगे बढ़ाने वाली घटना दिखाना।

यदि कोई दृश्य इनमें से एक भी काम नहीं कर रहा है, तो वह दृश्य फिल्म के लिए महत्त्वहीन हो जाता है, भले ही वह दृश्य कितना ही दमदार क्यों न बन पड़ा हो। इसी बात को इस तरह से भी कहा जा सकता है कि हर दृश्य का एक उद्देश्य होता है। वह उद्देश्य उस दृश्य में झलकना चाहिए। इसके अतिरिक्त किसी भी दृश्य का निचोड़ क्या है, यह भी उस दृश्य की समाप्ति पर दर्शकों की समझ में आना चाहिए।

'दीवार' के गोदाम वाले दृश्य को ही लें। इस दृश्य के ठीक पहले विजय द्वारा हफ्ता वसूलने वाले गुण्डे की पिटाई करने और गुण्डों द्वारा मजदूरों के बीच विजय

को खोजने के दृश्य हैं। कैण्टीन में जब विजय को करीम चाचा समझाते हैं, तो वह उनकी बात रखने के लिए पीछे के दरवाजे से निकल जाता है। लेकिन विजय के अंदर गुस्सा भरा हुआ है। उसे व्यक्त करने और गुण्डों को अपनी ताकत दिखाने के लिए विजय खुद उनके अड्डे पर पहुँच जाता है। जब वह गोदाम के दरवाजे में अंदर से ताला बंद करने के बाद पीटर को चाभी देता है, तो वह अपना आत्मविश्वास प्रकट करता है और जब वह उन गुण्डों की पिटाई करने के बाद पीटर की जेब से चाभी निकाल कर गोदाम का ताला खोलता है तो उसकी बात की पूरी तरह से पुष्टि हो जाती है। इस दृश्य द्वारा विजय के साहस का प्रदर्शन तो होता ही है, कहानी में एक प्रकार के सम्भावित मोड़ (टर्न) की रूपरेखा तैयार हो जाती है। बाद में इसी घटना के बारे में सुन कर डॉबर विजय से मिलता है और उसे अपने गिरोह में शामिल कर लेता है।

दृश्यों को जितना छोटा रखा जाए, उतना ही अच्छा होता है क्योंकि लम्बे दृश्य अनावश्यक रूप से समय तो ज्यादा लेते ही हैं, फिल्म की रफ्तार को भी धीमा कर देते हैं। इसीलिए किसी भी दृश्य में सिर्फ मतलब भर की बातें लेनी चाहिए। इस सम्बन्ध में एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रत्येक दृश्य का तारतम्य उसके आगे और पीछे के दृश्यों से बैठ रहा है अथवा नहीं, इसका ध्यान रखा जाना चाहिए। क्योंकि तारतम्यहीन दृश्य न सिर्फ दर्शकों को भ्रमित करते हैं बल्कि पटकथाकार की समझ पर भी सवाल उठाते हैं।

'ज्वैलथीफ' के एक दृश्य में फिल्म का नायक विनय, सेठ विशम्भर के पास नौकरी मांगने जाता है। सेठ उसे भगा देता है। अगले दृश्य में विनय सेठ की लड़की अंजली से उलझ जाता है। इस चक्कर में अंजली के कान का एक टप्स गिर जाता है। अंजली परेशान होती है कि मेरा 12 हजार का टप्स खो गया। संयोग से वह टप्स विनय को मिलता है। वह उस टप्स को देख कर कहता है कि यह तो बहुत मामूली टप्स है। अगर 12 सौ का भी बिक जाए, तो बड़ी बात है। अगले दृश्य में सेठ अपने कारीगरों को उस टप्स को सही ढ़ंग से न पहचान पाने के कारण उन्हें डांटता है और विनय की तारीफ करता है। इसके अगले दृश्य में सेठ स्वयं चल कर विनय के पास जाता है। वह उसके प्रति किये गये व्यवहार के लिए मांफी मांगता है और उसे 10 हजार रुपये माहवार नौकरी पर रख लेता है।

ये चारों दृश्य एक क्रम से हैं और मुश्किल से दो-तीन मिनट (दूसरे दृश्य के गाने को छोड़ कर) के हैं, लेकिन इसके बावजूद ये अपनी बात कहने में पूरी तरह से सफल रहते हैं और फिल्म के कथानक को तेजी से आगे बढ़ाते हैं। चारों दृश्यों

का तारतम्य बिलकुल सही है और इनका कथ्य आसानी से दर्शकों तक पहुँच जाता है।

दृश्यों से सम्बन्धित एक और महत्त्वपूर्ण बात पर ध्यान देना चाहिए कि जब भी किसी दृश्य की कल्पना की जाए, तो उस दृश्य में मौजूद पात्रों को कुछ न कुछ करता हुआ दिखाया जाए। जैसे कोई नायक अपनी नायिका के बिना बुलाये उसके घर मिलने जाता है, तो वहाँ पर नायिका को किताब पढ़ते हुए, बालों में कंघी करते हुए, लिपिस्टिक लगाते हुए या नायक द्वारा दी गयी किसी निशानी को देखते हुए (जो भी उस दृश्य के अनुसार उचित हो) दर्शाया जा सकता है। अगर नायिका का कोई प्रिय शौक है, तो वह भी दिखाया जा सकता है। जैसे गाने का रियाज करना, पेन्टिंग बनाना आदि। अगर वहाँ पर कई सारे लोग मौजूद हों, तो सभी को किसी न किसी काम में व्यस्त दिखाना चाहिए। जैसे माँ स्वेटर बुन रही है, पिता धुंए के छल्ले उड़ा रहा है, भाई कोर्स की किताब पढ़ रहा है, छोटी बहन अपने कालेज के कार्यक्रम के फोटो देख रही है और नायिका की नजरें बार-बार घड़ी के डायल पर जा रही हैं। इस प्रकार की गतिविधियों से पात्रों की रुचि का तो पता चलता ही है, दृश्य में एक प्रकार की आंतरिक गति भी बनी रहती है।

फिल्म 'ज्वैलथीफ' में नायक विनय को उसके पिता घर से निकाल देते हैं। विनय सेठ विशम्भर की दुकान पर नौकरी करने लगता है। वह अपनी पहली तनख्वाह मिलने पर माँ के लिए 10 हजार रुपये का हार लेकर रात में चुपके से घर जाता है। एक खुली हुयी खिड़की से विनय घर के अंदर घुसता है। उस समय माँ अपने बिस्तर पर बैठी किताब पढ़ रही होती है और पिता ऑफिस के कागजात में उलझे रहते हैं। इसी प्रकार, 'दीवार' में जब रवि अपने पिता के मरने की खबर माँ को देने के लिए घर जाता है, तो माँ आइने के सामने खड़ी बिन्दी लगाती दिखती है।

पटकथा किसी भी फिल्म की जीवन रेखा होती है। न सिर्फ निर्देशक उसे पढ़ कर अपने मस्तिष्क में फिल्म की छवि बनाता है, बल्कि अभिनेता उसी के अनुसार अपना रोल तैयार करते हैं। कला निर्देशक (आर्ट डायरेक्टर) वैसा ही सेट तैयार करता है, लाइटमैन दृश्यानुसार प्रकाश की व्यवस्था करता है और कैमरामैन दृश्य की मांग के अनुसार कैमरे का एंगल सेट करता है। इसके अतिरिक्त डबिंग और सम्पादन (एडीटिंग) के समय भी पटकथा की जरूरत रहती है, इसीलिए अच्छा निर्देशक न सिर्फ पटकथा लेखन के समय लेखक के साथ बैठता है बल्कि सलाह-मशविरा करके उसे 'चाक-चौबंद' बनाने हेतु प्रयत्नशील भी रहता है।

धारावाहिक की दृश्य योजना

टेलीविजन धारावाहिक की पटकथा फिल्म की पटकथा से कई मायनों में भिन्न होती है। फिल्म में जहाँ एक छोटी सी कहानी होती है, वहीं धारावाहिक में कभी न खत्म होने वाली कहानियों को प्रमुखता दी जाती है। धारावाहिक में ज्यादातर पात्र 'नाटक' वाली शैली में लम्बी-लम्बी बातें करते हैं और शब्दों को चबा-चबा कर बोलते हैं।

वरिष्ठ पटकथाकार अरुण प्रकाश के अनुसार, 'फिल्म के सिनेरियो (पटकथा) में आपको उतनी मेहनत नहीं करती पड़ती। टेलीविजन में सिनेरियो ही सफलता की कुंजी है। फिल्म राइटर के लिए 'मेगा थिंकिंग' की जरूरत होती है। टेलीविजन लेखन में आपको मैक्रो नहीं, माइक्रो थिंकिंग की जरूरत पड़ती है। छोटे-छोटे प्रसंग आपको निकालने पड़ते हैं, तभी जाकर हो पाता है। उसकी इकोनामी भी होती है। अगर कोई सीन ढ़ाई-तीन मिनट का नहीं है, तो उसकी 'इकोनामी' परमिट ही नहीं करेगी।'[1]

टेलीविजन धारावाहिक का बजट फिल्म की तुलना में काफी कम होता है, इसलिए पटकथा लेखन के समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि ज्यादातर दृश्य अंदरूनी हिस्से (घर/आफिस/होटल) के हों। ऐसे दृश्य कमरों की सजावट बदल कर एक ही स्थान पर फिल्माए जा सकते हैं। जबकि बाहर के दृश्य (पार्क, सड़क, स्वीमिंग पूल, पहाड़, झील आदि) काफी खर्चीले होते हैं। इसके अतिरिक्त इनके फिल्मांकन में समय भी ज्यादा लगता है।

धारावाहिक के लम्बे चौड़े पात्र समूह को पर्दे पर दिखते रहने के लिए आमतौर से यह किया जाता है कि (जब तक अलग-अलग परिवारों की कहानियां अलग-अलग चलती रहती हैं) एक परिवार की कहानी को कुछ दिनों तक सामने रख कर बाकी को अंधेरे में धकेल दिया जाता है। फिर इस कहानी को किसी रोचक मोड़ पर पहुँचाने के बाद उसे पृष्ठभूमि में धकेल कर दूसरी कहानी उठा ली जाती है। इस तरह यह क्रम एक के बाद एक करके अनवरत रूप से चलता रहता है।

टेलीविजन की पटकथा में जिस चीज का सबसे ज्यादा दबाव रहता है, वह है कहानी का एपीसोड के अनुसार विभाजन। हर एपीसोड के अंत में पटकथाकार को कहानी ऐसी जगह पर लाकर रोकनी (फ्रीज करनी) होती है, जहाँ पर दर्शक आगे की घटना जानने के लिए उत्सुक रहे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक एपीसोड में अनिवार्य रूप से हर पाँच मिनट पर आने वाले अन्तराल (ब्रेक) से पहले भी ऐसे बिन्दु तलाशने होते हैं, जो उसके दौरान दर्शकों की जिज्ञासा को बांधे रखने में समर्थ हों। इसलिए टेलीविजन लेखन फिल्म की तुलना में ज्यादा श्रम की मांग करता है।

प्रसिद्ध हास्य कवि और पटकथाकार अशोक चक्रधर ने 'वंश' धारावाहिक के पटकथा लेखन के दौरान टी.वी. धारावाहिक की दृश्य योजना से सम्बन्धित एक फार्मूला बनाया था, जिसमें एक सफल धारावाहिक के सारे गुणों का समावेश है। वह फार्मूला इस प्रकार से है-

'आँसू, धाँसू, हँसी, जमाई। दो लव सीन, कथा कविताई। कान्सपिरेसी, वैल्यू, व्यापा। दोनों में से कोई पापा। दस चीजें बताई थीं इस फार्मूले में। किसी न किसी पात्र के आँसू अवश्य निकलने चाहिए। कम से कम एक ठहाका दर्शक जरूर लगाएं। दो जमाई थे वंश में, एक सज्जन, एक दुष्ट, इनमें से कोई एक एपीसोड में हो। किसी भी उम्र के युगल के बीच दो लव सीन हों। हर एपीसोड की एक निजी कथा हो। कविता किसी न किसी रूप में किसी भी पात्र के जरिए सुनने को मिले। हर एपीसोड में कोई न कोई षडयंत्र हो। जीवन-मूल्य हों, व्यापार हों। कथा अवांतर प्रसंगों में न भटक जाए, इसलिए दोनों 'पापा' यानी दोनों मुख्य चरित्रों में से एक अवश्य हो।'[2]

दृश्य का तीन अंकीय ढ़ांचा

जिस प्रकार कहानी को तीन अंकों में विभाजित किया गया है, उसी प्रकार प्रत्येक दृश्य के भी तीन अंक होते हैं- प्रारम्भ, मध्य और अंत। पहला अंक जहां से दृश्य शुरू होता है, दूसरा अंक जब दृश्य अपने मध्य में पहुंचने वाला होता है। तीसरा अंक तब शुरू होता है, जब वह दृश्य समाप्ति की ओर बढ़ता है। कहानी की तरह ही प्रत्येक दृश्य में तीनों अंकों को आपस में मिलाने वाले दो निर्णायक बिन्दु (टर्निंग प्वांइट) होते हैं। ये निर्णायक बिन्दु दृश्य के एक अंक को दूसरे अंक में ले जाते हैं। सामान्यतः सभी कथात्मक दृश्यों में यह ढ़ांचा मौजूद रहता है।

फिल्म 'मदर इंडिया' की एक महत्वपूर्ण घटना है। गांव में बाढ़ आ जाती है, जिसमें राधा की फसल बर्बाद हो जाती है। ऐसे में उसके बच्चे भूख से बिलखते हैं। राधा का छोटा लड़का भूख के कारण बेहोश हो जाता है। यह देख कर राधा टूट जाती है और बच्चों की भूख मिटाने के लिए अपनी इज्जत सुक्खी लाला के हाथों में सौंपने के लिए तैयार हो जाती है।

जिस समय लाला के घर राधा पहुंचती है, वहां से दृश्य की शुरुआत होती है। उस दृश्य के प्रारम्भ में राधा, लाला के घर के दरवाजे को पीटती है और अपने बच्चों के लिए खाना मांगती है। लाला दरवाजा खोल कर उसे अंदर बुलाता है। वह अपना मंगलसूत्र नोच कर फेंक देती है। राधा का मंगलसूत्र कमरे में रखी लक्ष्मी की मूर्ति पर जाकर टंग जाता है। सुक्खी लाला राधा को अपने घर आया देख कर बहुत खुश

होता है और उसे लक्ष्मी बनाने की बात कहता है। तभी राधा की नजर सुक्खी के कमरे में रखी लक्ष्मी की मूर्ति पर पड़ती है। वह लक्ष्मी को ताना देती है। यह देख कर लाला लक्ष्मी की मूर्ति को वहां से ले जाने लगता है। राधा इसका विरोध करती है। इसी बीच लक्ष्मी की मूर्ति पर पड़ा राधा का मंगलसूत्र पुनः राधा के हाथ में आ जाता है। राधा को लगता है कि देवी ने उसे अपना आशीर्वाद दिया है। वह अपने मन को कड़ा कर लेती है और वहां से जाने लगती है। तब लाला उसे जबरदस्ती रोकने का प्रयत्न करता है। इस पर राधा एक लाठी उठा कर लाला की पिटाई करती है और वहां से चली जाती है।

दृश्य की बनावट के अनुसार यह एक आदर्श दृश्य है, जो अपने वास्तविक स्थान से प्रारम्भ होकर सच्चे अंत पर समाप्त होता है। इस दृश्य की एक स्पष्ट शुरुआत है, संघर्षशील मध्य है और उचित अंत। दृश्य में पहला निर्णायक मोड़ (टर्निंग प्वांइट) तब आता है, जब सुक्खी लाला राधा के सामने से लक्ष्मी की मूर्ति ले जाने लगता है। राधा एक साहसी और चरित्रवान महिला है। वह अपने बेटे की जान बचाने के लिए लाला के सामने समर्पण करने के लिए विवश होती है, इसलिए वह अपनी मजबूरी का हवाला देते हुए देवी लक्ष्मी की मूर्ति को सम्बोधित करके कह चुकी है कि लक्ष्मी के रूप में आने पर क्या तुम्हें लाज न आई, इसलिए अब तुम अपनी आंखों के सामने इस राधा की इज्जत लुटते हुए देखो। ऐसा कह के राधा लक्ष्मी जी को यह एहसास कराना चाहती है कि इस दुनिया में अकेली औरत का जीना कितना मुश्किल है और उसे किन-किन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है।

देवी लक्ष्मी पर राधा द्वारा किये गये व्यंग्य से लाला डर जाता है। लाला का सारा खेल लक्ष्मी जी की कृपा से ही चलता है। उसे लगता है कि अगर मैंने लक्ष्मी जी की मूर्ति के सामने राधा से जबरदस्ती की, तो वे नाराज हो जाएंगी और लक्ष्मी जी की नाराजगी का मतलब है उसकी कंगाली। इसीलिए वह उस मूर्ति को वहां से हटाने लगता है। इससे राधा भड़क उठती है। वह इस काम का विरोध करती है क्योंकि उसके अवचेतन मन में शायद कहीं यह बात छुपी हुई है कि अगर लक्ष्मी जी अपने सामने किसी की इज्जत को तार-तार होते देखेंगी, तो उनसे रहा न जाएगा और वे मेरे लिए कुछ करेंगी। अगर वे कुछ न भी करें, तो भी उन्हें एक मां की मजबूरियों का एहसास तो होगा ही। उन्हें यह भी पता रहेगा कि राधा ने अपना समर्पण कितनी मजबूरी में किया था। इस कार्य-व्यापार द्वारा राधा अपने अपराध बोध को दूर करना चाहती है, इसीलिए वह मूर्ति ले जाने का विरोध करती है। इस विरोध के कारण ही उस दृश्य में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है।

दृश्य का दूसरा निर्णायक बिन्दु (टर्निंग प्वांइट) तब आता है, जब मूर्ति की छीना-झपटी के दौरान राधा के हाथ में वापस उसका मंगलसूत्र आ जाता है। इससे पहले राधा ने अपने मंगलसूत्र को इसलिए उतार फेंका था क्योंकि वह उसकी लाज रख पाने में सक्षम नहीं था। लेकिन संयोगवश वह मंगलसूत्र पुनः उसके पास पहुंच जाता है। इससे राधा को लगता है कि यह सब देवी मां की इच्छा से हुआ है। देवी मां उसके साथ हैं और वे नहीं चाहती हैं कि राधा अपनी इज्जत को लाला के हाथों नीलाम करे। इससे राधा का खोया हुआ आत्मविश्वास पुनः लौट आता है और वह अपना इरादा बदल कर परिस्थितियों से संघर्ष करने के लिए तैयार हो जाती है। वह कमरे में रखी लाठी से लाला की पिटाई करती है और वहां से भाग जाती है।

दृश्य का यह तीन अंकीय ढ़ांचा सभी फिल्मों के यादगार दृश्यों में देखा जा सकता है। फिल्म 'मुगले आजम', 'गाइड' और 'दीवार' के कुछ महत्वपूर्ण दृश्य तथा उनके निर्णायक बिन्दु इस प्रकार हैंः-

फिल्म एवं घटना	पहला निर्णायक बिन्दु (टर्निंग प्वांइट) और उसका प्रभाव	दूसरा निर्णायक बिन्दु (टर्निंग प्वांइट) और उसका प्रभाव
मुगले-आजम सलीम के विद्रोह कर देने पर अकबर लड़ाई के मैदान में सलीम को समझाने के लिए उसके खेमे में जाता है। वहां पर उसकी मुलाकात अनारकली से हो जाती है, जिसे दुर्जन सिंह अकबर के कैदखाने से निकाल कर लाया है।	सलीम के खेमे में अकबर को अपने कैदखाने से अनारकली के फरार होने की सूचना मिलना। **प्रभावः**- लड़ाई के लिए कूच करते समय अकबर यह हुक्म दे कर आया था कि युद्ध के नगाड़े की पहली चोट अनारकली की मौत का ऐलान होगा। लेकिन अनारकली के बच जाने से उसे अपनी ताकत की कमतरी का एहसास होता है और वह गुस्से से आग-बबूला होता है।	अनारकली को पा जाने के कारण सलीम द्वारा जंग को टालने की कोशिश करना, लेकिन अकबर द्वारा यह घोषणा करना है कि यह जंग जरूर होगी। **प्रभावः**- सलीम अपनी मर्जी के खिलाफ अपने पिता से जंग करने के लिए विवश होता है।

गाइड पुरातत्व शास्त्री मार्को से मिलने के लिए उसकी पत्नी रोजी गुफा में पहुंचती है। दोनों में बहस होती है। मार्को असलियत बताते हुए कहता है कि उसने एक नाचने वाली की लड़की से शादी क्यों की। मार्को की बातों से आहत होकर रोजी मार्को को त्याग देती है।	रोजी द्वारा यह बताने पर कि पत्नी की क्या-क्या जरूरतें होती है, मार्को का भड़कना और रोजी को झापड़ मारना। **प्रभावः**- मार्को से मिलने आते समय रोजी के दिमाग में उलाहनों के अम्बर थे। मार्को के झापड़ मारने से रोजी के मन के भीतर दबी पड़ी विद्रोही भावनाएं अपना सर उठा लेती हैं। और वह मार्को के साथ निर्णायक लड़ाई के लिए तैयार हो जाती है।	मार्को की घटिया मानसिकता का पता चलने पर रोजी का आग बबूला होकर उस पर अपना हाथ चलाना। **प्रभावः**- रोजी के हाथ उठा लेने पर उसके सामने एक ही रास्ता बचता है। इस कष्टमय जिंदगी से हमेशा- हमेशा के लिए मुक्ति। वह इसी रास्ते को चुनती है और आत्महत्या के लिए निकल पड़ती है।
दीवार विजय अपनी मां को वह बिल्डिंग उपहार में देने के लिए घर आता हैं, जिसमे उसने मजदूरी की थी। रवि विजय से अपने गुनाह कुबूल करने के लिए कहता है। दोनों में बहस होती है। मां रवि का पक्ष लेती है। वह विजय का घर छोड़ कर रवि के साथ चली जाती है।	रवि द्वारा विजय से यह पूछना कि तुम अपने गुनाहों का इकरार करने के लिए कागज पर साइन करोगे या नहीं? **प्रभावः**- रवि के यह सवाल पूछने पर विजय को आगे होने वाली घटनाओं का अंदाजा हो जाता है। वह अपने परिवार पर होने वाली ज्यादातियों का उदाहरण देकर बात को टालना चाहता है, लेकिन रवि अपनी जगह से टस से मस नहीं होता है और घर छोड़ कर चला ज ाता है।	विजय द्वारा मां को रवि के साथ जाने से रोकने की कोशिश करना। **प्रभावः**- मां को लगता है कि विजय अपनी दौलत के बल पर उसे खरीदना चाहता है। वह कहती है कि तुम कितने भी अमीर क्यों न हो जाओ, अपनी मां को कभी नहीं खरीद पाओगे। मां रवि के साथ चली जाती है। विजय हताशा में मां के लिए खरीदी गयी बिल्डिंग के कागज फाड़ कर फेंकता है।

पटकथा–सार (वान लाइनर)

पटकथा-सार से आशय है पर्दे पर दिखने वाली दृश्य शृंखलाओं का संक्षिप्त विवरण। अर्थात् किस दृश्य में कौन सी घटना दिखायी जानी है और उस दृश्य का संयोजन किस प्रकार से होना है। इसके अतिरिक्त किस दृश्य में कौन-कौन से महत्त्वपूर्ण संवाद होंगे और वे किस अंदाज में बोले जाएंगे, इसका वर्णन भी इसमें किया जाता है। बालीवुड की भाषा में इसे 'स्टेप आउट लाइन' के नाम से भी पुकारा जाता है।

पटकथा-सार पूरी तरह से फिल्म के सिनेमाई पक्ष को ध्यान में रख कर लिखा जाता है। इसे पढ़ लेने के बाद मस्तिष्क में फिल्म का पूरा खाका तैयार हो जाता है। ठीक उसी तरह जैसे मकान बनवाने से पहले कोई व्यक्ति 'आर्किटेक्ट' से उसका नक्शा तैयार करवाता है। नक्शे को देखने के बाद दिमाग में यह बात आसानी से बैठ जाती है कि कहाँ पर ड्रांइग रूम होगा, कहाँ पर बैडरूम, कहाँ किचन, कहाँ बाथरूम और कहाँ पर लॉबी। इससे बार्द में कोई गड़बड़ी नहीं होती और धड़ाधड़ काम होता चला जाता है। मकान की शैली में बात करें तो लेखक एक मिस्त्री है और निर्देशक एक आर्किटेक्ट। इसलिए पटकथा लिखने से पहले लेखक को अपने आर्किटेक्ट से भरपूर सलाह मशविरा कर लेना बेहतर होता है। इससे बाद में पटकथा रूपी मकान में तोड़फोड़ की गुंजाइश काफी कम हो जाती है।

टेलीविजन धारावाहिक लेखन में पटकथा-सार का विशेष महत्त्व है। वर्तमान में सामान्यतः 52 अथवा 104 एपीसोड के धारावाहिक तैयार किये जाते हैं, जो लोकप्रिय होने पर अनगिनत एपीसोड में परिवर्तित हो जाते हैं। धारावाहिक की कहानी कहीं पर एकांगी न हो और न ही कहीं पर झोल खाए, इसीलिए पहले से ही प्रत्येक एपीसोड के दृश्यानुसार बिन्दु तैयार कर लिये जाते हैं। 'डेली सोप' धारावाहिक चूँकि सप्ताह में चार अथवा पाँच दिन प्रसारित होते हैं, इसलिए सामान्यतः कई लोग मिल कर उसका लेखन करते हैं। इस कार्य में पटकथा-सार बहुत सहायक होता है। धारावाहिक प्रस्ताव (प्रपोजल) जमा करते समय कई चैनल वाले धारावाहिक की व्यावसायिक सम्भावनाओं को टटोलने के लिए पटकथा-सार की भी मांग करते हैं। इस लिहाज से भी पटकथा-सार का विशेष महत्त्व होता है।

फिल्म का पटकथा-सार लिखते समय ही यह निश्चित कर लिया जाता है कि इसमें कहाँ-कहाँ पर कितना मसाला डाला जाना है। अर्थात, कहाँ पर रोमांस की खिचड़ी पकेगी, कहां पर नायिका को भिगाने की प्रक्रिया सम्पन्न करनी है और कहाँ-कहाँ पर गानों का छौंका लगाया जाना है।

बासु भट्टाचार्य एक ऐसा नाम है, जिसने बालीवुड में एक से बढ़ कर एक बेहतरीन और सार्थक फिल्मों की सौगात दी है। 'तीसरा पत्थर' उनकी एक ऐसी ही यथार्थवादी फिल्म है, जो प्रसिद्ध साहित्यकार रामकुमार 'भ्रमर' के इसी नाम से लिखे गये उपन्यास पर आधारित है। चम्बल के बीहड़ों में घूमती फिल्म 'तीसरा पत्थर' सिर्फ इसलिए नहीं महत्त्वपूर्ण है कि यह डाकुओं के जीवन पर आधारित बेहद सफल फिल्म है, बल्कि इसलिए भी कि इसमें एक आम आदमी के डाकू बनने की प्रक्रिया को बड़ी सूक्ष्मता से अंकित किया गया है। दमदार कहानी, जबरदस्त पटकथा एवं चुस्त संवादों के कारण यह फिल्म ऐतिहासिक महत्त्व की हो जाती है। बकौल बासु भट्टाचार्य- 'तीसरा पत्थर' का एक-एक दृश्य, एक-एक पात्र, एक-एक स्थिति और एक-एक घटना जीवन के सत्य से गुंथी हुई है।'[3]

एक आदर्श पटकथा के समस्त गुणों से सुसज्जित फिल्म 'तीसरा पत्थर' की पटकथा रामकुमार 'भ्रमर' और बासु भट्टाचार्य ने संयुक्त रूप से लिखी थी, जबकि इसके संवाद रामकुमार 'भ्रमर' की कलम से निकले हैं। फिल्म 'तीसरा पत्थर' का पटकथा-सार इस प्रकार है-

1. जेल में बंद अपने बड़े भाई से मिल कर लौटे फौजदार सिंह से गाँव का मास्टर जगन्नाथ, जोकि उसी के घर में रहता है, बड़े ठाकुर बिहारी सिंह के हालचाल पूछता है। बड़े ठाकुर की पत्नी भगवती को इस बात का मलाल है कि फौजदार सिंह ने अपने भाई को हवालात पहुँचाने वाले लालराम से बदला नहीं लिया। भगवती और फौजदार में इसी बात को लेकर नोंक-झोंक होती है। भगवती ललकारते हुए कहती है- 'जितनी तेज आवाज में मुझसे बोल रहे हो, उतनी तेजी से गोली छोड़ी होती, तब मैं जानती कि तुम उस आदमी के भाई हो, जिसने कभी तुम्हारे भरोसे लालाराम को चुनौती दी थी।'
2. फौजदार अपने बिस्तर पर लेटा हुआ है। उसकी पत्नी चम्पा पूछती है कि जब बड़े ठाकुर की तबियत ज्यादा खराब थी, तो तुम क्यों लौट आए? फौजदार कहता है कि मैं भाभी को लेने आया था, जिससे वह एक बार भैया को देख लें।
3. पुलिस वाले बिहारी सिंह की लाश लेकर घर जाते हैं। पति की लाश देख कर भगवती चीख पड़ती है। एक औरत उसकी चूड़ियाँ फोड़ना चाहती है, पर वह अपने कमरे में चली जाती है।
4. बिहारी सिंह के अन्तिम संस्कार के लिए लाश के साथ जाने वाली हंड़िया फौजदार ले जाना चाहता है, पर भगवती उससे मना कर देती है और अपने लड़के महाराज सिंह, जोकि अभी काफी छोटा है, से सारे अन्तिम संस्कार करवाती है।

5. गाँव का शास्त्री भगवती से चूड़ी उतारने के लिए कहता है। भगवती जवाब देती है कि जिस दिन लालाराम के सीने में फौजदार गोली उतार देगा, उस दिन वह चूड़ियाँ उतारेगी।
6. शास्त्री लालाराम को भगवती की प्रतिज्ञा के बारे में बताता है, तो वह कहता है कि फौजदार सिंह अपनी औरत के सिर में पड़े हुए जुंए ही मार ले, यही काफी है। उसी समय फौजदार उधर से गुजरता है। लालाराम उसे देख कर घर में घुस जाता है।
7. अपनी प्रतिज्ञा पूरी करवाने के लिए भगवती खाना-पीना छोड़ा देती है। फौजदार के समझाने पर वह कहती है कि मैं खाना इसलिए नहीं खा रही हूँ क्योंकि लालाराम जिन्दा है।
8. दो पुलिस वाले फौजदार के घर पर आते हैं। वे बताते हैं कि लालाराम ने पुलिस में यह रिपोर्ट लिखाई है कि उसे फौजदार से जान का खतरा है। दरोगा उसे किसी तरह की गड़बड़ी न करने की सख्त हिदायत देता है।
9. जगन्नाथ लालाराम से मिल कर उसको समझाता है कि बिना वजह फौजदार को उकसाना ठीक नहीं। लालाराम उल्टा उसी पर बिगड़ जाता है। वह कहता है- 'तुम बच्चों को अ आ इ ई पढ़ाओ, हम दोनों अपनी क्ष त्र ज्ञ खुद कर लेंगे।'
10. फौजदार की बहन रूपा स्कूल के बगल से गुजरती है। जगन्नाथ उससे उसके भतीजे महाराज सिंह के स्कूल न आने के बारे में पूछता है।
11. महाराज को गिल्ली-डंडा खेलते देख कर रूपा उसे डांटती है और स्कूल जाने को कहती है। यह देख कर भगवती उसका प्रतिवाद करती है। वह कहती है कि मैं महाराज सिंह को आदमी नहीं बनाना चाहती। उसे मर्द बनाना चाहती हूँ ताकि वह अपने बाप की मौत का बदला ले सके।
12. मास्टर जगन्नाथ शास्त्री से पूछता है कि तुम्हारा लड़का स्कूल क्यों नहीं आता है। शास्त्री बताता है कि स्कूल में शूद्रों के बच्चे भी आते हैं। इससे उसके लड़के का धर्म भ्रष्ट हो जाएगा। जगन्नाथ उसे वाल्मीकि आदि के उदाहरण देकर समझाता है। शास्त्री उसकी बातों से प्रभावित हो जाता है और लड़के को स्कूल भेजने का वादा करता है।
13. भगवती अपने पति बिहारी सिंह की राइफल साफ करके अपने बेटे को देती है। महाराज सिंह उसे संभाल नहीं पाता और उसे काका फौजदार को दे देता है। भगवती कारतूस का पट्टा फौजदार के हवाले करती है। यह देख कर फौजदार की पत्नी चम्पा निराश हो जाती है। उसे लगता है कि जब तक भगवती इस घर में है, वह सुकून से नहीं रह सकती।

14. फौजदार तालाब के किनारे बैठा अन्तर्द्वन्द्व में उलझा है। उसे लालाराम को न मार पाने का अफसोस है। जगन्नाथ उसे समझाता है। इससे फौजदार झुंझला जाता है और वहाँ से चला जाता है।
15. गांव में आल्हा का आयोजन होता है। आल्हा की दो जोशीली पंक्तियाँ 'जाके बैरी जीवित बैठा, वाके जीवन को धिक्कार' सुन कर फौजदार का दिमाग खराब हो जाता है। वह आल्हा छोड़ कर अपने घर लौट आता है। वे पंक्तियाँ लगातार उसके दिमाग में गूंजती हैं। अन्त में जब फौजदार से बर्दाश्त नहीं होता, तो वह रायफल लेकर घर से निकल जाता है।
16. लालाराम की छत पर चढ़ कर फौजदार उसे ललकारता है। आवाज सुन कर लालाराम का बहनोई बाहर निकलता है। फौजदार उसे गोली मार देता है और वहाँ से भाग जाता है।
17. रात में चम्पा की नींद खुलती है। वह अपने बगल में फौजदार को न पाकर घबरा जाती है। तभी गोलियाँ चलने की आवाज आती है। सभी लोग आवाज की दिशा में भागते हैं। भगवती निश्चिंत भाव से दरवाजे पर खड़ी रहती है।
18. फौजदार की तलाश में पुलिस वाले उसके बहनोई लालसिंह के घर पहुँचते हैं। वे बड़ी बदतमीजी से फौजदार के बारे में पूछते हैं और घर की तलाशी लेते हैं।
19. फौजदार पुलिस से बचने के लिए बहादुरा डाकू के अड्डे पर पहुँचता है। उसके पास बहादुरा के किसी विश्वस्त आदमी की चिट्ठी है। चिट्ठी पढ़ कर बहादुरा उसे अपने गिरोह में शामिल कर लेता है।
20. रूपा अपने भतीजे को जुआ खेलते हुए देखती है। वह उसे लेकर भाभी के पास जाती है और उसकी शिकायत करती है। यह देख कर फौजदार की पत्नी चम्पा व्यंग्यपूर्वक कहती है- 'यह मर्द बन रहा है, जिससे अपने काका का हिसाब चुका सके।' यह सुन कर भगवती झुंझला जाती है और लड़के को पीटती है।
21. फौजदार को पता चलता है कि भतीजे महाराज सिंह की तबियत खराब है। वह उसे देखने जाने के लिए तैयार होता है। बहादुरा उसे रोकता है, लेकिन फौजदार उसकी एक नहीं सुनता। अपने विश्वस्त धीरज को लेकर फौजदार वहाँ से चल देता है।
22. रास्ते में एक गाँव वाले से पता चला है कि महाराज की तबियत अब ठीक है। फौजदार अपना इरादा बदल कर लालाराम के घर पहुँच जाता है और उसके दूसरे बहनोई की हत्या कर देता है।
23. अपने बहनोई की हत्या से लालाराम विक्षिप्त सा हो जाता है। उसे चारों ओर फौजदार सिंह नजर आता है।

24. पुलिस वाले फौजदार सिंह के सम्बन्ध में पूछताछ करने के लिए उसके घर जाते हैं और बदतमीजी करते हैं। इस पर भगवती भड़क उठती है। वह कहती है- 'लुगाइयों पर बहादुरी क्यों जता रहे हो हुजूर? फौजदार बीहड़ों में घूम रहा है। उसे पकड़ना है, तो वहाँ जाओ।'

25. बहादुरा के अड्डे पर पुलिस दल धावा बोलता है। मुकाबले में बहादुरा मारा जाता है। फौजदार को गोली लग जाती है, लेकिन वह भागने में सफल हो जाता है।

26. लालाराम की पत्नी गोमती अपने सुहाग की सलामती के लिए भगवती के पास जाती है और उससे प्राणों की भिक्षा मांगती है। भगवती यह कह कर कि अब से इस घर में दया-धरम बंद हो गया है, उसे झिड़क देती है। महाराज सिंह अपनी माँ को बताता है कि फौजदार काका को गोली लगी है और जल्दी ही वह नहीं निकली, तो....। भगवती यह बर्दाश्त नहीं कर पाती और गुस्से में अपने बेटे के एक तमाचा रसीद कर देती है।

27. अपनी ननद रूपा के विवाह के लिए भगवती पाँचवीं जगह से निराश लौटती है। वजह सिर्फ इतनी ही है कि रूपा का भाई अपराधी है।

28. पति को गोली लगने की बात सुन कर चम्पा बहुत परेशान होती है। उसके कानों में लगातार महाराज सिंह बात गूंजती है- 'काका को गोली लग गई...'

29. (फ्लैश बैक) चम्पा खेत में फौजदार के साथ लेटी है। फौजदार चुहलबाजी करता है। वह उसे एक रोमांटिक फिल्म के बारे में बताता है और वैसी ही ऐक्टिंग करता है।(फ्लैश बैक समाप्त)

30. चम्पा को नींद नहीं आ रही है। आहट सुन कर वह दरवाजा खोलती है। सामने रूपा खड़ी है। रूपा को देख कर वह चौंकती है और फिर उसे अपने ही पास सुला लेती है।

31. घायल अवस्था में फौजदार अपने जीजा लालसिंह के घर पहुँचता है। धीरज उसके साथ है। वह गोली निकालने की तैयारी करता है।

32. लालसिंह साइकिल से अपने घर लौटता है। पत्नी चंदा उसे फौजदार सिंह के बारे में बताती है। लालसिंह परेशान हो उठता है। (फ्लैश बैक) फौजदार की पत्नी उसका सिर दबा रही है। फौजदार उसे अपनी बांहों में खींच कर प्यार करता है। (फ्लैश बैक समाप्त)

33. बहादुरा गिरोह का सदस्य पातीराम पुलिस में कैद है। इंस्पेक्टर उसे टार्चर करता है। उसके दबाव में पातीराम टूट जाता है और पुलिस के लिए मुखबिरी करने को तैयार हो जाता है।

34. भगवती अपनी ननद की शादी के सिलसिले में मुरैना वाले ठाकुर के घर जाती है। फौजदार के बहाने ठाकुर उसकी बातों को खूबसूरती से टाल जाता है।
35. अपने घर की स्थितियों और भाभी के व्यंग्य बाणों से रूपा बहुत आहत है। जगन्नाथ उसे सांत्वना देता है।
36. फौजदार अपने बहनोई के घर पड़ा-पड़ा ऊबने लगता है। वह अपनी बहन चंदा से कहता है कि तुम लोगों पर बोझ बन गया हूँ। चंदा उसकी बातों को हंसी में टाल देती है।
37. फौजदार के आतंक से लालाराम बेहद घबराया हुआ है। वह इंस्पेक्टर से कह कर अपनी सुरक्षा के लिए निजी गार्ड तैनात करवाता है।
38. लालसिंह पुलिस को फौजदार के बारे में सूचना दे देता है। उसकी पत्नी को जब यह बात पता चलती है, तो वह घबरा जाती है। इस पर लालसिंह कहता है कि फौजदार ठाकुर की जिंदगी हम सबकी मौत है।
39. फौजदार अपने बहनोई की बात सुन लेता है। वह लालसिंह को गोली मार देता है और वहाँ से भाग निकलता है।
40. महाराज सिंह कहीं से चुरा कर रायफल लाता है। भगवती रायफल छुपाते हुए देख लेती है। वह चम्पा से उसे समझाने के लिए कहती है। चम्पा कटु स्वर में बोलती है- 'महाराज सिंह तुम्हारा अपना है, तो इसलिए उसे रोकना चाहती हो? और जिस दिन मेरा सहारा इस मर्दानगी की तरफ धकेल दिया था, उस दिन....?'
41. चम्पा अकेले में महाराज सिंह को समझाती है। वह कहता है- 'काकी, इसी के बूते हमार सारी ठकुरास टिकी है। यह मर्द का गहना है।'
42. तालाब के किनारे फौजदार और धीरज बैठे हुए हैं। धीरज उससे कहता है कि तुमने अपने जीजा को मार कर अच्छा नहीं किया। फौजदार जवाब देता है कि जो हमारे लिए खतरा बन जाए, उसे मिटाना पड़ता है।
43. होली के त्योहार में लालाराम के घर के बाहर सारे गाँव वाले मस्त होकर नाच गा रहे हैं। लालाराम भी उसमें शामिल है, लेकिन वह सहमा-सहमा सा है।
44. महाराज सिंह ने दो लड़कों को मिला कर एक ग्रुप बना लिया है। वह मक्खन सिंह को लूटने की योजना बनाता है।
45. फौजदार अपनी पत्नी से मिलने घर जाता है, लेकिन उसे देख कर चम्पा बिलकुल उत्साहित नहीं होती। वह कहती है कि मेरा पति कहीं खो गया है। तुम सिर्फ डाकू हो।
46. महाराज सिंह की तलाश में पुलिस उसके घर पर छापा डालती है, लेकिन वह घर पर नहीं मिलता है।

47. फौजदार अपनी विधवा बहन चंदा के पास जाता है और उसे कुछ पैसे देना चाहता है। चंदा कहती है कि उस दिन एक गोली मुझे भी मार दी होती। इसी के साथ वह रोने लगती है।

48. फौजदार अपने गिरोह के साथ एक विवाह वाले घर को घेरता है। वहाँ पर नाच-गाना हो रहा है। लालाराम डाकुओं को देख कर छुप जाता है। उसकी पत्नी गोमती फ़ौजदार के पैर पकड़ कर लड़की का वास्ता देती है। फौजदार वहाँ से चला जाता है।

49. फौजदार के गिरोह का एक सदस्य पातीराम पुलिस की मुखबिरी करता है। पुलिस वाले गिरोह पर हमला करते हैं। पातीराम वहाँ से भाग निकलता है।

50. विधवा होने के बाद चंदा पहली बार मायके आती है और भाभी के सीने से लग कर रोती है। उसी समय रूपा घर में कदम रखती है। भगवती मास्टर के साथ प्रेम की पींगे बढ़ाने के लिए उसे डांटती है। तब चंदा उसका पक्ष लेती है। तीनों लोगों की खूब नोकझोंक होती है। चम्पा कहती है- 'अब नहीं सहा जाता जीजी। हम चैन से जी नहीं सके, चैन से मरने तो दो।'

51. लालाराम को सन्निपात हो जाता है। उसे चारों तरफ फौजदार सिंह नजर आता है। वह अजीबो-गरीब हरकतें करता है।

52. गिरोह के अड्डे पर फौजदार का एक साथी घायल पड़ा है। अपनी बहन के ब्याह की बात करते-करते उसका दम टूट जाता है। फौजदार यह देख कर क्रोध से फुंकार उठता है और धीरज से पातीराम को पकड़ने की बात कहता है।

53. भगवती खलिहान में रूपा का खाना लेकर जाती है। वह उससे अपने व्यवहार के लिए माफी मांगती है। रूपा भाभी के सीने से लिपट कर रोने लगती है।

54. महाराज सिंह अपने साथ तीन-चार लड़कों को लेकर फौजदार काका के गिरोह में पहुँचता है। फौजदार अपने भतीजे के हाथ में रायफल देख कर आग-बबूला हो जाता है और उसे भड़काने वाले लड़कों को मौत के घाट उतार देता है।

55. पातीराम का रिश्तेदार नाहरसिंह शहर से लौट कर आता है और फौजदार सिंह को पातीराम के बारे में सारी सूचनाएँ देता है। फौजदार उसे दस हजार रुपयों का लालच देता है। नाहरसिंह पातीसिंह को पकड़वाने के लिए राजी हो जाता है।

56. नाहर सिंह पातीराम को लेकर फौजदार सिंह द्वारा तयशुदा स्थान से गुजरता है। फौजदार और धीरज पातीराम की पिटाई करने के बाद उसकी हत्या कर देते हैं।

57. नदी के किनारे रूपा जगन्नाथ से मिलती है। रूपा इस बात को लेकर झगड़ती है कि बड़ी भाभी के यह पूछने पर कि तुम मुझे प्यार करते हो या नहीं, तुमने इनकार क्यों किया? जगन्नाथ उसे समझाता है। रूपा उसकी एक नहीं सुनती है और गुस्से में वहाँ से चली जाती है।
58. फौजदार से मिलने के लिए जगन्नाथ उसके अड्डे पर जाता है। फौजदार उससे पूछता है कि तुम मेरी बहन रूपा से विवाह क्यों नहीं करते? जगन्नाथ कहता है कि मैं रूपा से शादी कर लूंगा, पर मुझे तुम्हारी रायफल दहेज में चाहिए।
59. भाभी के लांछन और जगन्नाथ के व्यवहार से आहत होकर रूपा कुंए में कूद कर आत्महत्या कर लेती है।
60. लालाराम की बीमारी की खबर सुनकर फौजदार धीरज के साथ उसे मारने जाता है, लेकिन वहाँ पर पुलिस का पहरा देख कर वह अपने घर चला जाता है। भगवती उसे लालाराम को मारने की लिए उकसाती है, लेकिन तभी लालाराम के घर की तरफ से आती रोने की आवाजें सुन कर भगवती टूट जाती है। धीरज उसे वहाँ से निकल चलने को कहता है। फौजदार के सीने पर अपने बहनोई की हत्या का 'तीसरा पत्थर' रखा हुआ है। वह धीरज के साथ जाने से मना करता है। धीरज कहता है- 'नहीं ठाकुर, तुम पुलिस में हाजिरी नहीं दोगे। तुम्हारी हाजिरी का मतलब होगा, हम सबकी मौत।' वह फौजदार सिंह को गोली मार देता है और वहाँ से भाग निकलता है। फौजदार को संभालने के प्रयास में भगवती की चूड़ियाँ टूट जाती है। चम्पा सिसकते हुए धरती पर बैठ जाती है। बैंक ग्राउंड में 'राम नाम सत्य है' की ध्वनि गूंजती है।

दृश्य लेखन

किसी भी दृश्य को लिपिबद्ध करते समय उसमें चार चीजों का उल्लेख अवश्य किया जाता है- दृश्य संख्या, समय, स्थान और पात्र। इसके अतिरिक्त यदि दृश्य में किसी विशेष सामग्री का उपयोग हो रहा हो, तो उसका भी उल्लेख दृश्य लेखन के शुरू में ही कर दिया जाता है। दृश्य संख्या घटनाओं की तारतम्यता के लिहाज से महत्त्वपूर्ण होती है। दृश्य संख्या के बाद जो चीज देखी जाती है, वह है समय। आमतौर से कहानियों में ज्यादातर दृश्य दिन और रात के होते हैं, लेकिन कुछ ऐसे दृश्य हो सकते हैं, जो सूर्योदय अथवा सूर्यास्त के समय घटित हो रहे हों। सूर्योदय अथवा सूर्यास्त का प्रभाव दिन अथवा रात के प्रभाव से एकदम भिन्न होता है, इसलिए आवश्यकता होने पर दृश्य में इसका स्पष्ट उल्लेख किया जाता है।

कुछ दृश्य ऐसे होते हैं, जो रात के समय ही ज्यादा उचित लगते हैं। जैसे काम-क्रीड़ा के दृश्य, अपराध सम्बन्धी दृश्य, रहस्य-रोमांच के दृश्य। इसके अलावा कहानी की मांग के अनुसार पति-पत्नी के आपसी झगड़े के दृश्य अथवा उदासी वाले दृश्य भी रात में रखे जाते हैं। जबकि बच्चों से जुड़े दृश्य, स्कूल, कालेज, अस्पताल, कार्यालय, फैक्ट्री आदि के दृश्य, प्रेम-प्रसंग सम्बन्धी दृश्य दिन की रोशनी में ज्यादा अच्छे लगते हैं। कौन सा दृश्य किस समय होना चाहिए, यह पूरी तरह से पटकथाकार की समझ पर निर्भर करता है।

पटकथा में समय के साथ स्थान का भी विशेष महत्त्व है। दृश्य किसी बंद कमरे का है अथवा खुली जगह का, इसका उल्लेख जरूरी होता है। यदि दृश्य किसी बंद कमरे (घर, स्कूल, होटल, अस्पताल आदि) का है, तो पटकथा में आंतरिक दृश्य (इनडोर) लिखा जाता है। लेकिन यदि दृश्य किसी खुले स्थान (बारामदा, आंगन, सड़क, मैदान, पार्क आदि) का है, तो पटकथा में वाह्य दृश्य (आउटडोर) लिखा जाता है। स्थान के उल्लेख के बाद स्थान विशेष की पहचान का उल्लेख (जैसे रमेश का ड्राइंगरूम, विनोद का आउटहाउस आदि) भी यदि कर दिया जाए, तो उचित रहता है।

स्थान के बाद दृश्य में पात्रों (नाम सहित) का विवरण दिया जाता है। इससे दृश्य विशेष की शूटिंग के समय सम्बन्धित पात्रों के नाम जानने के लिए पूरा विवरण पढ़ने की जरूरत नहीं पड़ती और एक जगह पर सभी पात्रों के नाम मिल जाते हैं। इस सबके बाद दृश्य सम्बन्धी विवरण दिया जाता है कि इस दृश्य में कौन-कौन सी घटनाएँ घटती हैं। कौन व्यक्ति किससे क्या कह रहा है। उदाहरणार्थ यदि प्रेमचंद की कहानी 'पूस की रात' के उस भाग की पटकथा (स्क्रनप्ले) बिना डायलाग के लिखी जाय, जिसमें सहना हल्कू से पैसे मांगने आता है, तो वह इस प्रकार से होगी-

दृश्य १/दिन/आन्तरिक दृश्य(इनडोर)/सहना की झोपड़ी/हल्कू और मुन्नी

मुन्नी घर में झाड़ू लगा रही है। हल्कू आकर उससे कहता है कि सहना आया है और अपने पैसे मांग रहा है। मुन्नी ने बड़ी मुश्किल से तीन रुपये कंबल खरीदने के लिए बचाये हैं। वह रुपये देने से इनकार करती है, पर हल्कू के आग्रह और उसके अपमान के डर से वह तीन रुपये निकाल कर उसे दे देती है।

'परिन्दे' निर्मल वर्मा की एक प्रसिद्ध कहानी है। कहानी की शुरुआत में अधीक्षिका (वार्डन) द्वारा छात्रावास (हास्टल) के कमरों का निरीक्षण करने का वर्णन है। कहानी के इस भाग को यदि पटकथा में ढ़ाला जाए तो वह कुछ इस प्रकार से होगा-

दृश्य 1/रात/आन्तरिक दृश्य(इनडोर)/हास्टल का बरामदा/ लतिका और सुधा

'लड़कियों के एक स्कूल का हॉस्टल, जिसके सामने विशाल लॉन और फिर ढ़लान लेती घाटी। चारों ओर पर्वत माला और चीड़ वृक्ष फैले हुए हैं। शाम के अंधेरे में यह सारी आकृतियाँ रहस्यमय वातावरण बना रही हैं। चीड़ के पेड़ों की सरसराहट किसी विशाल झरने की आवाज की तरह सुनाई देती है। इन सब दृश्यों से होता हुआ कैमरा हास्टल के बारामदे में आता है।

'बारामदे में दूसरे छोर से आती हुयी नारी आकृति दिखाई देती है। यह लतिका है, जो हॉस्टल वार्डेन होने के नाते राउंड पर है। उसके एक हाथ में मिट्टी के तेल का लैम्प है। .....उसकी आकृति लैम्प के प्रकाश में दिखाई देने लगती है। उसकी साड़ी का लहराता पल्ला और उसके उड़ते बाल, जिन्हें वह दूसरे हाथ से समेट लेती है, हल्की हवा के द्योतक हैं।

'कमरों में बंद दरवाजों के सामने से गुजरते हुए वह एक कमरे के आगे ठिठकती है। कमरे के अंदर से कुछ लड़कियों की बातें करने की दबी-दबी आवाजें और उनकी खिलखिलाहटें सुनाई पड़ती हैं। वह लैम्प का प्रकाश बढ़ाती है और लैम्प को उठा कर कमरे का नम्बर देखती है और फिर दरवाजे पर नॉक करती है। कमरे की सारी आवाजें बंद हो जाती हैं और सन्नाटा छा जाता है। लतिका फिर नॉक करती है। इस बार कमरे में से एक लड़की की सहमी सी आवाज आती है- 'कौन है?' लतिका उत्तर नहीं देती। कुछ क्षण के बाद कमरे में लड़कियों की खुसर-फुसर सुनाई देती है और फिर दरवाजा जरा सा खुलता है और एक लड़की सुधा का चेहरा झांकता है। लैम्प का प्रकाश उस चेहरे पर पड़ता है। लतिका को देखते ही दरवाजा पूरा खुल जाता है। लतिका कमरे में प्रवेश करती है।'[4]

उपरोक्त उद्धरणों की तरह जब दृश्य में सिर्फ घटनाओं से सम्बन्धित विवरण दिए जाते हैं, तो उसे पटकथा कहते हैं। लेकिन एक तरह से देखा जाए, तो यह पटकथा अधूरी है, क्योंकि इसमें अभी संवाद नहीं हैं ('परिन्दे' की उपरोक्त पटकथा में तो वैसे भी संवाद की आवश्यकता नहीं है)। फिल्म उद्योग में अक्सर ऐसा होता है कि कहानी किसी और की होती है, पटकथा दूसरे व्यक्ति की और संवाद किसी तीसरे व्यक्ति के। वैसे बहुत से लोग ऐसे भी हैं, जो पटकथा और संवाद एक साथ लिखते हैं, लेकिन उन्हें अपवाद के रूप में ही देखा जाता है।

पटकथा में संवाद का समावेश होते ही पटकथा लेखन का तरीका थोड़ा सा भिन्न हो जाता है। पटकथा लेखन का जो आधुनिक तरीका है, उसके अनुसार

घटनाओं का विवरण तो उपरोक्तानुसार ही लिखा जाता है, लेकिन संवाद के लिए अलग तरीका प्रयोग में लाया जाता है। उसके लिए पेज के दोनों ओर काफी ज्यादा जगह (दोनों तरफ की जगह मिला कर लगभग आधा पेज) छोड़कर बीच में छोटे से हिस्से में संवाद लिखे जाते हैं। इस समस्त प्रक्रिया को समझने के लिए 'पूस की रात' कहानी का सहारा लेते हैं। 'पूस की रात' की यदि सम्पूर्ण पटकथा लिखी जाए, तो वह कुछ इस तरह से होगी -

दृश्य 1/दिन/आन्तरिक दृश्य (इनडोर)/सहना की झोपड़ी/हल्कू और मुन्नी

मुन्नी बाहरी दरवाजे की ओर पीठ करके झाड़ू लगा रही है। दरवाजा खुलता है और हल्कू अंदर प्रवेश करता है। मुन्नी उसे चोर नजर से एक बार देखती है और फिर अनजान बन जाती है। हल्कू मुन्नी के पास जाता है और धीरे से कहता है-

हल्कू

सहना आया है।

मुन्नी

आया है, तो आने दो .... मैं क्या करूँ?

हल्कू

(थोड़ा घबरा कर) वह अपना उधार मांगने आया है।

मुन्नी

(उदासीनता से) पैसे हैं कहाँ?

हल्कू

(विनती के स्वर में) लाओ, जो रुपये रखे हैं, उसे दे दूँ, किसी तरह गला तो छूटे।

मुन्नी

रुपये उसे दे दोगे, तो कंबल कहाँ से आएगा? माघ पूस की रात हार में कैसे कटेगी? उससे कह दो फसल पर दे देंगे। अभी पैसा नहीं है।

हल्कू

(समझाते हुए) तुम तो सहना को अच्छी तरह जानती हो.

.. वह न मानेगा... गालियाँ अलग देगा... हाथ-पैर तोड़ने की धमकियाँ देगा।

मुन्नी

पैसे अभी नहीं हैं तो कोई क्या करे?

हल्कू

(दयनीयता से) मेरी बात मान जा... गाँव वालों के सामने गालियाँ देगा तो क्या रह जाएगी। ...ला, दे दे.... कंबल के लिए कोई दूसरा उपाय सोचूँगा।

मुन्नी

(आँखें तरेर कर) कर चुके दूसरा उपाय। जरा सुनूं तो कौन उपाय करोगे? कोई खैरात में दे देगा कंबल?

हल्कू

(गिड़गिड़ाते हुए) देख, मैं कहीं से ले आऊँगा.... कुछ भी कर लूँगा....

मुन्नी

अभी न जाने कितनी तो बाकी पड़ी है, जो किसी तरह चुकने में ही नहीं आती। मैं कहती हूँ तुम क्यों नहीं खेती छोड़ देते? मर-मर का काम करो, उपज हो तो बाकी दे दो, चलो छुट्टी हुई। बाकी चुकाने के लिए ही तो हमारा जन्म हुआ है। पेट के लिए मजूरी करो। ऐसी खेती से बाज आए। मैं रुपये न दूँगी ...न दूँगी।

बाहर से सहना की आवाज आती है-

सहना

क्यों बे हल्कू, क्या घर में छिप कर बैठ गया... आऊँ मैं अंदर?

हल्कू

(जोर से) अभी आया सहना भइया... (धीरे से मुन्नी से कहता है) तुझे मेरी सौगंध। पैसे दे दे, नहीं तो बड़ी विपत्ति आ जाएगी...

मुन्नी ताक में रखी एक मिट्टी की हंड़िया से पैसे निकाल कर हल्कू के हाथ में रख देती है।'[5]

दृश्य जितने संक्षिप्त और सार्थक हों, उतना ही अच्छा माना जाता है। दृश्य के बारे में यह कहावत है कि उसे जितनी देर से पकड़ो, उतना अच्छा और दृश्य को जितनी जल्दी खत्म कर दो, उतना बढ़िया। मंझे हुए फिल्माकार अपने दृश्यों में एक भी अतिरिक्त शब्द का इस्तेमाल नहीं करते। इसे फिल्म 'दस्तक' के दो दृश्यों में देखा जा सकता है।

पहला दृश्य

दृश्य 10/सुबह/वाह्य दृश्य (आउट डोर)/पान की दुकान/मरातिब, बनवारी, मिर्जा और हमीद।

मरातिब और दो आदमी आपस में बातें कर रहे हैं-

मरातिब

अमां बनवारी, मियां-बीवी तो कहने की बात है....

बनवारी

हाँ, मियां-बीवी होते तो इधर रहने को आते? (दूसरे आदमी से) क्यों मिर्जा?

मिर्जा

अमां, धीरे-धीरे निकलेंगे पर-पुर्जे, देखते जाओ।

मतारिब

अमां, तुम क्या समझते हो, इनको मालूम नहीं कि यहाँ शादो रहा करती थी।

मिर्जा

क्या बात करत हो मरातिब मियां। शादो के नाम पर यहाँ खून हो गए। अखबारों तक में नाम छप गया उसका।

बनवारी

पर अब बुढ़ियाए गयी थी मिर्जा...

मिर्जा

बरखुरदार। बीस-बीस झूठ इसीलिए तो बोलने पड़ते थे

एक ग्राहक फंसाने के लिए।

(बनवारी हंसता है।)

मरातिब

अमां चुप भी रहो। तुम लोग हंसा मत करो। हमारा तो धंधा ही चौपट हो गया। ....अबे याद है, शादो रहा करती थी तो सौ-पचास पान बिक जाया करते थे यार।

बनवारी

बिकंगे, अब भी बिकेंगे।

मरातिब

बेटा तुम ट्राई करो। अगर मेरा धंधा चौपट हुआ, तो मैं इन सालों को रहने थोड़े ही दूँगा....

मिर्जा सीढ़ियों से उतरते हुए हमीद को दुकान के शीशे में देखता है और मरातिब को इशारे से चुप कराता है।

(कट)

यहाँ पर ध्यान देने वाली बात यह है कि यह दृश्य अपने पहले अंक से नहीं शुरू हुआ है। बनवारी, मरातिब और मिर्जा पहले से बातें कर रहे थे। दृश्य का पहला अंक तब शुरू हुआ होगा, जब हमीद की पान की दुकान पर मरातिब और मिर्जा (एक-एक करके या एक साथ) आए होंगे, तब बातें शुरू हुई होंगी। हो सकता है कि शुरू में उनके बीच किसी अन्य विषय पर बात हो रही हो। या हो सकता है कि बात के शुरू होते ही बनवारी दुकान न चलने का रोना लेकर बैठ गया हो। उनके बीच बातचीत भले ही किसी प्रकार से शुरू हुई हो, लेकिन इतना तो तय है कि प्रारम्भ में उनके बीच कुशल क्षेम तो हुई होगी। उस कुशल क्षेम से कहानी का कोई वास्ता नहीं था, इसलिए लेखक ने अपने दृश्य की शुरूआत वहाँ से की, जहाँ से मुद्दे की बात शुरू होती है। इसी प्रकार पटकथाकार ने जहाँ पर इस दृश्य को समाप्त किया है, वास्तव में वह दृश्य का तीसरा अंक भी नहीं है। क्योंकि हमीद के जाने के बाद भी उन लोगों ने उसके बारे में कुछ न कुछ कहा अवश्य होगा, लेकिन उन बातों की भी इस दृश्य में कोई आवश्यकता नहीं थी।

इस दृश्य के माध्यम से पटकथाकार यह कहना चाहता था कि शादो के जाने के बाद से मरातिब का धंधा चौपट हो गया है। उसने हमीद को इसी उम्मीद में यह

कमरा दिलाया था कि उसकी बीवी भी शादो की तरह मुजरा करती होगी। वह इस घर में रहेगी, तो उससे मिलने के लिए ग्राहक फिर से खिंचे चले आएंगे। और जब ग्राहक आएंगे, तो पान तो खाएंगे ही। लेकिन हमीद के आने के बाद मरातिब की इच्छाओं पर तुषारापात हो जाता है। दुकान न चलने के कारण उसके सामने आर्थिक संकट उत्पन्न होने लगता है। इस वजह से वह इन लोगों से नाराज रहता है और मौका मिलते ही अपनी भड़ास निकालने लगता है। चूँकि हमीद के सामने से निकल कर जाने तक यह सारी बातें दर्शकों तक पहुँच जाती है, इसलिए पटकथाकार उस दृश्य को (दृश्य संगठन के अनुसार) तीसरे अंक तक नहीं खींचता है। हमीद के जाने के साथ ही वह उस दृश्य को समाप्त कर देता है।

दूसरा दृश्य

दृश्य 11/रात/आंतरिक दृश्य (इनडोर)/हमीद के घर की रसोई/हमीद और सलमा।

सलमा बैठी रोटी बेल रही है। हमीद उसके पास बैठा हुआ है। वह उसे गुदगुदाता है। सलमा रोटी बेलना छोड़ कर कहती है–

सलमा

देखो जी, मुझे यह मजाक अच्छा नहीं लगता।

हमीद

क्यों?

सलमा

मैं तुम्हारी बीवी हूँ, कोई दूसरी नहीं।

हमीद

(गुदगुदाते हुए) अब इतने से काम के लिए दूसरी ढूंढूं?

सलमा बेलन तान कर खड़ी हो जाती है।

सलमा

खबरदार!

हमीद

(दूर हट कर) अजीब हैं न बीवियों के हथियार भी। बेलन...झाड़ू...

सलमा

बस? और भी हैं...

हमीद

क्या?

सलमा जवाब में कमर पे हाथ रखकर टेढ़ी खड़ी हो जाती है और नाजो अदा से उसे देखती है।

हमीद

(घबरा कर) अब्बा!

हमीद रसोई से भाग जाता है। सलमा मुस्कराती है।

(कट)

फिल्म में इस दृश्य को रखने का मुख्य उद्‌देश्य पति-पत्नी के बीच होने वाली चुहल को दिखाना है। यह दृश्य भी बीच में उठाया गया है और दृश्य में सिर्फ उतनी ही बातें रखी गयी हैं, जिनके द्वारा उनकी इस चुहल को आसानी से समझा दिया जाए।

दृश्य लेखन हेतु उपरोक्त शैली अपनाने के पीछे मुख्य वजह यह है कि इससे घटनाओं सम्बंधी विवरण और संवाद अलग-अलग दिखाई पड़ते हैं। कुछ निर्देशक संवाद के सामने खाली पड़ी जगह को शॉट डिवीजन लिखने के लिए भी इस्तेमाल करते हैं। इस प्रक्रिया को अपनाने की एक वजह यह भी है कि इसमें पात्रों के संवाद दूर से नजर आते हैं। इसके अलावा स्क्रिप्ट देखने में भी अच्छी लगती है।

शूटिंग स्क्रिप्ट

शूटिंग स्क्रिप्ट से आशय ऐसी पटकथा से है, जिसमें पात्रों की स्थितियों के साथ कैमरे की गतिविधियां (कैमरा मूवमेन्ट) भी दर्शायी जाती हैं। इन दृश्यों को छोटे-छोटे हिस्सों में तोड़ कर प्रत्येक हिस्से के साथ कैमरे की गतिविधियां लिख दी जाती हैं। फिल्मों से जुड़े ज्यादातर निर्देशक शूटिंग प्रारम्भ होने से पहले शूटिंग स्क्रिप्ट तैयार कर लेते हैं। इसके विपरीत धारावाहिक के निर्देशक पटकथा की खाली जगह में ही कैमरे की गतिविधियां लिख कर अपना काम चलाते हैं।

उपन्यासकार विभूति भूषण बंद्योपाध्याय के उपन्यास पर आधारित फिल्म 'पाथेर पांचाली' सत्यजित राय की सर्वश्रेष्ठ फिल्मों मे से एक है। फिल्म में एक प्रसंग है कि हरिहर काफी समय के बाद 'परदेस' से कमा कर लौटा है। उसकी गैर मौजूदगी

में उसकी बेटी दुर्गा का देहान्त हो चुका है। हरिहर के घर आने, उसकी पत्नी सर्वजया की प्रतिक्रिया से संबंधित एक मार्मिक दृश्य है। उस दृश्य की शूटिंग स्क्रिप्ट इस प्रकार से लिखी जाएगी-

दृश्य ....

मिड शाट - हरिहर अपने मकान के पास खड़ा है। उसके एक हाथ में टीन की अटैची और दूसरे में एक गठरी है। वह दीवार पर आम के पेड़ की डाल गिरने के कारण उसके टूटे हुए भाग को देखता है।

हरिहर - (अपने आप से) और कुछ दिनों तक धीरज नहीं रख सके?
डाली को फांद कर हरिहर आगे बढ़ता है। वह छत की ओर देखता है और फिर आँगन के दरवाजे की ओर देखते हुए 'फ्रेम' से बाहर निकल जाता है। टूटी दीवार के पीछे एक गाय जुगाली करती हुयी नजर आती है। गाय के पीछे ओसारा बना हुआ है।
(ऑफ स्क्रीन से किसी दरवाजे के खुलने की आवाज आती है।)

लॉग शॉट - हरिहर अपने ओसारे में पहुँच गया है। वह बेचैनी में इधर-उधर देखता है और पुकारता है-

हरिहर - मुन्ना? दुर्गा?
हरिहर की पत्नी सर्वजया हरिहर के बगल से सीढ़ियाँ चढ़ती हुयी ओसारे पर आती हैं। उसका चेहरा चट्टान की तरह निर्विकार है।

हरिहर - ओह, तुम हो।

सर्वजया - आओ....
हरिहर सीढ़ियां चढ़ता है।

मिड शॉट - सीढ़ियां चढ़ कर हरिहर ऊपर पहुंचता है और सामान को फर्श पर रख देता है। अपने हाथों को रगड़ कर वह उन्हें धोती के किनारे से पोंछता है।

हरिहर - कैसी हो?
सर्वजया हरिहर के लिए फटाफट पाँव धोने का पानी एक बर्तन में उड़ेलती है। वह खड़ाऊँ, पीढ़ा और अंगौंछा लाकर रखती है।

हरिहर - ये लोग कहीं घूमने निकल गये हैं?
सर्वजया जाने लगती है, तो हरिहर उसके कंधे पर हाथ रख कर रोकता है।

हरिहर – यह क्या? कहाँ जा रही हो? जो-जो चीजें लाया हूँ उन्हें एक बार देख तो लो।

(सर्वजया रुक जाती है। हरिहर जमीन पर गुठनों के बल बैठ कर गठरी खोलता है।)

क्लोज शॉट – सर्वजया अग्रभूमि में कैमरे की तरफ मुड़ कर खड़ी है। उसके पीछे हरिहर ओसारे पर बैठा गठरी खोल रहा है।

हरिहर – पहले आना सम्भव होता, तो मैं आता नहीं? बाप रे, कम चक्कर लगाना पड़ता है? ...अन्त में जब विष्णु पहुँचा तो भाग्य ने साथ दिया-इसलिए। यह देखो– चड़क के मेले से तुमने लक्ष्मी जी का पट लाने को कहा था न? शीशे से मढ़वा कर ले आया हूँ। और यह .... कटहल की लकड़ी की चीज है....

बेलन-पटरा रख कर हरिहर एक साड़ी हाथ में उठाता है।

हरिहर – और यह देखो....

क्लोजअप – धारीदार साड़ी।

हरिहर – (ऑफ स्क्रीन) दुर्गा के लिए कैसी...

सर्वजया साड़ी को कस कर दबोचती है। साड़ी सहित उसका हाथ ऊपर उठता है। कैमरा टिल्टअप करके उसके चेहरे को फ्रेम में ले लेता है और फिर क्लोज शॉट में बदल जाता है।

सर्वजया का चेहरा रुलाई के आवेग से विकृत हो उठता है। वह दाँतों से साड़ी को दबाती है और रोती हुई फर्श पर धम्म से बैठ जाती है।

रोने की आवाज के स्थान पर करुण संगीत गूंजता है।

क्लोज शॉट – सर्वजया रोती हुयी फर्श पर लुढ़क जाती है। हरिहर उसका कंधा पकड़ कर झकझोरता है। सर्वजया मना करने के अन्दाज में माथा हिलाती है। कैमरा ट्रैक फारवर्ड होकर हरिहर के चेहरे पर केन्द्रित हो जाता है। वह खड़े होने की कोशिश करता है, लेकिन फिर बैठ जाता है। उसके मुँह से आवाज निकलती है–

हरिहर – दुर्गा, बेटी दुर्गा।

(कट)

पटकथा के इस दृश्य विभाजन (शॉट डिवीजन) के बारे में सत्यजीत रे के मन में क्या चल रहा होगा, इसका वर्णन करते हुए वे कहते हैं–

'वह अपने मकान की दीवार के पास है। दीवार की हालत देख कर वह एक आरोपसूचक स्वगतोक्ति (अपने आप से कहना) करता है। हरिहर सोच रहा है, उसके कोठे का ढ़ह जाना ही मानो उसके लिए सबसे बड़ी 'ट्रेजिडी' है। नाट्य-क्षण को विलम्बित करने के निमित्त उस शॉट को लगभग डेढ़ मिनट तक रखा गया था। घटना नहीं है- केवल गाय को पागुर करते दिखाया गया है, जैसे आंधी आने के पूर्व की स्थिति हो। शॉट के प्रारम्भ में हरिहर 'मीडियम' अवस्था में है, शॉट के अंत में वह पैदल चलता हुआ 'लांग' में चला गया है। सीढ़ियां चढ़ता हुआ जब वह ओसारे पर जा रहा है- इसे चढ़ने के मध्य, पूर्व में ही हम एकबारगी ओसारे पर चले गये। दो सीढ़ियां एक शॉट में और बाकी की दो सीढ़ियां उसके बाद वाले शॉट में। चढ़ने से दृष्टिकोण का परिवर्तन हमारी निगाह में नहीं आता है। इस शॉट में हरिहर का इधर-उधर के बारे में सवाल और सर्वजया का लम्बा कार्य-व्यापार (एक्शन) पानी डालना, पीढ़ा ले आना, अंगोछा ले आना, खड़ाऊं ले आना इत्यादि दर्शकों को अधीर बना देता है: कब और कैसे हरिहर इस बेधक समाचार से अवगत होगा?

'हरिहर के गठरी खोलने के प्रारम्भ में ही शॉट परिवर्तित होता है। अब हम सर्वजया के चेहरे को सामने से देख रहे हैं। मगर अब भी 'क्लोज अप' का समय नहीं आया है। हरिहर शुरू में दुर्गा की साड़ी नहीं दिखाता है। दो चीजें दिखाने के बाद साड़ी है। साड़ी, यही तो 'क्लोजअप' का समय है। हरिहर दुर्गा के लिए साड़ी ले आया है। दुर्गा अब जीवित नहीं है, हरिहर इस बात को नहीं जानता है। वह हर्ष के साथ सर्वजया की ओर साड़ी बढ़ाता है। सर्वजया ने अब तक अपनी सहिष्णुता का बांध टूटने नहीं दिया था- अब क्या वह उसे रोक सकती है? रुलाई की आवाज में एक प्रकार की वीभत्सता होती है, उसका परिहार करने के उद्देश्य से इस दृश्य में स्वाभाविक स्वर की जगह शहनाई के तार-सप्तक में पटदीप के एक करुण स्वर की अभियोजना की गयी थी। यह जैसे रुलाई में ही शामिल है। मुझे विश्वास है कि इससे करुण रस घनीभूत हो उठा था।'[6]

फिल्म 'शोले' में गब्बर का इन्ट्रो सीन बेहद चर्चित रहा है। होने को तो वह एक सामान्य सा दृश्य है, लेकिन नाटकीयता से भरपूर होने के कारण वह एक यादगार दृश्य बन गया है। उस दृश्य की शूटिंग स्क्रिप्ट कुछ इस प्रकार से होगी-

दृश्य ....

लॉग शॉट – कैमरा पैन करके पहाड़ियों के टीलों पर अलग-अलग खड़े तीन डाकुओं को दिखाता है। तीसरे डाकू को दिखाने के बाद कैमरा टिल्ट डाउन करके पहाड़ी से नीचे उतरता है।

मिड शॉट - कैमरे की तरफ मुँह करके खड़े तीन डाकू फ्रेम में दिखाई पड़ते हैं। तीनों के मुँह लटके हुए हैं। डाकुओं के सामने (क्रमशः बाएं से दाएं, ऊंची होती हुई) बड़ी-बड़ी चट्टानें सीढ़ीनुमा रखी हुयी हैं। उन्हीं चट्टानों पर गब्बर खड़ा है। फ्रेम में गब्बर के पैर (जांघों तक) दिखते हैं, साथ ही उसकी चमड़े की बेल्ट भी लटक रही है। अपनी बेल्ट को लहराते हुए गब्बर आगे बढ़ता है। कैमरा गब्बर के पैरों को फॉलो करता है। पृष्ठभूमि में दूर खड़े और बैठे अन्य डाकू भी दिखते हैं। तीसरे डाकू की सीध के थोड़ा सा आगे तक जाकर गब्बर पलटता है। कैमरा लगातार बाएं से दाएं और दाएं से बाएं पैन करके गब्बर के पैरों को फॉलो करता है।

गब्बर - हूँ, कितने आदमी थे।

सबसे बाईं ओर खड़ा डाकू सिर झुकाए हुए जवाब देता है।

डाकू - दो आदमी थे।

गब्बर - (पलटते हुए) हूँ।

एक सिरे पर जाकर गब्बर तेजी से चीखता है-

दो आदमी ।

क्लोज शॉट - कैमरे की तरफ मुँह करके गब्बर तेजी से चीखता है-

गब्बर - सुअर के बच्चों।

क्लोज शॉट - तीनों डाकुओं की एक-एक करके प्रतिक्रिया।

गब्बर पुनः फ्रेम में आ जाता है। जूम आउट करके दृश्य पुनः मिड शॉट में परिवर्तित हो जाता है।

मिड शॉट - गब्बर और तीनों डाकू। कैमरा तीनों डाकुओं के पीछे से गब्बर को दिखाता है।

गब्बर - वो दो थे और तुम तीन। (थोड़ा दूर जाता हुआ) .... फिर भी वापस आ गये, खाली हाथ।

गब्बर तीनों डाकुओं की ओर मुँह करके एक चट्टान पर बैठ जाता है।

गब्बर - क्या समझ कर आए थे कि सरदार बहुत खुस होगा, साबासी देगा, क्यों?

गब्बर बेल्ट पटक कर जोर से चिल्लाता है-

गब्बर - धिक्कार है।

क्लोज शॉट - तीनों डाकुओं की एक-एक करके प्रतिक्रिया।

कमीज की जेब से निकाल कर गब्बर खैनी मलता है और अपने पीछे पहाड़ी पर खड़े सांभा से गर्दन घुमा कर पूछता है-

गब्बर - अरे ओ सांभा, कितना इनाम रखे है सरकार हम पर?

सांभा - पूरे पचास हजार।

तीनों डाकुओं के पीछे गब्बर फ्रेम में आता है। वह खैनी खाकर थैली को जेब में रखते हुए कहता है-

गब्बर - सुना? पूरे पचास हजार।

ट्रालीशॉट के द्वारा गब्बर को केन्द्र में रख कर कैमरा तीनों डाकुओं को पैन करके दिखाता है।

गब्बर - और यह इनाम इसलिए है कि यहाँ से पचास-पचास कोस दूर गाँव में जब बच्चा रात को रोता है, तो माँ कहती है- बेटे सो जा, सो जा, नहीं तो गब्बर सिंह आ जाएगा। (जोर से)....और ये तीन हरामजादे....

तीनों डाकुओं का रिएक्शन शॉट, लटके हुए चेहरे।

गब्बर - .... गब्बर सिंह का नाम पूरा मिट्‌टी में मिलाए दिए।

क्लोज शॉट - तीनों डाकुओं की एक साथ प्रतिक्रिया।

गब्बर अपने स्थान पर खड़ा हो जाता है।

गब्बर - इसकी सजा मिलेगी। बराबर मिलेगी।

लॉग शॉट - गब्बर अपने दाईं ओर खड़े एक डाकू की ओर तेजी से बढ़ता है।

क्लोज शॉट - डाकू के पीछे से कैमरा गब्बर को फोकस करता है। गब्बर उस डाकू के कमर में घुसी हुई पिस्तौल (रिवाल्वर) निकाल लेता है।

गब्बर - कितनी गोली हैं इसके अन्दर?

डाकू घबरा जाता है। उसके मुँह से कोई आवाज नहीं निकलती है।

गब्बर - (तेज आवाज में) कितनी गोली हैं?

डाकू - छः, सरदार छः।

गब्बर पिस्तौल लेकर पलटता है।

वाइड शॉट - पहाड़ी के ऊपर से कैमरा टिल्ट डाउन करके गब्बर के पूरे अड्‌डे को फोकस करता है। गब्बर तीनों मुजरिमों के पास आकर कहता है-

गब्बर - छः गोली। (जोर से) छः गोली है इसके अन्दर।
छः गोली और आदमी तीन। (जोर से) बहुत नाइंसाफी है ये।
गब्बर हाथ ऊपर कर हवा में तीन गोलियाँ चलाता है।

क्लोज शॉट - गब्बर सिंह ऊपर उठे हाथ को धीरे-धीरे नीचे करता हुआ।

गब्बर - अब ठीक है। हाँ, अब ठीक है।

मिड शॉट - पिस्तौल लेकर आगे बढ़ता है और अपने मुजरिमों के पीछे पहुँच जाता है। फ्रेम में दो डाकू आते हैं।

गब्बर - अब इसके तीन खानों में गोली है, तीन खाली। अब हम इसको घुमाएंगे।
गब्बर पिस्तौल के चैम्बर को कई बार घुमाता है।

गब्बर - अब कहाँ गोली है, कहाँ नहीं, हमको नहीं पता।
गब्बर पीछे मुड़ते हुए जोर से चिल्लाता है-

गब्बर - हमको कुछ नहीं पता।
गब्बर आगे बढ़ता है। तीनों डाकू फ्रेम में आते हैं।

क्लोज शॉट - तीनों डाकुओं के चेहरे फ्रेम में हैं। गब्बर उनके पीछे से कैमरे की तरफ आता है। वह सांभा की ओर मुड़ कर देखते हुए कहता है-

गब्बर - इस पिस्तौल में तीन जिंदगी, तीन मौत बंद हैं। देखें किसे क्या मिलता है।
एक डाकू की कनपटी से पिस्तौल सटा कर गब्बर घोड़ा (ट्रिगर) दबाता है। गोली नहीं चलती है।

गब्बर - बच गया साला।
आगे बढ़ कर गब्बर दूसरे को मारने के लिए घोड़ा (ट्रिगर) दबाता है। इस बार भी गोली नहीं चलती है।

गब्बर - ये भी बच गया।
गब्बर तीसरे डाकू की कनपटी से रिवाल्वर सटा कर पूछता है-

गब्बर - तेरा क्या होगा कालिया?

डाकू - सरदार, मैंने आपका नमक खाया है सरदार।

गब्बर - अब गोली खा।
गब्बर घोड़ा दबाता है, लेकिन वह भी बच जाता है। गब्बर बहुत हैरान होता है।

गब्बर - (इधर-उधर देखते हुए) कमाल हो गया। (हंसता है) तीनों बच गये, ...तीनों हरामजादों को गोली नहीं लगी।

लॉग शॉट – गब्बर जोर-जोर से हँसता है। गिरोह के अन्य डाकू भी उसकी हँसी में अपनी हँसी मिलाते हैं।

कैमरा क्लोज शॉट में अलग-अलग डाकुओं को बारी-बारी से दिखाता है। बीच-बीच में वह गब्बर को हँसते हुए और तीनों मुजरिमों को भी हँसने की कोशिश करते हुए दिखाता है। गब्बर बीच-बीच में 'तीनों बच गये' दोहराता है।

गब्बर पर हँसी का दौरा पड़ता है। वह अपनी जांघों को हाथों से पीट कर जोर-जोर से हँसता है। तीनों मुजरिम भी उसकी हँसी में शामिल हो जाते हैं।

गब्बर एकदम से संजीदा हो जाता है और तीनों डाकुओं को गोली मार देता है।

लॉग शॉट – पहाड़ी से टिल्ट डाउन करके कैमरा तीनों डाकुओं को गिरते हुए दिखाता है।

क्लोज शॉट – गब्बर चेतावनी के अंदाज में कहता है।

गब्बर – जो डर गया, समझो मर गया।

गब्बर खैनी थूकता है। वह बाएं हाथ की हथेली से मुँह पोंछता है। वह दो कदम चलता है और सांभा की ओर मुँह करके पूछता है –

गब्बर – होली कब है? कब है होली? कब?

(कट टू गाँव की होली)

सामान्यतः 'शूटिंग स्क्रिप्ट' पटकथाकार के दायरे से बाहर की चीज मानी जाती है, इसलिए लेखक को बिना मतलब 'निर्देशकीय' काम में दखलंदाजी नहीं करनी चाहिए। लेकिन इसके बावजूद पटकथाकार को कैमरे के व्यवहार (एटीट्यूड) की जानकारी तो होनी चाहिए। इससे जहाँ एक ओर पटकथा में रवानी आती है, वहीं निर्देशक के लिए भी काफी सुविधा हो जाती है और फिल्म का कथ्य पूरी तरह से उभर कर सामने आ जाता है।

तकनीकी शब्दावली

पटकथा लेखन के दौरान बहुत से ऐसे पारिभाषिक एवं तकनीकी शब्दों से वास्ता पड़ता है, जिन्हें जानना व समझना एक पटकथाकार के लिए अत्यंत आवश्यक है। ये शब्द सिर्फ एक शब्द न होकर वास्तव में पटकथा के महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं, जो उसे सजाने-संवारने और चुस्त-दुरुस्त बनाने में बहुत बड़ी भूमिका निभाते हैं।

पटकथा रूपी काया को सार्थक बनाने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करने वाले ये प्रमुख बिन्दु इस प्रकार हैं-

बिम्ब

फिल्म के माहौल को बनाने और दर्शकों की रुचि को जाग्रत करने के लिए अक्सर फिल्म में बिम्बों का सहारा लिया जाता है। बिम्बों से आशय है उन मूक प्रतीकों से, जो कहानी के कथ्य को सम्प्रेषित करने के लिए उपयोग में लाए जाते हैं। जैसे प्रेम के प्रतीक के रूप में दो चिड़ियों का आपस में चोंच लड़ाना अथवा कमल के फूल में भंवरे का बंद हो जाना या मृत्यु के प्रतीक के रूप में जलते हुए दीपक का हवा के झोंके से बुझ जाना। बिम्बों द्वारा दृश्य में कलात्मकता का पुट आता है और दर्शक के मन पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। एक कुशल पटकथाकार सिर्फ प्रेम और मृत्यु ही नहीं बल्कि शर्म-हया, डर, साहस, क्रोध, निराशा, बिछोह आदि तमाम भावों को प्रकट करने के लिए बिम्बों का सहारा लेता है।

सत्यजीत रे और विमल राय दो ऐसे फिल्मकार हैं, जिन्होंने अपनी फिल्मों में बिम्बों का बहुत सुन्दर इस्तेमाल किया है। विमलराय की फिल्म 'सुजाता' में नायिका सुजाता जब पहली बार नायक से मिलती है, तब वहाँ पर बहुत सुन्दर बिम्ब का इस्तेमाल किया गया है। 'नायिका विभोर होकर पौधों को निहार रही है। नायक (सुनील दत्त) पीछे से दबे पाँव आकर कंधे पर हाथ रखते हुए हौले से कहता है, 'सुजाता'। सुजाता ने मुड़ कर देखा- लम्बा चौड़ा, सुन्दर-सजीला, पढ़ा-लिखा चरित्रवान नायक, जो उसके अभिभावकों के घर उनकी सगी बेटी से मिलने आया करता है, उसके कंधे पर अभी-अभी स्नेहिल स्पर्श करके जा चुका है। कैसी होगी उसकी मनोदशा? विमलदा ने इसका उत्तर प्रकृति में पा लिया। लाजवंती का एक पौधा झट से अपनी सारी पत्तियों को लाज में समेट लेता है।'[7]

बिमल राय की एक अन्य फिल्म 'बंदिनी' की नायिका कल्याणी विकास से प्यार करती है। विकास स्वतंत्रता संग्राम सेनानी है। उसे अपने संगठन की आज्ञा पर इंस्पेक्टर की कर्कशा लड़की से शादी करनी पड़ती है। विकास की पत्नी एक अस्पताल में भर्ती होती है। कल्याणी उसी अस्पताल में नौकरी करती है। कल्याणी को मालूम हो जाता है कि वह कर्कशा ही विकास की पत्नी है। विकास की पत्नी नायिका को बुरी तरह से डांटती है। कल्याणी गुस्से से उबल पड़ती है। वह अस्पताल की छत पर चली जाती है और सीढ़ियों पर बैठ जाती है। पीछे एक लोहे का कारखाना दिखाई देता है। कारखाने में दो व्यक्ति लोहे के एक लाल सुर्ख टुकड़े को घन से पीटते हैं। हथौड़े की चोट से लोहे से चिंगारियाँ उठती हैं। घन के द्वारा उठने वाली ठन-ठन

की ध्वनि, लोहे की उठती चिंगारियाँ नायिका के चेहरे के भावों के साथ मिल कर उसकी सम्पूर्ण मनोदशा को व्यक्त कर देती हैं।

मोन्ताज

मोन्ताज से आशय है किसी लम्बी घटना को संक्षिप्त रूप में प्रदर्शित करना। समय के लम्बे कालखण्ड को व्यतीत होते दिखाने के लिए भी मोन्ताज का सहारा लिया जाता है। समय के सन्दर्भ में इसे अलग-अलग मौसम में पैदा होने वाली फसलों को क्रमानुसार दिखा कर अथवा कैलेण्डर के पन्नों को एक के बाद एक पलटते हुए दिखा कर स्थापित किया जाता है।

कोर्ट के मुकदमों की अंतहीन प्रक्रिया को दर्शाने के लिए भी मोन्ताज का सहारा लिया जाता है। इसके अतिरिक्त मोन्ताज का जिस सन्दर्भ में सर्वाधिक प्रयोग होता है, वह है नायक-नायिका के बीच की बढ़ती हुई आत्मीयता को दर्शाने में इसके लिए। कुछ सेकेण्ड के अलग-अलग मूड व स्थान के ढ़ेर सारे पोज जैसे पार्क में टहलते हुए, एक दूसरे को उपहार देते हुए, रेस्टोरेन्ट में बैठे हुए, गाड़ी में साथ जाते हुए, बारिश में भीगते हुए आदि दिखा कर दोनों के प्रगाढ़ होते सम्बन्धों को बहुत कम समय में स्थापित कर दिया जाता है।

मोन्ताज के रूप में अक्सर निर्देशक युगल गीत का भी सहारा लेते हैं। इस तरह के गानों के प्रारम्भ में नायिका नायक से नफरत करती है, लेकिन गाना खत्म होते-होते वह दिलो-जान से नायक पर निसार हो जाती है।

बदलते हुए परिप्रेक्ष्य में अब मोन्ताज का प्रयोग अच्छा नहीं माना जाता है। इसके बदले अच्छे पटकथाकार किसी ऐसे दृश्य की परिकल्पना करते हैं, जिसके द्वारा सारी बात कह दी जाती है। फिल्म 'गाइड' में रोजी (नलिनी) को एक प्रसिद्ध नर्तकी के रूप में स्थापित करने के लिए पटकथाकार ने एक दृश्य का सहारा लिया है। उस दृश्य में एक पहाड़ी पर खड़ा गाइड उदयपुर की ऐतिहासिक इमारतों के नाम बताते हुए कहता है- ...और यह है मिस नलिनी का महल। उसी के साथ पर्दे पर एक आलीशान महल दिखाई पड़ता है। इस छोटे से दृश्य द्वारा पटकथाकार बड़ी आसानी से मिस नलिनी को विख्यात नर्तकी के रूप में स्थापित कर देता है। मोन्ताज की तुलना में यह दृश्य ज्यादा प्रभावी लगता है।

सीक्वेन्स

किसी एक ही घटना से सम्बन्धित दृश्य जब लगातार दिखाए जाते हैं, तो उसे दृश्यमाला (सीक्वेन्स) का नाम दिया जाता है। सीक्वेन्स कई प्रकार के हो सकते हैं- यात्रा के, मुकदमे के, दंगा-फसाद के, युद्ध के आदि-आदि। ज्यादातर यादगार फिल्मों

में ऐसे सीक्वेन्स जरूर देखने को मिलते हैं। फिल्म 'उसके बाद' में दंगों के, 'तीसरा पत्थर' में भगवती द्वारा अपने देवर को बदला लेने के लिए प्रेरित करने के, 'ब्रीफ इन्काउन्टर' में नायक-नायिका की प्रगाढ़ता के, शोले में जय और वीरू के जेल से भागने के, 'दिलवाले दुल्हनियाँ ले जाएंगे' में विवाह सम्बन्धी दृश्यों के, 'आँखें' में बैंक डकैती के सुन्दर सीक्वेन्स फिल्माए गये हैं। सीक्वेन्स हमेशा किसी महत्त्वपूर्ण घटना से जुड़े होते हैं और अक्सर ये फिल्म की कहानी को गति प्रदान करने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

कंट्रास्ट

लगातार एक जैसा खाना खाते रहने से, भले ही वह कितना अच्छा क्यों न हो, कोई भी ऊब सकता है। इसी प्रकार जब फिल्मों में लगातार एक जैसे दृश्य आते रहते हैं, तो उससे ऊब पैदा होने का खतरा उत्पन्न हो जाता है। इस सम्भावित ऊब को दूर करने के लिए उसके बीच में दूसरे भाव (मूड) के दृश्यों का समावेश किया जाता है। पटकथा की शैली में इसे ही कंट्रास्ट कहा जाता है। फिल्म 'तीसरा पत्थर' में भगवती के उककाने पर जब उसका देवर डाकू बन जाता है, तो लगातार उसके बदला लेने और पुलिस से बचने के दृश्य हैं। ऐसे ही एक दृश्य में जब वह अपनी गोली निकलवाने के लिए अपनी बहन के घर शरण लेता है, तो फ्लैश बैक में उसकी पत्नी के साथ का एक दृश्य डाल कर कंट्रास्ट पैदा किया गया है।

फिल्म 'दस्तक' के नायक-नायिका जब गलती से वेश्याओं के मुहल्ले में किराए का कमरा ले लेते हैं, तो उन्हें किस तरह की परेशानियों का सामना करना पड़ता है, उसके लगातार एक से दृश्य हैं। उन दृश्यों के बीच में कंट्रास्ट पैदा करने के लिए बीच-बीच में नायक के ऑफिस की स्टेनो के दृश्य डाले गये हैं।

घटनाओं के अलावा परस्पर विरोधी पात्रों की जोड़ी बना कर तथा दृश्य निर्धारण में दिन-रात, कमरे के अंदर एवं बाहर (इनडोर/आउटडोर) तथा सुखद एवं दुखद दृश्यों का संयोजन करके भी पटकथा में कंट्रास्ट पैदा किया जाता है।

इंटर कटिंग

कहानी में जब दो या दो से अधिक घटनाएँ एक ही समय में घटती हैं, तो उन समस्त घटनाओं को दिखाने के लिए एक दृश्य को बीच में रोक कर दूसरे दृश्य के हिस्से दिखाए जाते हैं। इस क्रिया को इंटरकटिंग के नाम से जाना जाता है। इंटर कटिंग के दो प्रमुख फायदे हैं। पहला यह कि इससे काफी समय की बचत हो जाती है, दूसरे अलग-अलग घटनाएँ इंटरकट करने के कारण दृश्य में कंट्रास्ट भी पैदा होता है।

'दीवार' फिल्म में सामंत और उसके साथियों के फोन टेप करने के दौरान जब रवि को पता चलता है कि डाबर का आदमी जयचंद माल लेने के लिए अपने होटल से निकलने वाला है, तो रवि उसे पकड़ने के लिए जीप से होटल की ओर जाता है। यहाँ पर कंट्रास्ट का सुंदर प्रयोग है। एक ओर जयचंद को तैयार होकर निकलते हुए दिखाया जाता है, तो दूसरी ओर रवि को जीप से होटल की ओर आते हुए दिखाया जाता है। हॉलीवुड की फिल्म 'कान्सटैन्टाइन' के चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स) में नायक जॉन द्वारा आत्महत्या करने और गैबरिया द्वारा शैतान के बेटे मैमान, जोकि इंजेला के शरीर में कब्जा कर लेता है, को मारने के दृश्य इंटर कंटिग द्वारा दिखाए गये हैं।

इंटर कटिंग का अगर किसी फिल्म में बहुत सुन्दर प्रयोग किया गया है, तो वह है 'स्टार्स वार्स' (पार्ट-1)। फिल्म के चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स) में एक ओर जड़ा योद्धा कोएगान अपने शिष्य के साथ नाबू ग्रह पर कब्जा करने वाले व्यापार महामंघ के प्रतिनिधि से लेजर गन द्वारा लड़ता है। दूसरी ओर, नाबू की रानी एमीडारा अपनी सुरक्षा टुकड़ी के साथ रोबोट सेना से लड़ते हुए महल के नियंत्रण कक्ष (कंट्रोल रूम) की ओर बढ़ती है। तीसरी ओर, मास्टर एनीकिन एक युद्धक विमान में बैठ कर जाने-अनजाने दुश्मनों पर गोलियाँ बरसाता है। चौथी ओर, पानी के अंदर रहने वाले प्राणी गंगनों की सेना वायसराय की रोबोट सेना से लोहा लेती है और पांचवी ओर, वायसराय अपनी जान बचाने के लिए महल में इधर से उधर भागता है। जब ये पाँचों दृश्य आपस में इंटर कट करके दिखाए जाते हैं, तो पर्दे पर एक जबरदस्त प्रभाव उत्पन्न होता है।

फ्लैश बैक/फ्लैश फारवर्ड

वर्तमान में बैठा कोई व्यक्ति जब किसी पुरानी घटना को याद करता है, तो उस घटना को दिखाने की क्रिया फ्लैश बैक के नाम से जानी जाती है। इसी प्रकार, जब कोई व्यक्ति भविष्य का सपना देखता है, तो उस सबके दर्शाने की प्रक्रिया को फ्लैश फारवर्ड के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि फ्लैश बैक दिखाने से कहानी की गति में बाधा आती है, जबकि कुछ लोगों का तर्क है कि फ्लैश बैक फिल्म का अहम हिस्सा है। कुछ फिल्में तो पूरी तरह से फ्लैश बैक को आधार बना कर ही रची गयी हैं। इस तरह की फिल्मों में कहानी अंतिम दृश्य या चरमोत्कर्ष (क्लामेक्स) से शुरू होती है और फिर फ्लैश बैक में जाकर प्रारम्भ से लेकर अंत तक की कहानी दिखाते हुए वापस उसी जगह पर लौट आती है, जहाँ से शुरू हुई थी। इस तरह की फिल्मों में

'नाम', 'आखिरी रास्ता', 'दिल चाहता है', 'द लीजेन्ड आफ भगत सिंह' और 'वीर जारा' आदि के नाम गिनाए जा सकते हैं, जो अपने समय की हिट फिल्में हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ फिल्मों में से एक 'दीवार' और 'मुगले आजम' भी फ्लैश बैक से ही प्रारम्भ होती हैं। इसलिए यह कहना कि फ्लैश बैक का प्रयोग कहानी की गति को रोकता है, पूरी तरह से सही नहीं प्रतीत होता है।

सेट–अप / पे–ऑफ

जब फिल्म के अंत में नायक/नायिका कोई असाधारण कार्य करता है, जैसे नायिका द्वारा गोली चलाना, फाइट करना, हेलीकॉप्टर उड़ाना आदि, तो उस कार्य को तर्कपूर्ण साबित करने के लिए फिल्म के प्रारम्भ में ऐसे दृश्य रखे जाते हैं, जिसमें नायक/नायिका को उसी कार्य को करते हुए दिखाया जाता है। यदि नायिका फिल्म के अंत में गुण्डों की धुनाई करती है और युद्ध में हीरो को बचाती है, तो फिल्म के शुरू में भी उसे उसी कार्य को करते हुए दिखाना जरूरी होता है। फिल्म के प्रारम्भ में जब इस तरह की कोई घटना दिखाई देती है, तो उसे 'सेट अप' कहते हैं। जब बाद के दृश्य में उस घटना से जुड़ा कोई उपयोग आता है, तो उसे 'पे-ऑफ' कहा जाता है। फिल्म 'दीवार' में विजय जब बचपन में सामंत के जूतों की पॉलिश करते समय फेंके हुए पैसे नहीं उठाता है, तो वह उसके व्यक्तित्व से जुड़ा एक सेट-अप तैयार होता है। बाद में जब डाबर विजय को अपने गैंग में शामिल कर लेता है और फेंक कर उसे पैसे देता है, तो विजय उसी बात को दोहराता है। इस प्रकार यह पहले की घटना का पे-ऑफ होता है। 'दीवार' में इस तरह के बहुत से सेट-अप/पे-ऑफ इस्तेमाल किये गये हैं।

फिल्म 'हम हैं कमाल के' के क्लाइमेक्स में जब नायक मुश्किल में फंस जाता है, तो नायिका वहाँ आ जाती है और गुण्डों की पिटाई करती है। इस घटना का सेट-अप फिल्म के प्रारम्भ में ही उसे गुण्डों से उलझते हुए और उनकी पिटाई करते हुए दिखाता है। इसी प्रकार 'उमराव जान' फिल्म में दरोगा का पड़ोसी दिलावर खान दरोगा से अपनी दुश्मनी निकालने के लिए उसकी बेटी अमीरन का अपहरण कर लेता है और तवायफों के मोहल्ले में ले जाकर 250 रु० में बेच देता है। दर्शक सोचेगा कि भला 250 रुपयों की क्या बिसात है? इसलिए इन 250 रुपयों की असल कीमत दिखाने के लिए फिल्म के प्रारम्भ में ही एक दृश्य रखा गया है। इस दृश्य में दिलावर दरोगा का कबूतर पकड़ लेता है। जब दरोगा उससे कबूतर मांगने जाता है, तो उसके बदले में 'आठ आने' मांगता है। इस पर दरोगा कहता है- 'आठ आने में तो छः कबूतर मिलते हैं।' इससे दर्शक को यह समझ में आ जाता है कि कहानी उस दौर की है, जब आठ आने (पचास पैसे) में छः कबूतर मिला करते थे।

मैलोड्रामा

जब किसी एक ही बिन्दु पर दो या दो से अधिक लोगों की इच्छाएं टकराती हैं, तो वहाँ पर संघर्ष पैदा होता है। इस संघर्ष के फलस्वरूप जो घटनाएँ जन्म लेती है, उसे ड्रामा कहते हैं। जब किन्हीं पात्रों के बीच में भावनाओं का संघर्ष अपने उफान पर पहुँच जाता है और मामूली से मामूली बात इतनी गहरी हो जाती है कि उसमें समाज और संस्कृति की झलक मिलने लगती है, तो वह मैलोड्रामा बन जाता है। मैलोड्रामा में जज्बात की इंतेहा होती है। उसकी बात में इतनी गहराई आ जाती है कि वह सीधे दिल पर असर करती है। मैलोड्रामा में सामाजिक और सांस्कृतिक जुड़ाव के कारण उसमें महाकाव्यात्मक पुट आ जाता है।

मैलोड्रामा की एक और खास बात यह है कि उसमें पात्र का समूचा चरित्र, उसकी सोच, समस्त आकांक्षाएं, यहाँ तक की उसके मन की सारी 'क्राइसिस' प्रतिबिम्बित होने लगती है। मैलोड्रामा अपने समय के सापेक्ष होता है और वह बदलते वक्त के साथ बदलता रहता है। 'दीवार' फिल्म में 'मेरे पास माँ है' मैलोड्रामा का अच्छा उदाहरण है, लेकिन उस दृश्य को यदि आज फिल्माया जाय, तो उतना प्रभावी नहीं रहेगा क्योंकि आज समाज में रिश्तों की जगह रुपयों ने ले ली है। इसलिए उस तरह के दृश्य आज के परिप्रेक्ष्य में उतने प्रभावी नहीं हो पाएंगे।

राजनीतिक विसंगतियों पर केन्द्रित 'गॉड मदर' में मिथकीय प्रतीकों का सहारा लेकर लेखक ने मैलोड्रामा का एक प्रभावी रूप उकेरा है। फिल्म की नायिका रांभी एक नेता है। वह एक गुजराती लड़की का विवाह मुस्लिम लड़के से करा देती है। इससे नाराज होकर रांभी की जाति के लोग उसके खिलाफ हो जाते हैं और एक सभा का आयोजन करते हैं। रांभी सभास्थल पर पहुँच जाती है और स्वयं को सीता और लक्ष्मण रेखा से जोड़ते हुए अपने मन के उद्गार व्यक्त करती है। उसके मन की पीड़ा, दिल की गइराई से निकले संवाद और मिथ का सामंजस्य ऐसा असर डालते हैं कि आग उगल रही जनता शान्त हो जाती है और सभी के सिर शर्म से झुक जाते हैं।

'मुगले आजम' में सलीम के विद्रोह के कारण अकबर के लड़ाई पर जाते समय का दृश्य, सलीम द्वारा फांसी चढ़ने के लिए जाते समय माँ से मिलने का दृश्य, 'दीवार' में रवि द्वारा विजय से साइन मांगने का दृश्य, रवि द्वारा विजय का घर छोड़ देने के बाद पुल के पास मिलने वाला दृश्य व विजय द्वारा मंदिर में भगवान से माफी मांगने का दृश्य मैलोड्रामा के अच्छे उदाहरण हैं।

सन्दर्भ सूची

१. संकलित साक्षात्कार, 'टेलीविजन लेखन', पृष्ठ-६२
२. वही, पृष्ठ-८७
३. भूमिका, 'तीसरा पत्थर' (पटकथा)
४. 'टेलीविजन लेखन : सिद्धान्त और प्रयोग', पृष्ठ-२८
५. 'टेलीविजन लेखन', पृष्ठ-५५
६. 'चलचित्र : कल और आज', पृष्ठ-६५
७. कृष्ण राघव, हिन्दी साहित्य और सिनेमा का अन्तर्सम्बन्ध : एक आकलन, 'अक्षरा', मई-जून, २००५, पृष्ठ-१६

अध्याय-5

संवाद की गरिमा

यूं तो संवाद और पटकथा लेखन दोनों एक दूसरे के बिना अधूरे हैं, लेकिन इसके बावजूद फिल्मों में पटकथा अलग लिखी जाती है और संवाद अलग। ऐसा सिर्फ हिन्दी फिल्मों में ही होता है। इसके पीछे मान्यता यह है कि जो व्यक्ति संवाद अच्छे लिख सकता है, वह जरूरी नहीं कि पटकथा भी अच्छी लिख पाए। या जो व्यक्ति अच्छा पटकथाकार हो, आवश्यक नहीं कि वह अच्छे संवाद भी लिख लेता हो। लेकिन यदि इसकी गहराई में जाया जाए, तो जो बात निकल कर आती है, उसके अनुसार 'मुम्बई फिल्म इंडस्ट्री की शुरुआत जिन लोगों ने की, वे सभी टेक्निकल लोग थे। हिन्दी भाषा से उनका दूर-दूर तक कोई वास्ता नहीं था। इसीलिए फिल्म की स्क्रिप्ट, जोकि एक टेक्निकल चीज है, को तो उन्होंने लिख लिया, डायलाग के लिए हिन्दी के जानकारों की मदद लेनी पड़ी। धीरे-धीरे यह एक ट्रेडीशन सा बन गया, जो आज तक चला आ रहा है।'[1]

बावजूद इसके फिल्मी दुनियाँ में ऐसे बहुत से लेखक हुए हैं, जिन्होंने पटकथा और संवाद लेखन दोनों कार्य सफलतापूर्वक निभाये हैं। संवाद, यानी कि एक व्यक्ति का दूसरे से संचार। अर्थात् एक व्यक्ति द्वारा अपने मनोभावों को दूसरे तक पहुँचाना। तो क्या इसके लिए सिर्फ शब्द ही एकमात्र सहारा है? नहीं। 'बहुत सी बातें ऐसी होती है, जो बिना कहे कह दी जाती है। इसीलिए अच्छे राइटर्स का मानना है कि जो बात बॉडी लैग्वेंज या हिंट्स के जरिए कहीं जा सकती है, उसके लिए लफ्जों को जाया नहीं करना चाहिए।'[2]

कुशल पटकथाकार जावेद अख्तर अपनी पटकथाओं में प्रयुक्त पात्रों के बारे में बताते हुए कहते हैं- 'हमारे किसी भी हीरो ने कभी भी अपनी किसी महबूबा से नहीं कहा कि वो उससे प्यार करता है या उसे प्यार हो गया है। इसी तरह, हमारी किसी भी फिल्म में हमारा कोई भी किरदार खलनायक से यह नहीं कहता कि वो उससे नफरत करता है। कहने का मतलब ये है कि हमारे यहाँ कभी भी किसी भी जज्बात का सीधे-सीधे इजहार नहीं किया गया, सिर्फ जज्बात की ओर इशारा किया गया है।'[3]

किसी महत्वपूर्ण दृश्य में जब बिना शब्दों का सहारा लिये कोई बात कह दी जाती है, तो उससे उस दृश्य का प्रभाव कई गुना बढ़ जाता है। उदाहरण के लिए

'दीवार' का वह दृश्य, जिसमें इंस्पेक्टर रवि अपनी माँ को यह बताने के लिए जाता है कि उसका पिता नहीं रहा। उस दृश्य में रवि की माँ आईने के सामने खड़ी होकर माथे पर बिन्दी लगा रही होती है। बिन्दी लगाने के बाद जैसे ही वह अपनी माँग में सिन्दूर लगाने के लिए डिब्बी उठाती है, रवि उसके हाथ से डिब्बी गिरा देता है और उसकी बिन्दी पोंछ देता है। माँ कहती है, 'नहीं, ऐसा मत कहना रवि' और वह अपने बेटे से लिपट कर रोने लगती है।

फिल्म 'मुगले आजम' में महल की एक सेविका बहार जब अकबर से सलीम और अनारकली की चुगली कर देती है, तो अकबर उसकी पुष्टि के लिए सलीम के महल में जाता है। अन्दर महल में सलीम अपनी महबूबा अनारकली के प्यार में खोया रहता है। पहरेदार की उद्घोषणा सुन कर उसके रंग में भंग हो जाता है। अनारकली वहाँ से घबरा कर भागती है, लेकिन रास्ते में ही उसे अकबर मिल जाता है। अनारकली पुनः सलीम की तरफ भागती है और सलीम से लिपट जाती है। अकबर जलती हुई नजरों से दोनों लोगों को घूरता है। अनारकली, अकबर का जलाल बर्दाश्त नहीं कर पाती और बेहोश होकर गिर जाती है। उसके बाद अकबर बिना कुछ कहे वहाँ से चला जाता है। इस पूरे दृश्य में अकबर, सलीम और अनारकली कोई लफ्ज इस्तेमाल नहीं करते हैं और यही इस दृश्य की विशेषता है। अगर फिल्मकार ने इस दृश्य में शब्दों का सहारा लिया होता, तो शायद यह दृश्य इतना प्रभावी न बन पाता, जितना बन गया है।

इसी प्रकार 'शोले' में जय और ठाकुर की विधवा की बहू राधा के बीच की भावनाओं को दर्शाने के लिए भी मूक दृश्यों (साइलेंट साट्स) का सहारा लिया गया है। जय सिर्फ उसे देखता है और माउथ आर्गन बजाता रहता है और इसके बावजूद राधा के 'दिल' तक उसकी 'दस्तक' पहुँच जाती है। फिल्म के दृश्य में जब गब्बर किसी बंजारे से गोला-बारूद खरीदने जाता है, तो जय और वीरु उस पर हमला करते हैं, जिसमें गब्बर भागने में कामयाब हो जाता है। जय को काफी चोट लगती है। वह वीरु के साथ वापस लौटता है। तभी ठाकुर की बहू राधा उसे देख लेती है। जय को घायल देख कर राधा एकदम से बदहवाश होकर उसके पास जाने लगती है। रास्ते में उसे ठाकुर मिल जाता है और वह वापस लौट जाती है।

संवाद लेखन एक सधा हुआ श्रमसाध्य कार्य है। इसमें न सिर्फ उचित शब्दों का चुनाव करना होता है बल्कि बहुत सारी छोटी-छोटी बातों पर ध्यान रखना जरूरी होता है। कहा भी गया है कि संवाद सदैव 'देखन में छोटे लगें, घाव करें गम्भीर' वाली तर्ज पर लिखे जाने चाहिए। इससे जहाँ समय का सही उपयोग होता है, वहीं वह

दर्शकों (ऑडियन्स) को बांधने में भी सहायक होता है। पात्र विशेष द्वारा तकिया कलाम के रूप में भी कोई आकर्षक शब्द/वाक्य भी प्रयोग में लाया जा सकता है। ...इसके अतिरिक्त ऐसे संवादों से भी सख्त परहेज करना चाहिए, जो किसी विशेष वर्ग को अपमानित करने वाले हों अथवा द्विअर्थी भाव रखते हों'[4]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है 'संवाद के लिए शब्द बहुत आवश्यक नहीं। फिल्मों में शब्दों का इस्तेमाल बहुत सोच समझ कर करना चाहिए। इस बात को कुछ इस तरह से भी कहा जा सकता है कि फिल्म के माध्यम में जितने कम शब्दों के जरिए जितना ज्यादा कहा जाय, उतना ही अच्छा नतीजा निकलता है। शब्दों के स्थान पर यदि संकेतों को प्रयोग में लाया जाय, तो फिर कहना ही क्या!'[5]

संबाद का महत्त्व

संवाद के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ0 विश्वनाथ मिश्र कहते हैं- 'संवाद ही नाटक (और फिल्म) का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्व है। संवाद ही घटनाक्रम को गतिशील बनाते हैं, विभिन्न चरित्रों की विशेषताओं को उद्घाटित करते हैं, देशकाल की व्यवस्था का भी संकेत देते हैं, अलग-अलग चरित्रों के साथ अलग-अलग प्रकार की अभिव्यंजना प्रणाली प्रकाश में लाते हैं, एक चरित्र को भी परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों में पृथक-पृथक ढ़ंग से बोलते हुए दिखाते हैं।'[6]

संवाद की उपरोक्त भूमिका फिल्म में आकर थोड़ी संक्षिप्त हो जाती है। फिल्म के सन्दर्भ में 'संवाद के मुख्यतः दो काम हैं। पहला, कहानी को व्यक्त करना। दूसरा, पात्रों के चरित्रों को उजागर करना। साहित्य की कहानी में जो शब्द काम करते हैं, चलचित्र में चित्रों और शब्दों के हेल-मेल से यह काम होता है। यहां परिवेश वर्णन के लिए शब्दों की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती, चित्र ही इस कार्य को सम्पन्न करते हैं। प्राकृतिक-पक्ष भी चित्रों द्वारा प्रकट हो जाता है। प्रकृति से सम्बन्धित पक्ष कुछ तो अभिनेताओं की भाव-भंगिमा के माध्यम से और बाकी उनके संवाद से प्रकट हो जाता है। चित्रों के माध्यम से जो कहना संभव नहीं, संवाद में सिर्फ उसी को कहना चाहिए।'[7]

इसके अतिरिक्त संवादों का एक अन्य कार्य भी है और वह कार्य है पात्र की भावना को उजागर करना। जिस प्रकार अलग-अलग व्यक्तियों को बोलने की शैली में फर्क होता है, उसी प्रकार एक ही व्यक्ति अलग-अलग मूड में न सिर्फ अलग-अलग तरह के संवादों का प्रयोग करता है बल्कि उसके बोलने का लहजा भी काफी हद तक बदल जाता है। एक कुशल पटकथाकार यह जानता है कि 'यथार्थ जीवन में आदमी एक ही वक्तव्य को भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न भाषा में

व्यक्त करते हैं। एक ही बात को आलस्य के क्षण में एक तरह से, कर्मरत अवस्था में दूसरी तरह से, यहाँ तक कि गर्मियों में स्वेद कणों से भीगे रहने पर एक तरह से और सर्दियों में ठिठुरती हालत में दूसरी तरह से कहते हैं। निश्चिंतता की अवस्था में आदमी के शब्द विलम्बित हुआ करते हैं, उत्तेजना की हालत में उसके शब्द टूट जाया करते हैं... वाक्य निःश्वासों के अन्तराल से ऊपर की ओर उठते हैं।'[8]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि 'संवाद' सिर्फ अपनी बात को कहने का जरिया भर नहीं, व्यक्ति की अनुभूति की गहराइयों से परिचित कराने का एक सशक्त माध्यम भी हैं।

स्वाभाविकता पर बल

एक समय वह भी था, जब फिल्मों में नौटंकी की तरह लच्छेदार संवादों का चलन था। फिल्म के संवाद अपनी बुनावट के कारण 'स्टेज प्ले' के संवादों के काफी करीबी थे, किन्तु अब स्थिति इसके एकदम उलट है। ऐतिहासिक फिल्मों को छोड़ कर अब ज्यादातर फिल्मों के संवाद ऐसे होते हैं, जैसे झरने से झरता हुआ नदी का स्वच्छ जल। न ही उसमें अलंकारों और विशेषणों की कोई मिलावट और न ही क्षेत्रीय बोली के बिगड़ैल स्वरूप की गंदगी। फिल्मों के संवाद देख कर ऐसा लगता है, जैसे ये हमारे और आपके बीच के ही व्यक्ति हैं, जो वहाँ से उठ कर पर्दे पर विराजमान हो गये हैं।

गुलजार के अनुसार– 'सामाजिक फिल्मों में पता नहीं लगना चाहिए कि डॉयलाग बोला जा रहा है। सहल (सहज) लगना चाहिए। इसलिए मैं ऐसे लिखता हूँ, जैसे आप लोग बोलते हैं। वाक्यों में कंस्ट्रक्शन बदल देता हूँ। स्वाभाविक विराम (पॉज) डालता हूँ। आम बोलचाल की जबान रखता हूँ, तब डॉयलाग पता नहीं चलता। और, कभी ज्यादा नहीं कहता। ज्यादा लफ्फाजी असर कम कर देती है।'[9]

फिल्म 'दिल चाहता है' में तीन दोस्त (आकाश, समीर और सिद्धार्थ) घूमने के लिए गोवा जाते हैं। वहाँ उन्हें दीपा मिलती है। दीपा आकाश से इकतरफा प्यार करती हैं, लेकिन आकाश उससे दूर भागता है। एक जगह पर सिद्धार्थ दीपा को समझाता है–

सिद्धार्थ ➢ कभी-कभी सोचता हूँ कि कोई किसी को क्यों चाहता है? क्यों चाहती हो उसे?

दीपा ➢ ये मैं नहीं जानती। बस चाहती हूँ।

सिद्धार्थ ➢ ये जानते हुए भी कि आकाश.....

दीपा ➢ .... मुझे नहीं चाहता। हाँ, फिर भी।

सिद्धार्थ ➢ दीपा, तुम इतनी खूबसूरत हो, इंटेलिजेन्ट हो। तुम्हें तो हजारों लड़के मिल...

दीपा ➢ (रोष में) ....अगर मैं इतनी अच्छी हूँ तो मुझे आकाश क्यों नहीं मिल सकता?

सिद्धार्थ ➢ ये मैं नहीं जानता। हाँ, इतना जरूर जानता हूँ कि कल तुम्हें अगर कोई मुसीबत हो, तो आकाश तुम्हारे लिए जो कर सकता है, करेगा। ...दीपा, ऐसी उम्मीद ही नहीं करनी चाहिए, जो... (हाथ में समुद्र की रेत लेकर) ...अब इस रेत को देख रही हो। जितनी कोशिश करो इसे ज्यादा पकड़ने की, उतनी ही उंगलियों के बीच से निकल जाती है।

कुशल पटकथाकार वह है, जो साधारण सी बात में भी बड़ी बात कह जाए और वह बात भी ऐसी हो कि उसमें कहीं से भी बनावटीपन न झलके।

'शोले' की नायिका बसंती अपने पहले दृश्य में ही जब स्टेशन पर जय और वीरु में मिलती है, तो कहती है-

बसंती ➢ हाँ बाबूजी, कहाँ जाओगे? बेलापुर, नामपुर, फतेहगढ़, रामगढ़? कहाँ जाना है, बोलो? ...अरे, क्या कभी तांगा नहीं देखा पहले? ये गाँव-खेड़ा है साहब, यहाँ मोटर गाड़ी नहीं मिलेगी कि बैठे और गर्र-र्र से चल दिये। यहाँ तो बसंती का तांगा ही चलता है। देखो, मुझे बेफिजूल की बात करने की आदत तो है नहीं। चलना है तो बोलो चलना है...

जय ➢ (बीच में बात काट कर) अरे भई, हमको तो चलना है।

बसंती ➢ नहीं चलना है तो ठीक है। कोई बात नहीं। अब बसंती से कोई दुश्मनी तो नहीं हो जाएगी। तुम बाहर निकले, तो मैने सोचा कि तांगा करोगे, तो पूछा लिया। अब कोई जबरदस्ती का सौदा तो है नहीं। बैठे-बैठे, नहीं बैठे-नहीं बैठे। अरे ये तो बसंती का तांगा है, किसी जमींदार की बेगारी थोड़े ही, मर्जी न मर्जी करना ही पड़े।

बसंती एक ऐसी लड़की है जो बहुत ज्यादा बक-बक करती है, लेकिन फिर भी उसे गुमान है कि वह 'बेफिजूल' की बात नहीं करती। यही उसके चरित्र की प्रमुख विशेषता है। इसके अलावा वह अपनी बातों को प्रभावी बनाने के लिए बीच-बीच में उपमा भी देती रहती है, जिससे उसकी बक-बक में भी एक प्रकार का आकर्षण आ जाता है।

'मुन्नाभाई एम.बी.बी.एस.' में एक प्रसंग है, जब मुन्नाभाई के बाबू जी गाँव से शहर आते हैं। स्टेशन पर एक जेबकतरा उनके ऊपर हाथ साफ कर देता है, लेकिन वह पकड़ा जाता है। भीड़ उसे मारने को उतावली हो जाती है। तब बाबूजी उससे कहते हैं-

बाबूजी ➢ बोल, कर दूँ इनके हवाले? जानता है ये कौन हैं? ये हमारे देश की जनता है, जनता। इनके चेहरे देखे हैं? कितने गुस्से में हैं। कोई बीवी से लड़ कर आया है, किसी का बेटा उसकी बात नहीं सुनता, किसी को अपने पड़ोसी की तरक्की से जलन है, कोई मकान-मालिक के ताने सुन कर आया है। सरकार के भ्रष्टाचार से लेकर क्रिकेट की हार तक हर बात से नाराज हैं ये, लेकिन सब चुप हैं। किसी के मुंह से आवाज नहीं निकलती। और यह सारा गुस्सा तुझपे निकालेंगे।

देखा जाए तो यह संवाद किसी 'नाटक' सा एहसास देता है, जहाँ पर अभिनेता लच्छेदार भाषणों का प्रयोग करते हैं, लेकिन इस संवाद में आम जनता की भावनाओं का उल्लेख कर इसे एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान कर दिया गया है। इसकी वजह से यह संवाद पात्र की विशेषता बन जाता है और बोर नहीं करता।

इस नजरिए से देखा जाए, तो फिल्म और धारावाहिक के संवादों में काफी फर्क है। फिल्म में जहाँ कम से कम संवाद का सहारा लिया जाता है, वहीं धारावाहिक में संवाद ही सब कुछ है। वहाँ पर बात बिना बात, बेबात की बात और बात से बात निकालने की तर्ज पर चलना पड़ता है। टी.वी. स्क्रीन छोटा होने के कारण उसमें कैमरे का सीमित प्रयोग ही हो पाता है। अतः कैमरे की कारीगरी वाला बोझ भी संवादों के सिर आ मढ़ता है। इसके अलावा घर की 'चिक-चिक' के बीच दर्शकों का ध्यान भंग न हो, इसलिए पात्रों को काफी 'ऊंचा सुर' साधना पड़ता है। बातों के मामले में यहाँ पर पुरुष भी महिलाओं के कान काटते नजर आते हैं। इसी कारण टी.वी. में नाटकों की तरह चुटीले, लच्छेदार और ऊंची टोन वाले संवाद प्रयोग में लाए जाते हैं।

पात्रानुकूल / समयानुकूल भाषा

किसी भी फिल्म की कहानी एक समय विशेष की दास्तां बयान करती है, इसलिए संवाद लेखन में इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है कि उसमें उस कालखण्ड के दौरान प्रयोग में लाई जाने वाली भाषा का ही इस्तेमाल किया जाए। 'मुगले आजम' इसका एक बेहतरीन उदाहरण है, जिसके सभी पात्र अपनी शब्दावली में न सिर्फ उर्दू भाषा का इस्तेमाल करते हैं बल्कि उनके लफ्जों में एक शाही खनक भी मौजूद है, जो सिर्फ रजवाड़ों में ही मिलती है-

बहार ➢ (सलीम से) कनीज को खंजर की लापरवाही पर हैरत है और अपनी बदनसीब जिंदगी से शिकायत है। साहबे आलम, गुस्ताख खंजर को सुरखुरू होने का एक मौका और दीजिए, कनीज के सीने में काफी खून है।

X X X

अकबर ➢ उसे (अपने दिल को) तड़पने दीजिए, रोने न दीजिए क्योंकि सब माएं अगर आप ही की तरह रो पड़ीं, जिनके बच्चे आपके बेटों के साथ मैदाने जंग में हैं, तो हिन्दुस्तान आंसुओं में डूब जाएगा।

X X X

संगतराश ➢ तो फिर मैं एक ऐसा बुत बनाऊंगा, जिसके कदमों में सिपाही अपनी तलवार, शहंशाह अपना ताज और इंसान अपना दिल निकाल का रख दें।

कोई भी व्यक्ति जिस तरह के माहौल और संस्कारों के बीच पलता-बढ़ता है, वह उसी के अनुरूप ढ़ल जाता है और न सिर्फ वैसी ही गतिविधियां करता है बल्कि अपनी जबान द्वारा वैसी ही शब्दावली का प्रयोग भी करता है। इसी बात को हम इस तरह से भी कह सकते हैं कि किसी व्यक्ति की बातों के द्वारा उसके संस्कारों और चरित्र का आसानी से पता लगाया जा सकता है।

फिल्म 'उमराव जान' में एक महिला दलाल द्वारा दूसरी महिला दलाल के बीच खरीदारी का माहौल कुछ इस तरह से सजाया गया है-

महिला ग्राहक ➢ ये वाली कितने में पटेगी?

महिला विक्रेता ➢ एक तोड़ा।

महिला ग्राहक ➢ एक तोड़ा? तेरे यार ने भी देखा है कभी? हजार रुपये होते हैं उसमें। माएजादी, हमें चराने चली है?

महिला विक्रेता ➢ अरे बुआ, तुम तो बिगड़ गयीं।

महिला ग्राहक ➢ अए हए, बिगड़ने की तो बात ही है। छत्तीसियों को महलों में पहुँचा चुकी हूँ। 500 के ऊपर बात कभी गयी ही नहीं।

ये दोनों महिलाएँ लड़कियों को खरीद कर कोठों पर पहुँचाने का काम करती हैं, इसीलिए इनकी बातचीत में ऐसे लफ्जों का इस्तेमाल हुआ है, जो तवायफों के कोठों पर इस्तेमाल में लाए जाते हैं।

'उमराव जान' के ही एक दृश्य में नवाब सुल्तान उमराव जान से बैठे गाना सुन रहे होते हैं, तभी वहाँ पर सलीम खान नाम का एक मवाली आ जाता है। दोनों में नोंक-झोंक हो जाती है। यह देख कर उमराव जान वहाँ से जाने लगती है। सलीम खान उमराव का हाथ पकड़ लेता है। यह देख कर नवाब सुल्तान उसे हाथ छोड़ने के लिए कहता है-

नवाब सुल्तान ➢ हाथ छोड़ दीजिए खां साहब।

सलीम खान ➢ देखें तो कौन भड़वा हाथ छुड़ाने की जुर्रत कर सकता है।

नवाब सुल्तान ➢ जबान संभाल के बात कीजिए। शायद आपने शरीफों की सोहबत नहीं उठाई?

सलीम खान ➢ (हंसते हुए) तुमने तो बहुत शरीफों की सोहबत उठाई है न, जो कुछ करना है कर लो।

नवाब सुल्तान ➢ जनाबे बीबी की कसम, वालदैन की इज्जत का ख्याल है, वर्ना मजा चखा देता अभी।

सलीम खान ➢ रंडी के कोठे पर आते हो और अम्मी जान से डरते हो?

सलीम खान एक मवाली है, इसलिए वह उसी तरह की भाषा का इस्तेमाल करता है। घटिया शब्दावली उसे एक विशिष्टता प्रदान करती है और उस दृश्य में एक अलग रंग भरती है।

आम आदमी को जीवन के गलियारों से उठा कर डाकुओं के रूप में दर-दर भटका देने की कहानी 'तीसरा पत्थर' की मुख्य नायिका भगवती, जिसका पति जेल में बंद है, हर समय बदले की आग में जलती रहती है। उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य है लालाराम की मौत, जिसके लिए वह पल-प्रतिपल अपने देवर फौजदार सिंह को उकसाती रहती है। भगवती का चरित्र एक विद्रोही महिला का है। उसका यह विद्रोह उसके प्रत्येक संवाद में झलकता है। फिल्म की शुरुआत से ही भगवती का यह चरित्र स्थापित हो जाता है, जो अन्त तक बना रहता है। फिल्म के प्रारम्भ में ही जब गाँव का अध्यापक जगन्नाथ उससे अपने पति को एक बार देख आने की बात कहता है, तो वह एकदम से भड़क उठती है-

भगवती ➢ उनकी तबियत देखूंगी या सीखचों में बंद चेहरा? झुका सिर, नीची निगाहें? वह सिर, जिसकी ऊंचाई देखने के लिए सारे गाँव को गर्दन उठाते दर्द हो जाया करता था? वह निगाह जो कभी किसी के सामने नहीं झुकी? यही सब देखना होगा न मुझे? (उपेक्षा से हंस कर) पर वह देवरजी ही देख सकते हैं। मैं नहीं देख सकती।

जगन्नाथ ➤ (फौजदार से) तुम्हारे पहुंचने से बिहारी ठाकुर को तसल्ली हुयी होगी...?

भगवती ➤ (बात काट कर) हाँ, तसल्ली तो जरूर हुई होगी। जवान भाई जेल में दर्शन करने आता रहे, इससे ज्यादा तसल्ली की बात और क्या हो सकती है? लालाराम को भी साथ ले जाते।

फौजदार ➤ भाभी!

भगवती ➤ चीखो मत। जितनी तेज आवाज में मुझसे बोल रहे हो, उतनी तेजी से गोली छोड़ी होती, तब मैं जानती कि तुम उस आदमी के भाई हो, जिसने कभी लालाराम को चुनौती दी थी कि तुम उसके अपमान का बदला जरूर लोगे। पर तुमने तो बड़े भाई की बात निभाना तो दूर, उसके बारे में सोचा ही नहीं। ...भूल गए जब उन्हें लालाराम के कारण सजा हुई, तब क्या कहा था उन्होंने? कहा था- फौजदार मेरा मां-जाया भाई है। मेरा लहू। इसका हिसाब लालाराम से जरूर लेगा। (गहरी साँस लेकर) पर वह हिसाब? साल बीत गया। लालाराम जिन्दा है और हम भी जिए जा रहे हैं।

'मदर इंडिया' की नायिका राधा एक मेहनती, कर्तव्यनिष्ठ और सहनशील औरत है, लेकिन एक बच्चे की मौत और दूसरे को बेहोश देख कर उसकी हिम्मत भी एक क्षण के लिए डोल जाती है। वह सुक्खी लाला के आगे समर्पण के लिए तैयार हो जाती है। तभी उसकी नजर वहाँ पर रखी लक्ष्मी की मूर्ति पर पड़ती है। वह उसे देख कर बड़बड़ा उठती है-

राधा ➤ लक्ष्मी लगती हूँ। राधा के रूप में आते हुए लाज न आई? मेरे रूप में आई हो, तो अपनी लाज लुटते हुए भी देख लो। हँसो नहीं-हँसो नहीं। संसार का भार उठा लोगी देवी, ममता का बोझ न उठाया जाएगा। माँ बन कर देखो, तुम्हारे पाँव भी डगमगा जाएंगे।

संवाद के प्रकार

संवाद मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं- कथात्मक और चरित्रात्मक। जिन संवादों के द्वारा कहानी आगे बढ़ाने में मदद मिलती है, उन्हें कथात्मक और जिन संवादों के द्वारा पात्रों के चरित्र की विशेषताएं उजागर होती हैं, उन्हें चरित्रात्मक संवाद कहा जाता है। कथात्मक संवाद कहानी का एक जरूरी हिस्सा होते हैं। उन्हें हटाया नहीं जा सकता। उन्हें बदला भी नहीं जा सकता। ये कहानी की गरिमा को बढ़ाने और उसकी

समस्या की तीव्रता को उजागर करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

'गुलामी' फिल्म में रंजीत का पिता माखन जब जमींदार से कर्ज मांगने जाता है, तो वह हिसाब देखने को कहता है–

जमींदार ➢ माखन, कागज पर जो कुछ लिखा है, उसे अच्छी तरह देख लिया न?

माखन ➢ मैं तो लिखे सबद की तरफ देखता ही नहीं, मालिक। जब कभी देखा, जमीन का एक टुकड़ा चला गया। अब तो लिखे सबद से नफरत हो गयी है।

माखन की मृत्यु के बाद जमींदार रंजीत को अपने पिता का हिसाब देखने के लिए बुलाता है। रंजीत न सिर्फ हिसाब देखता है, बल्कि उसे चुकता कर देने की बात भी कहता है–

जमींदार ➢ देख लिया अपने बाप के हिसाब? ....आज माखन जिन्दा होता, तो कितना खुश होमा। खैर.... अब बाप की जमीन जोतना चाहते हो, तो यह हिसाब चुकता कर दो।

रंजीत ➢ क्यों नहीं ठाकुर साहब? मेरे बाप ने मेरे दादा का हिसाब चुकाया। मेरे दादा ने अपने बाप का हिसाब चुकाया, उसके बाप ने अपने बाप का हिसाब किया और अब मेरा बाप मेरे हिस्से में यह छोड़ कर चला गया। .... लेकिन मैं यह हिसाब अपनी औलाद के लिए नहीं छोड़ूंगा।

जमींदार का हिसाब समझ लेने के बाद रंजीत को एक नया मकसद मिल जाता है और फिल्म की कहानी को एक नया मोड़। इसी प्रकार 'मदर इंडिया' में बिरजू जब सुक्खी लाला के हिसाब का गड़बड़झाला समझ लेता है, तो वह कहता है–

बिरजू ➢ मैंने तेरी सारी विद्या सीख ली है। इसी विद्या से तूने हमारी फसल के तीन हिस्से सूद में लिए और हमने फांके किये। इसी विद्या से तुमने हमारी जमीन छीन ली, हमारे बैल छील लिये और हमारा बाप छीन लिया, हमारी माँ के हाथों में काले धागे बंधवा दिये। एक सेर चावल के बदले एक बीघा जमीन। एक मुट्ठी चने लेकर एक औरत की लाज का सौदा करने आया था।

सुक्खी लाला का हिसाब बराबर करने के लिए बिरजू उसके सारे पोथी-पत्रा एक जगह इकट्ठे करता है और उसमें मिट्टी का तेल छिड़क कर आग लगा देता है।

कथात्मक संवाद कहानी में इस तरह से जड़े रहते हैं जैसे अंगूठी में नगीना। फिल्म 'उसके बाद' में जयचंद देश की जानी-मानी महिला ऊषा की हत्या कर देता है। इस कारण जयचंद के प्रति नफरत की लहर पूरे देश में फैल जाती है। इस नफरत की तीव्रता इतनी अधिक होती है कि उसके परिवार वालों को भी जगह-जगह पर अपमानित होना पड़ता है। जयचंद के लड़के अभिमन्यु को उसका कामंडिंग अफसर जबरन छुट्टी पर भेज देता है। अभिमन्यु ट्रेन से उतरने के बाद स्टेशन पर रिक्शा करता है। अपने पिता के कारण रिक्शे वालों से उसे अपमानित होना पड़ता है-

रिक्शे वाला ➢ आप जयचंद बाबू के बेटे हो?

अभिमन्यु ➢ हाँ, तुम कैसे पहचानते हो?

रिक्शे वाला ➢ मास्टर जी के घर से बहुत बार सवारियाँ लाया हूँ। ...आप दूसरा रिक्शा कर लो।

अभिमन्यु ➢ दूसरा क्यों?

रिक्शे वाला ➢ वो.... जमा करंने का टैम हो गया है।

अभिमन्यु ➢ अजीब आदमी हो। ....पहले बैठाया क्यों? (दूसरे से पूछता है) भई तुम चलोगे मदनपुरा?

रिक्शे वाला नं 2➢ खाली नहीं है।

अभिमन्यु ➢ खाली नहीं है तो खड़े क्यों हो? (वह तीसरे से पूछने को होता है, पर वह अपना मुँह घुमा लेता है। अभिमन्यु गुस्से में चीखता है)- मैं..मैं एक-एक का चलान करवा दूँगा। ....यहाँ स्टैण्ड पर खड़े होकर सवारी ले जाने से इनकार करते हो? मैं... तुम लोगों के लाइसेंस जब्त करवा दूँगा।

'मुगले आजम' का नायक सलीम अपनी प्रेमिका अनारकली को बंदी बनाये जाने की वजह से खासा नाराज होता है। वह अपने पिता अकबर से पूछता है-

सलीम ➢ क्या परवरदिगारे आलम से आपने मुझे इसीलिए मांगा था कि जिंदगी मुझे मिले और उसके मालिक आप हों? सांसें मेरी हों और दिल की धड़कनों पर आपका कब्जा रहे। जिल्ले इलाही, क्या मेरी जिंदगी आपकी दुआओं का कर्जा है, जो मुझे अपने आंसुओं से अदा करना पड़ेगा?

यहाँ पर यह ध्यान देने की बात है कि सलीम के जन्म से पहले अकबर ने जेठ की तपती दुपहरी में नंगे पैर ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह पर मन्नत

मांगी थी। कहते हैं उनकी दुआओं से ही अकबर को बाप बनने की खुशी हासिल हुयी थी, इसीलिए सलीम उनकी इबादत पर व्यंग्य करता है। इसी रस्साकसी में फिल्म की कहानी आगे बढ़ती रहती है।

पात्रों के चरित्र के विभिन्न पक्षों को उद्घाटित करने का कार्य चरित्रात्मक संवादों द्वारा सम्पन्न होता है। किसी व्यक्ति का चरित्र जितना जटिल होता है, उसका व्यवहार उतना ही रहस्यात्मक हो जाता है। इसी रहस्यात्मकता से पर्दा उठाने का कार्य करते हैं चरित्रात्मक संवाद। ऐसे संवाद भावनापूर्ण दृश्य में पात्र के मुँह से खुद-ब-खुद बयां हो जाते हैं या फिर कोई दूसरा पात्र सामने वाले की खूबियों को देख कर अपने-आप उसकी खूबियां बयान करने लगता है।

'दीवार' दो सगे भाइयों के रूप में अच्छाई और बुराई के संघर्ष की कहानी है। कहानी का नायक विजय दुनिया-जहान से नाराज, अथाह पैसा कमाने की चाह रखने वाला एक गुस्सैल युवक है, जबकि उसका छोटा भाई रवि अपने पिता के आदर्शो पर चलने वाला एक आदर्शवादी और रहमदिल व्यक्ति है। विजय एक स्मगलर है और गैरकानूनी काम करता है, लेकिन इसके बावजूद उसके चरित्र में कुछ अच्छाइयाँ भी हैं। जैसे वह बहुत स्वाभिमानी व्यक्ति है और संकेतों में बात करता है। डॉबर के गिरोह में शामिल होने पर जब वह उसे रुपयों की गड्डी फेंक कर देता है, तो वह कहता है-

विजय ➢ डॉबर साहब, बहुत बरस पहले आप रेस खेलने जाया करते थे और एक जगह अपनी गाड़ी रोक कर जूते पॉलिश करवाते थे। ...मैं आज भी फेंके हुए पैसे नहीं उठाता।

इसके अतिरिक्त विजय की एक और खूबी है कि वह अपना गम किसी के साथ नहीं बांटता है। जब वह अपनी प्रेमिका अनीता को अपनी कहानी सुनाता है, तो वह हैरान हो जाती है। वह कहती है-

अनीता ➢ तुम उनमें से हो, जो अपनी खुशियाँ तो बांट सकते है, गम नहीं। हैरान हूँ, आज मेरे साथ अपने गम बांट कर मुझे इतना मान क्यों दे दिया तुमने?

'दीवार' का रवि एक जगह नौकरी के लिए इन्टरव्यू देने के लिए जाता है, तो एक जरूरतमंद लड़के के लिए जान बूझ कर नौकरी को छोड़ देता है। उस लड़के के पूछने पर रवि कहता है-

रवि ➢ क्या करें, ये दुनिया एक थर्ड क्लास रेल का डिब्बा बन गयी है। जगह बहुत कम है, मुसाफिर ज्यादा। मैं बैठ जाता, तो तुम खड़े रहते।

एक दिन रात में देर तक पढ़ते रहने पर जब रवि की माँ कहती है कि अरे, तू अभी तक पढ़ रहा है, अब तो सुबह होने वाली है। यह सुन कर रवि के मुँह से बेसाख्ता निकल जाता है-

रवि ➢ सुबह अभी कहाँ होने वाली है माँ? सुबह तो उस दिन होगी, जब हर किसी के पास काम होगा, घर होगा, कोई फुटपाथ पर नहीं सोएगा।

'गुलामी' के नायक रंजीत को डी0एस0पी0 सुल्तान सिंह जमींदार के घर डकैती डालने के आरोप में गिरफ्तार कर लेता है। तब रंजीत उससे पूछता है कि मुझे क्यों लाया गया है-

सुल्तान ➢ सच पूछो तो थोड़ी ज्यादती तो की है हमने जो तुम्हें यहाँ लाया गया है। कहो तो उसी फतेहपुर थाने में पहुँचा दें? सुना है वहाँ के थानेदार को तुमसे बड़ी मोहब्बत है?

रंजीत ➢ क्या फर्क पड़ता है ठकुर। किसी मजबूर को किसी अलसेशियन कुत्ते के हवाले कर दो या किसी बुलडॉग के...

सुल्तान ➢ बदतमीज (मारता है।)

रंजीत ➢ तुमने रंजीत चौधरी पर हाथ उठाया है ठाकुर। ...अच्छा नहीं किया। यह गल्ती उस वक्त मत कर बैठना, जब रंजीत के दोनों हाथ खुले हों।

सुल्तान ➢ खुले हाथों से हमारा मुकाबला करना चाहते हो? हम भी यही चाहेंगे कि माँ जगदम्बे तुम्हारी यह इच्छा जरूर पूरी करें। ... लेकिन उम्मीद कम है जरा।

रंजीत ➢ हाँ ठाकुर, हाथ तो खुले रहेंगे साहूकारों के, जमींदारों के और अंग्रेजी सरकार के कुत्तों के।

इन संवादों द्वारा रंजीत की बहादुरी का पता चलता है, वहीं सुल्तान की कुटिल भावनाएं भी खुल कर दर्शकों के सामने आ जाती हैं।

'दिल चाहता है' का नायक आकाश एक दिलफेंक आशिक है। किसी भी खूबसूरत लड़की को देखने के बाद वह उसे अपनी गर्लफ्रैण्ड बनाने के लिए व्याकुल हो जाता है। यह दीगर बात है कि दो-चार दिन के बाद ही वह उससे बोर हो जाता है और नयी लड़की की तलाश में व्यस्त हो जाता है। कालेज की पार्टी के दौरान जब आकाश शालिनी को देखता है, तो वह अपने आप को रोक नहीं पाता। वह उसे प्रभावित करने के लिए उसके पास जाकर कहता है-

आकाश ➢ शालिनी, मैं तुमसे और सिर्फ तुमसे प्यार करता हूँ। मेरी हर सांस, मेरी हर धड़कन और मेरे हर पल में तुम हो और सिर्फ तुम हो शालिनी। मुझे यकीन है कि मैं सिर्फ इसलिए बना हूँ कि तुम मेरी बन जाओ। तुम मेरी हो शालिनी और अगर तुम अपने दिल से पूछोगी तो जान लोगी कि मैं सच कह रहा हूँ।

आकाश के इस व्यवहार से शालिनी का मंगेतर रोहित उसकी पिटाई कर देता है, लेकिन एक नाटकीय घटनाक्रम के तहत आकाश वास्तव में शालिनी से प्यार करने लगता है और वह ऐन शालिनी की शादी के दिन भरी महफिल में दुबारा उसके सामने यही संवाद दोहरा कर अपने प्यार का इजहार करता है। चूँकि तब शालिनी भी आकाश से प्यार करने लगती है, इसलिए वह रोहित को छोड़ कर आकाश से शादी कर लेती है।

'शोले' फिल्म में जय अपने दोस्त के कहने पर उसकी शादी के लिए बंसती की मौसी से बात करने जाता है। वह जानबूझ कर वीरू की सारी आदतों को खोद-खोद कर बयान करता है और साथ ही यह भी कहता जाता है कि ये आदतें तो बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं में होती हैं। इस पर मौसी कहती है-

मौसी ➢ एक बात की दाद दूंगी बेटा, भले ही सौ बुराइयाँ हैं तुम्हारे दोस्त में, पर तुम्हारे मुँह से उसके लिए तारीफ ही निकलती है।

जय ➢ अब क्या करूँ मौसी, मेरा तो दिल ही कुछ ऐसा है। ...तो मैं यह रिश्ता पक्का समझूँ?

मौसी ➢ भले ही लड़की सारी जिंदगी कुंआरी बैठी रहे, लेकिन मैं ऐसे आदमी से बसंती को नहीं ब्याहने वाली। सगी मौसी हूँ, कोई सौतेली माँ नहीं।

इन संवादों के द्वारा न सिर्फ वीरू और जय के चरित्र उद्घाटित होते हैं बल्कि मौसी के भी चरित्र की छाप हमें मिल जाती है। चरित्र-चित्रण के दृष्टिकोण से यह प्रसंग बहुत ही उच्च्व कोटि का बन पड़ा है।

'मदर इंडिया' की नायिका राधा जिंदगी भर सुक्खी लाला के जुल्मों का शिकार होती है, लेकिन जब उसका लड़का बिरजू लाला के अत्याचारों से त्रस्त होकर बंदूक उठा लेता है, तो वह उसे ऐसा करने से रोकती है-

राधा ➢ नहीं बिरजू, बिरजू बंदूक से कुछ न होगा। कुछ नहीं होगा बिरजू। बंदूक से तू गाँव की औरतों का शरीर नहीं ढ़क सकता। बंदूक से उनके घर में अनाज नहीं आएगा। बंदूक से उनके घर के चूल्हे भी नहीं जलेंगे बिरजू।

इससे स्पष्ट होता है कि राधा को हिंसा से सख्त नफरत है और उसके दिल में गाँव वालों के प्रति क्या भावनाएँ हैं। इसके अलावा राधा के मन में औरत की इज्जत के प्रति बड़ा सम्मान है। किसी और की इज्जत बचाने के लिए वह अपने बेटे की जान भी ले सकती है। जब बिरजू लाला की बेटी को अपने साथ ले जाने लगता है, तो राधा उसका रास्ता रोकते हुए कहती है-

राधा ➤ रूपा सारे गाँव की बेटी है। वो मेरी लाज है। बिरजू, मैं बेटा दे सकती हूँ, लाज नहीं दे सकती।

राधा के लाख समझाने के बावजूद जब बिरजू रूपा को जबरदस्ती ले जाने लगता है, तो वह अपने दुश्मन की बेटी की लाज बचाने के लिए अपने जान से प्यारे बेटे को गोली मार देती है।

कथात्मक और चरित्रात्मक संवादों के अतिरिक्त संवाद की दो अन्य श्रेणियाँ भी हैं- परिचयात्मक और सूचनात्मक संवाद। परिचयात्मक संवाद वे होते हैं, जिनके द्वारा फिल्मों में किसी घटना/पात्र का परिचय दिया जाता है। फिल्म 'पेज-3' में एक एन0आर0आई0 पार्टी का आयोजन करवाता है। पार्टी की संचालिका वहाँ मौजूद लोगों के बारे में बताते हुए कहती है-

संचालिका ➤ यहाँ आपको हर तरह के कैरेक्टर मिल जाएंगे। कुछ लोग तो ऐसे गले मिलते हैं, जैसे बचपन के बिछड़े हुए भाई-बहन हों, चाहे वो एक दूसरे का नाम भी जानते हों या नहीं। तो कुछ लोग ऐसे हैं, जो सेलेब्रेटीज से ठीक उस वक्त जाकर मिलते हैं, जब उसकी फोटोज क्लिक हो रहे हों। उस समय उनकी फोटोज भी क्लिक हो जाती हैं। और हाँ, सबसे इम्पॉर्टेन्ट बात, चाहे कोई पसंद करे या नहीं, मीडिया वालों से हर कोई दोस्ती बना कर रखता है।

उपरोक्त सम्भाषण परिचयात्मक संवाद का एक अच्छा नमूना है। जब फिल्म में कोई पात्र किसी पात्र को कोई महत्त्वपूर्ण सूचना देता है, जिससे फिल्म को एक गति मिलती है, उसे सूचनात्मक संवाद कहा जाता है। जैसे 'मुगले आजम' में बहार द्वारा अकबर सलीम और अनारकली की मुलाकात के बारे में चुगली करना या फिर 'शोले' में जय और वीरू द्वारा ठाकुर साहब के घर में चोरी का प्रयास करते समय उनकी बहू राधा द्वारा तिजोरी की चाबी देते हुए उसमें रखे सामान का अपने लिए व्यर्थ बताना।

राधा ➤ .... ये लो तिजोरी की चाबी। इसमें मेरे वो गहने हैं, जो मेरे लिए बेकार हैं। मुझे अब इनकी जरूरत नहीं पड़ेगी। थोड़े बहुत पैसे हैं,

वो भी ले जाओ। ...अच्छा है, बाबूजी की झूठी उम्मीदें तो टूटेंगी, जो उन्होंने तुम लोगों से लगा रखी हैं।

चाहे सूचनात्मक संवाद हों या फिर परिचयात्मक संवाद, फिल्मों में इनकी मौजूदगी बहुत कम होती है, इसीलिए इन्हें भी कथात्मक अथवा चरित्रात्मक संवादों में ही समाहित कर दिया जाता है।

संवाद : कल और आज

भाषा एक बहती हुई नदी के समान है। वह न सिर्फ जिस स्थान से गुजरती है, वहाँ की आब-वो-हवा के अनुसार ढ़ल जाती है, बल्कि समय के साथ आने वाली तब्दीलियों के अनुसार अपने आप को भी संशोधित एवं परिमार्जित करती रहती है। हिन्दी फिल्मों के सन्दर्भ में भी यह बात पूरी तरह से खरी साबित होती है। पारसी थियेटर से निकली हिन्दी फिल्मों के शुरूआती दौर में पारसी थियेटर का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। बाद में राजेन्द्र सिंह बेदी, कृश्नचंदर, ख्वाजा अहमद अब्बास, कुर्तलेन हैदर और मण्टो जैसे उर्दूदां के सम्पर्क में आने से फिल्मों की भाषा में एक जबरदस्त निखार आया। उस दौर की फिल्मी भाषा न सिर्फ आम जन के करीब हो गयी बल्कि उसमें एक अदबी नफासत भी देखने को मिली।

हिन्दी में समानान्तर कहानी का दौर शुरू होने पर उसका काफी कुछ असर हिन्दी फिल्मों में भी देखने को मिला। नतीजन उसकी भाषा में एक जबरदस्त बदलाव आया। इस बदलाव ने न सिर्फ पारम्परिक ट्रेंड को तोड़ा, बल्कि '36 डाउन', 'सारा आकाश', 'दुविधा', 'रजनीगंधा', 'भुवन सोम' व 'निशांत' जैसी सार्थक फिल्में भी दीं। समानान्तर सिनेमा के इस दौर के बाद फिल्मों में सलीम-जावेद के आने से एक नए युग का सूत्रपात हुआ। इस जोड़ी ने पूर्व की समस्त मान्यताओं को ध्वस्त करते हुए नई परम्पराओं का सृजन किया और एक सार्थक भाषा से जनता का परिचय कराया।

सलीम-जावेद की जोड़ी के अवसान के बाद हिन्दी फिल्मों में एक ऐसी पीढ़ी का आगमन हुआ, जो 'कॉनवेन्ट' के तेज से देदीप्यमान थी। बचपन से ही बोर्डिंग ओर हास्टल के माहौल में पली-बढ़ी इस नई पीढ़ी के पास न तो हिन्दी भाषा का समुचित ज्ञान था और न ही भारतीय संस्कृति की सही समझ। हिन्दी के नाम पर ये लोग या तो मुम्बईया हिन्दी भाषा से परिचित थे या फिर अपने आस-पास की खिचड़ी भाषा 'हिंग्लिश' से। नतीजतन उसका असर हमें आज की ज्यादातर फिल्मों में देखने को मिल रहा है।

दृश्य-श्रव्य माध्यम में इस बात पर बल दिया जाता है कि उसमें प्रयुक्त भाषा गढ़े गये पात्रों के अनुकूल होनी चाहिए। इसीलिए कुछ समझदार पटकथाकार जान बूझ

कर (या मजबूरीवश) अपनी कहानी ही ऐसे पात्रों के इर्द-गिर्द गढ़ते हैं, जो उपरोक्त दोनों खांचों में फिट बैठते हों। नतीजतन हमें कभी-कभी 'दिल चाहता है' जैसी उत्कृष्ट कोटि की फिल्म देखने को मिल जाती है, वर्ना ज्यादातर मामलों में तो दर्शकों को निराशा ही होती है।

'दीवार' फिल्म में दो जगह पर बहुत छोटे किन्तु सशक्त संवादों का प्रयोग किया गया है। ये संवाद 'जहर बुझे तीर' की तरह काम करते हैं और अपने सामने वाले को एकदम चित्त कर देते हैं। पहला संवाद विजय द्वारा डेक पर कुलियों से हफ्ता वसूलने वाले गुण्डों से झगड़े के बाद उसकी और माँ की नोंक-झोंक के समय का है। जब माँ विजय से कहती है कि तुम वहाँ से चले क्यों नहीं गये, तो विजय कहता है- 'तुम्हारा मतलब है, मैं भी वहाँ से भाग जाता?'

इस वाक्य को सुन कर विजय की माँ तिलमिला जाती है। उसे अपना पति याद आ जाता है, जिसने अपने परिवार की जान बचाने के लिए फैक्ट्री के मजदूरों के अधिकारों को फैक्ट्री के मालिक के पास बंधक बना दिया था। बाद में लोगों की फब्तियों से ऊब कर वह घर छोड़ कर चला गया था। विजय की माँ को लगता है कि उसका बेटा भी जमाने भर की तरह अपने पिता को गाली दे रहा है। वह अपने पति का यह अपमान बर्दाश्त नहीं कर पाती है और विजय के गाल पर एक झापड़ रसीद कर देती है।

रवि के इंस्पेक्टर बन जाने के बाद दोनों भाइयों में अलगाव हो जाता है। रवि डॉबर के अड्डों पर छापा डालता है और उसके आदमियों को माल सहित गिरफ्तार कर लेता है। इससे विजय के साथी रवि को मारने की बात कहते हैं। विजय अपने भाई को समझाने के लिए उसे उस पुल के पास बुलाता है, जिसके नीचे उनका बचपन गुजरा था। वहाँ पर दोनों में कहासुनी होती है। विजय अपनी सम्पन्नता का हवाला देते हुए रवि से पूछता है कि तुम्हारे पास क्या है? रवि उसे जवाब देते हुए कहता है- 'मेरे पास माँ है।' यह सुन कर विजय के ऊपर जैसे बिजली सी गिरती है। एक क्षण के लिए उसे अपनी सारी धन-दौलत व्यर्थ लगने लगती है और वह अपनी नजरों में दुनिया का सबसे गरीब आदमी बन जाता है।

संवादों की यह 'धार' बहुत समय से हिन्दी फिल्मों से विलुप्तप्राय थी। 'दिल चाहता है' ने एक लम्बे अन्तराल के बाद उसी पैनेपन का एहसास कराया है। फिल्म में एक दृश्य है, जिसमें शालिनी अपनी शादी के लिए अपने मंगेतर रोहित के साथ सिडनी (आस्ट्रेलिया) से वापस भारत जाने वाली है। शालिनी के अंकल महेश इस अवसर पर आकाश को डिनर पर बुलाते हैं। आकाश मन ही मन शालिनी को चाहने

लगा है, लेकिन घोषित तौर पर उसे प्यार जैसी चीज पर यकीन ही नहीं है। इसीलिए वह शालिनी से अपने मन की बात नहीं कहता है। शालिनी अपने एक अंकल के घर पली-बढ़ी है। रोहित उन्हीं का लड़का है। इसीलिए वह चाह कर भी अपने मन की बात आकाश से नहीं कह पाती है, लेकिन इसके साथ ही वह यह भी चाहती है कि पहले आकाश अपने प्यार का इजहार करे। शायद उसके मन में यह डर है कि अगर उसके प्रेम प्रदर्शन करने के बाद आकाश ने इनकार कर दिया, तो उसका क्या होगा?

रोहित एक गुस्सैल स्वभाव का लड़का है। उसे यह गंवारा नहीं है कि शालिनी किसी की ओर नजर उठा कर भी देखे। आकाश शुरू-शुरू में मजाक में एक बार शालिनी से प्रेम प्रदर्शन का नाटक कर चुका है, जिसके बदले में उसे रोहित ने पीट दिया था। रोहित के मन में यह डर छिपा हुआ है कि कहीं शालिनी आकाश की तरफ आकर्षित न हो जाए, इसलिए वह बहुत चौकन्ना सा रहता है।

डिनर के दिन आकाश सही समय पर महेश अंकल के घर पहुँच जाता है। वह रोहित से 'हॉय' करता है। तभी शालिनी वहाँ आती है। उस समय वहाँ पर जो बातचीत होती है, वह देखने लायक है-

शालिनी ➢ हाय!

आकाश ➢ (बुके देते हुए) कांग्रेचुलेशंस।

शालिनी ➢ बहुत खूबसूरत हैं।

रोहित ➢ क्या पियोगे?

महेश ➢ अरे पियेंगे बाद में, पहले कुछ खाते हैं।

यह दृश्य बहुत तनावपूर्ण परिस्थितियों का है। इसमें हर व्यक्ति की अपनी टेन्शन है और वह तनाव संवाद के रूप में बाहर निकल कर आता है। शालिनी आकाश से 'हाय' करती है। वह पूछ रही है कि तुम कैसे हो। आकाश के मन में चल रहा है कि तुम्हें नहीं पता कि मैं कैसा हूँ। वह जानबूझ कर इस बात को टाल देता है और उसे शादी की मुबारकबाद देता है। लेकिन शालिनी शादी के बारे में कोई बात सुनना ही नहीं चाहती। उसके लिए वह शादी एक मजबूरी है, क्योंकि उसके सामने और कोई विकल्प ही नहीं है। वह आकाश के बारे में बात करना चाहती है, लेकिन वहाँ पर उसका मंगेतर रोहित भी है। लिहाजा यह बधाई के लिए धन्यवाद देने के बजाय आकाश के दिए हुए फूलों की तारीफ करती है- 'बहुत खूबसूरत हैं।' ये सिर्फ उन फूलों के बारे में नहीं है, उन सपनों के बारे में भी है, जो दोनों लोगों ने अलग-अलग देखे हैं। रोहित के लिए ये बातें बर्दाश्त के बाहर हैं, इसीलिए वह बात

काटने के लिए आकाश से पूछता है कि क्य पियोगे? उसे मालूम है कि आकाश डिनर पर आया है और पीने की रस्म खाने के बाद ही होनी है। इसके बावजूद वह पूछता है- 'क्या पियोगे?' क्योंकि वह चाहता है कि जल्दी से पियो और यहाँ से दफा हो।

चाहे फायनेन्सर की मांग हो, बाक्स ऑफिस का दबाव हो, लेखकों की मजबूरी हो या फिर चरित्रों की आड़, हकीकत तो यही है कि आज की ज्यादातर फिल्मों में मुम्बई की टपोरी और युवा वर्ग की 'हिंग्लिश' भाषा छाई हुई है। टपोरियों के प्रति फिल्मकारों का ये लगाव तो देखने लायक है। कुछ उदाहरण देखें-

वास्को ➢ ... मतलब हवाला, पेटी, खोखा, बिजनेस, समझ न यार। अभी उससे लम्बा बात चला न, मतलब एकदम लम्बा। मतलब- या बेबी-या बेबी-या लव यू बेबी... आई लव यू बेबी। समझ जाने का आज वासूगीरी चालू है। गेम पक्का। ('पेज-3')

X X X

मुन्ना ➢ (नशे में) तेरे को मालूम है न तू मरने वाला है। लेकिन तू कुछ नहीं कर सकता। सिर्फ कैलेण्डर को देखने का, फिर वो घड़ी का कांटा है न, टाइम बम्ब की तरह चलता है साला। ...सब खल्लास। (मुन्नाभाई एम0बी0बी0एस0)

X X X

अली ➢ ए, तुम्हारे साथ काम? क्या काम? मैं कुछ नहीं करेगा। तुम लोग के साथ हमेश डेंजर रहता है लाइफ का। मेरे को नहीं करने का, हाँ। (धूम-2)

X X X

अनवर हथेला ➢ ऐ, तू यहिंच रुक, तू नहीं जानता, तूने अनवर हथेला पर हाथ उठाया है। अगर एकिच बाप की औलाद है न, तो यहिंच रुक, अभिच के अभिच तेरे को टपकाएगा। (धूम-2)

अगर हिन्दी फिल्मों में अंग्रेजी के व्यामोह की बात की जाए, तो हाल और भी बुरा है। कहीं-कहीं पर तो अंग्रेजी इतनी बुरी तरह से हावी है कि लगता ही नहीं हम हिन्दी फिल्म देख रहे हैं। उदाहरण के लिए 'पेज-3' के एक सीन में पर्ल, जोकि एयर होस्टेस है, अपनी रूममेट माधवी से अपने मन की बात कहती है-

पर्ल ➢ ... लुक ऐट मी। आई ऐम 27 इयर्स ओल्ड, स्लिम, सेक्सी, इंटेलिजेन्ट।

X X X

इसके तुरन्त बाद वह नक्शा देखते हुए कहता है –

ऐंडी ➢ ओके ब्वाएज, देखें हमारे पड़ोसी कौन हैं? ...दैट्स रामगढ़, दैट्स कैनाट-द मेन टारगेट फॉर 1965 वार। .. ऐन्ड दैट इस साडेवाला। ओह, दैट्स सांगेवाला, दैट्स वेयर मेजर कुलदीप सीनियर? नाइस टू मीट इन एयर, नाऊ द ग्राउंड।

इन संवादों को देखने के बाद लगता है कि ऐंडी ऐसा पात्र है, जो हमेशा अंग्रेजी शब्दावली का प्रयोग करता है। लेकिन जब ऐंडी की मुलाकात उसकी प्रेमिका से होती है, तो वहाँ पर उसकी बातचीत सुन कर उसकी यह इमेज एक झटके में टूट कर बिखर जाती है। उस दौरान ऐंडी एक के बाद एक करके शुरू में जो तीन बातें कहता है, वह इस प्रकार हैं–

ऐंडी ➢ ठीक है, भगवान को मानती भी नहीं, लेकिन उनके नाम से भी चिढ़ है आपको?

X X X

ऐंडी ➢ कोई ऐसी चीज, कोई ऐसी शक्ति, जिसके आगे आप झुकती हों?

X X X

ऐंडी ➢ भगवान तो बहुत दूर की बात है, हम जैसे इन्सानों के आगे झुकना सिखा दूंगा।

ऐंडी के इन कथनों को सुनने के बाद उसके प्रति हमारे मन में बनी धारणा चूर-चूर हो जाती है। एक ऐसा व्यक्ति जिसकी बातचीत के 60 प्रतिशत से अधिक शब्द अंग्रेजी के होते हैं, वह अपने तीन लगातार कथनों में अंग्रेजी का एक भी शब्द नहीं प्रयोग करता? यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि जहाँ तक लेखक से ठूंसता बना, उसने ऐंडी के संवादों में अंग्रेजी शब्ठ ठूंस दिये और जहाँ लगा कि अंग्रजी में कही गयी बात 'बाउंसर' हो जाएगी, उसने शुद्ध हिन्दी से काम चला लिया।

एक अच्छे पटकथाकार को इस तरह की कृत्रिमता से बचना चाहिए। उसे पात्र के लिए ऐसी शब्दावली का प्रयोग करना चाहिए, जो वास्तव में उसके भीतर से निकलते हुए प्रतीत हों क्योंकि स्वतः स्फूर्त शब्दावली ही पात्र को सजीव बनाती है। ऐसे पात्र न सिर्फ सहज रूप से अपनी भावनाएँ दर्शक तक पहुँचाने में कामयाब होते हैं बल्कि दर्शकों के दिलों में उतर कर हमेशा-हमेशा के लिए 'अमर' भी हो जाते हैं।

सन्दर्भ सूची

1. विनय शुक्ला, 'पटकथा लेखन कार्यशाला' 17-21 अक्टूबर, 2005, फिल्म बंधु, लखनऊ
2. अंजुम रजब अली, 'पटकथा लेखन कार्यशाला' 17-21 अक्टूबर, 2005, फिल्म बंधु, लखनऊ
3. 'सिनेमा के बारे में' (साक्षात्कार), पृष्ठ-47
4. ज़ाकिर अली 'रजनीश', 'प्रसारण माध्यमों के लिए विज्ञान गल्प' (आकाशवाणी), सं0-डॉ0 मनोज पटेरिया, पृष्ठ-42
5. 'चलचित्र : कल और आज', पृष्ठ-73
6. 'नाटक का रंग विधान', पृष्ठ-4
7. 'चलचित्र : कल और आज', पृष्ठ-72
8. सत्यजीत रे, 'चलचित्र : कल और आज', पृष्ठ-73
9. 'मीरा', पृष्ठ-19

अध्याय-6

रूपान्तरण का मर्म

जिस प्रकार किसी बने-बनाए घर में तोड़-फोड़ करके उसे अपनी मर्जी के मुताबिक ढ़ालना एक कठिन कार्य होता है, उसी प्रकार किसी साहित्यिक कृति को फिल्म/धारावाहिक की पटकथा में परिवर्तित करना एक श्रमसाध्य कार्य है। इसका प्रमुख कारण यह है कि कहानी और पटकथा दो अलग-अलग विधाएँ हैं और दोनों विधाओं के लक्ष्य बिलकुल अलग-अलग हैं। करोड़ों रुपयों की लागत से बनने वाली फिल्म अपने निश्चित दर्शक वर्ग को ध्यान में रख कर बनायी जाती है। उनकी पसंद-नापसंद के अनुसार उसमें 'स्वयंसिद्ध नुस्खे' आजमाए जाते हैं और यथोचित मसालों का जबरदस्त तड़का लगाया जाता है। जबकि एक कहानी की रचना प्रक्रिया के पीछे कहानीकार की सोच का प्रस्फुटीकरण ही मुख्य उद्देश्य होता है।

साहित्यक कहानी को पटकथा के फार्म में ढ़ालते समय (फिल्म की मांग के अनुसार) उसमें इतने परिवर्तन करने पड़ते हैं कि अक्सर मूल कहानी किसी नई कहानी में परिवर्तित हो जाती है। श्याम बेनेगल द्वारा निर्देशित फिल्म 'अर्धसत्य' इसका एक सशक्त उदाहरण है। 'यह फिल्म 'सूर्य' नाम की कहानी को लेकर शुरू की गयी थी, जिसमें एक दब्बू किस्म का लड़का अपने पिता के दबाव में पुलिस की नौकरी ज्वाइन करता है। नौकरी के बाद लड़के के व्यवहार में इतने बदलाव आते हैं कि वह एक दब्बू लड़के से तेज-तर्रार युवक में बदल जाता है। इस कहानी पर जब काम किया गया, तो ओरिजनल कहानी के सिर्फ तीन सीन ही फिल्म में रह गये।'[1]

यही कारण है कि अक्सर साहित्यिक कृतियों पर बनी फिल्में विवाद पैदा करती हैं। अक्सर होता यह है कि रूपान्तरित फिल्में देख कर आम दर्शक को निराशा का सामना करना पड़ता है। उदाहरण के तौर पर फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास 'मैला आंचल' और सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यास 'मुझे चांद चाहिए' पर बने धारावाहिक देखे जा सकते हैं। इसके विपरीत 'कहीं-कहीं ऐसे उदाहरण भी मिल जाएंगे, जहाँ किसी कमजोर या अति सामान्य सी रचना को ऐसे परिवर्तनों से कहीं अधिक प्रभावपूर्ण बना दिया गया है। रांगेय राघव के एक उपन्यास 'कब तक पुकारूँ' पर बना धारावाहिक निश्चित रूप से इस कोटि में आता है।'[2]

यह एक कटु सत्य है कि भारतीय जनमानस रूढ़ियों से ग्रस्त समाज है। उसे हर वह बात, जो बदलाव से जुड़ी हो, बुरी लगती है। यही कारण है कि कहानी के ढ़ांचे में किया जाने वाला यह बदलाव (ज्यादातर) लोगों को रास नहीं आता है। वे इसे साहित्यकार की रचना से की गयी एक अनुचित छेड़छाड़ मानते हैं। इसकी वजह से अक्सर रचनाकार और निर्देशक के बीच में विवाद भी पैदा हो जाता है, इसीलिए ज्यादातर निर्माता-निर्देशक रूपान्तरण से बचते हैं।

कहानी और पटकथा का गहराई से अध्ययन करने पर यह पता चलता है कि दोनों विधाओं के प्रारूप में काफी अन्तर है। मन्नू भण्डारी के अनुसार- 'कहानी और पटकथा में सबसे बड़ा और प्रमुख परिवर्ततन होता है प्रारूप का। कहानीकार को तो पूरी छूट होती है कि वह अपनी कहानी किसी भी शैली में लिखे। वह चाहे तो अपनी टिप्पणियों और व्याख्याओं के साथ वर्णनात्मक शैली में घटनाओं के ब्यौरे प्रस्तुत कर सकता है और चाहे तो मात्र संवादों में। उत्तम पुरुष में लिखे या अन्य पुरुष में... डायरी फार्म में लिखे या पत्रों के रूप में, ...तरह-तरह के प्रयोग करने की उसे पूरी छूट होती है, पर पटकथा लेखक को तो सारी कहानी को दृश्यों और संवादों में ढ़ाल कर ही प्रस्तुत करना होता है।'[3]

साहित्यिक कहानी का रूपान्तरण कार्य वास्तव में एक गंभीर प्रक्रिया की मांग करता है। वह प्रक्रिया क्या है, उसे किस तरह से अपनाना चाहिए और इसमें किन-किन बातों का ध्यान चाहिए, इसे निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत विस्तार से देखा जा सकता है।

1. कृति का चुनाव

कुछ लोगों को पहली नजर में यह एक फ़ालतू किस्म की बात लग सकती है कि फिल्म/धारावाहिक के लिए कृति के चुनाव में क्या समस्या है। कहानी आखिर कहानी होती है, लेकिन वास्तव में ऐसा है नहीं क्योंकि रूपांतरण के लिए हर तरह की कहानी नहीं ली जा सकती। 'फिल्म के लिए जो रचनाएं ली जाती हैं, उसमें शार्ट स्टोरीज पर काम करना आसान होता है। शार्ट स्टोरीज भी ऐसी, जिनमें कैरेक्टर्स (पात्रों) के बीच में काफी 'कॉन्फ्लिक्ट' (संघर्ष) हो और वह कॉन्फ्लिक्ट कैरेक्टर के बाहर भी नजर आता हो।'[4]

दूरदर्शन के लिए 'दर्पण' धारावाहिक की पटकथा लिखने वाली कथाकार मन्नू भण्डारी अपनी रचनाओं की चुनाव प्रक्रिया के बारे में बताते हुए कहती हैं, 'इन पटकथाओं के लिए चूँकि कहानियाँ भी मुझे ही चुननी थीं, इसलिए मैंने कोशिश तो यही की कि ऐसी कहानियाँ चुनूं, जो दृश्य माध्यम के अधिक अनुकूल हों। यानी कि

जिनमें संवदेना को स्पर्श करने वाले कुछ मार्मिक प्रसंग हों, घटित होती कुछ घटनाएँ (एक्शन) हों... कहानी को चरम की ओर ले जाने वाली द्वन्द्वात्मक स्थितियाँ हों... सहज ही तादात्म्य स्थापित कर सकने वाले चरित्र हों।'[5]

इन पंक्तियों को पढ़ कर किसी भी जिज्ञासु पाठक के मन में यह विचार आ सकता है कि कहानी में ऐसी कौन सी विशेषता होती है, जो वह रूपान्तरण के दृष्टिकोण से उपन्यास के मुकाबले ज्यादा अच्छी मानी जाती है। उदाहरणार्थ फणीश्वर नाथ रेणु की कहानी 'तीसरी कसम' और राजेन्द्र यादव के उपन्यास 'सारा आकाश' को लिया जा सकता है, जिन पर इन्हीं नामों से बेहतरीन हिन्दी फिल्में बनाई जा चुकी हैं।

ज्यादातर (गैर जानकार) लोगों का मानना है कि उपन्यास का विस्तृत विवरण और उसके पात्रों का चरित्र-चित्रण रूपान्तरण में काफी मददगार हो सकता है, जबकि ऐसा होता नहीं है। उपन्यास का विस्तृत फलक ही उसके रूपान्तरण में सबसे बड़ी बाधा उत्पन्न करता है। मनोहर श्याम जोशी के अनुसार, 'उपन्यास का रूपान्तरण करते समय समस्या यह पैदा होती है कि उसमें बहुत ज्यादा सहायक पात्र, उपकथानक नजर आते हैं। कई बार कथानक का कालक्रम भी बहुत लम्बा होता है। प्रवाह मन्द होता है। इसलिए जहाँ कहानी पर फिल्म बनाते समय कुछ जोड़ने की समस्या प्रस्तुत होती है, वहीं उपन्यास पर फिल्म बनाते समय बहुत कुछ काट देने की समस्या प्रस्तुत होती है।'[6]

चूँकि फिल्म एक घटना प्रधान माध्यम है, इसीलिए किसी भी कृति का रूपान्तरण करते समय पटकथाकार उन रचनाओं को वरीयता देते हैं, जिनमें द्वन्द्व एवं अनकही बातों (साइलेंसेज) का अच्छा मिश्रण होता है। यही कारण है कि 'उपन्यास से ज्यादा छोटी कहानियाँ अनुकूल जान पड़ती हैं। उपन्यास में अतीत लगातार डॉमिनेट करता है। उसे काटना और छोटा करना मुश्किल होता है। लेखक का बहुत कुछ हिस्सा उसमें रह जाता है। स्क्रिप्ट को उस रिद्म पर लाना बहुत मुश्किल है, जिस पर नॉवेल लिख गया हो क्योंकि वह जस का तस पूरा का पूरा नहीं बन सकता। नॉवेल को छोटा करना एक अलग और बड़ा काम है। कहानियाँ इसलिए अच्छी लगती हैं क्योंकि सूत्र के हिसाब से वे 'टू द प्वाइंट' होती हैं। बिलकुल उतने ही जरूरी विस्तार होते हैं, जो अपनी बात कह सकें। उनमें जो स्पेसेज हैं, साइलेंसेज हैं, जो कह कर भी अनकहा है, वो सिनेमा है। खामोशियाँ सुनना और उसे अभिव्यक्त करना सिनेमा है। 'बिटवीन द लाइन्स', लेखक जो कह सकता है, वो उजागर होना सिनेमा है। इसमें आपको विस्तार लेने का चांस है। जो आलाप लेना है, जो पलटे देना है, उसकी जगह वहाँ मिलती है।'[7]

यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि ज्यादातर फिल्मकार किसी साहित्यिक रचना को हूबहू चित्रित करने का दावा भी नहीं करते। वे साहित्यिक रचनाओं की आत्मा को अपने हिसाब से (और ज्यादातर मामलों में अपने समय के अनुकूल बना कर) प्रस्तुत करते हैं। यही वजह है कि वे रचनाओं के द्वन्द्व एवं अनकही बातों को पकड़ते हैं। यही वे बिन्दु हैं, जो उन्हें रचना को अपने मनमाफिक ढ़ालने में मदद करते हैं। यही कारण है कि फिल्म के लिए उपन्यास के मुकाबले कहानियाँ ज्यादा बेहतर मानी जाती हैं।

2. रूपान्तरण की प्रक्रिया

साहित्यिक कहानी का फिल्म की पटकथा में रूपान्तरण एक ऐसी प्रक्रिया है, जो कई चरणों में सम्पन्न होती है। यह प्रक्रिया अलग-अलग व्यक्ति के लिए अलग-अलग तरह की हो सकती है। 'अगर रूपान्तरण के लिए कोई शार्ट स्टोरी चुनी गयी हो, तो आपको उसमें उपलब्ध संकेतों के अनुसार कुछ काम करने होंगे। पहला यह कि उसमें जो भी घटनाएँ घटित होती हुई दिखाई देती हों, अथवा जिनके घटित हो चुकने का उल्लेख हो, उन्हें अपनी कल्पना से ज्यादा से ज्यादा विस्तार और नाटकीयता प्रदान करनी होगी। दूसरा यह कि अगर उसमें सहायक पात्र हों और उनकी भी अपनी कुछ कहानियों का जिक्र हो, तो उनके इर्द-गिर्द उपकथानक बुन डालने होंगे। अगर, न ऐसे पात्र हों, न उनके कथानक, तो सबसे अच्छा तो यही है कि आप उस कहानी को रूपान्तरित करने का इरादा छोड़ दें। मजबूरी हो तो सहायक पात्र भी गढ़ें और उपकथानक भी गढ़ें।'[8]

वास्तव में रूपान्तरण एक जटिल प्रक्रिया है। इसके लिए सबसे पहले कहानी की लय/धुन को समझना होता है। उसके केन्द्रीय भाव को समझना होता है। उसी को विकसित करके अपनी बात (कहानी का कथ्य) को स्पष्ट किया जाता है। इन तमाम कोशिशों के बीच इस बात का बराबर ध्यान रखना चाहिए कि कहानी की आत्मा न मरने पाए।

सामान्यतः 'रूपान्तरण के दौरान कहानी की बहुत सी अनावश्यक घटनाएँ हटा (डिलीट) दी जाती हैं, लेकिन उन घटनाओं/पात्रों में यदि कुछ ऐसा है, जिसके न रहने से कहानी की थीम पर असर पड़ सकता है, तो उसे किसी दूसरी घटना में ले लिया जाता है। यही काम पात्रों के साथ भी करना पड़ता है। कभी-कभी कई पात्रों को एक में समेटना पड़ता है और कभी-कभी ऐसा होता है कि एक पात्र से कई पात्र बनाने पड़ते हैं। कभी ऐसा भी होता है कि कोई घटना होती तो बहुत अच्छी है, लेकिन उसका विजुअलाइजेशन सम्भव (पासिबुल) नहीं हो पाता या बहुत मंहगा पड़ता है।

ऐसी कंडीशन में उस सीन के समानान्तर (पैरलल) हमें नया सीन क्रिएट करना पड़ता है।'[9]

रूपान्तरण के दौरान कहानी के छोटे से छोटे वाक्य भी कभी-कभी कई दृश्यों में बदल जाते हैं। उदाहरण के लिए हम एक कहानी लेते हैं, जिसका एक पैरा इस प्रकार से है-

'मोहन लाल एक ईमानदार इंजीनियर थे, जिसकी वजह से अपने साथियों में उनका बड़ा मान-सम्मान था। उनके दो बच्चे थे। एक लड़का और एक लड़की। लड़की एक मशहूर मॉडल बनना चाहती थीं और लड़का एक बड़ा क्रिकेटर।'

इस पैरे में मात्र तीन वाक्य हैं, लेकिन इन तीन वाक्यों से ही तीन दृश्य बनाए जा सकते हैं। पहला दृश्य, जिसमें इंजीनियर साहब की ईमानदारी निकल कर आए। दूसरा दृश्य जिसमें लड़की की माडलिंग क्षमता प्रदर्शित हो। तीसरा दृश्य, जिसमें लड़के की क्रिकेट की दीवानगी झलक रही हो, लेकिन इन तीनों दृश्यों को मिला कर एक दृश्य भी बनाया जा सकता है। अब इस पैरे के कितने सीन उचित रहेंगे, कौन सा दृश्य कैसे रहेगा, यह सब पटकथाकार की समझ पर निर्भर करता है।

प्रत्येक लेखक की अपनी समझ और अपना तरीका होता है। हर लेखक की रूपान्तरण की प्रक्रिया भी अलग-अलग हो सकती है। मन्नू भण्डारी अपनी इस प्रक्रिया के बारे में बताती हुई कहती हैं-

'कहानी पढ़ने के बाद मैं सबसे पहले उसके केन्द्रीय भाव को पकड़ती हूँ। यानी कि लेखक अपनी रचना के माध्यम से क्या सम्प्रेषित करना चाहता है? इसके बाद काफी समय तक मन ही मन मैं कहानी के पूरे कथानक की एक तरह से जुगाली करती रहती हूँ। इसी क्रम में धीरे-धीरे कहानी की प्रमुख घटनाएँ दृश्यों में बदलती चलती हैं ... मात्र घटनाएँ ही नहीं, लेखक ने जिन स्थितियों के मात्र ब्यौरे भर प्रस्तुत किये हैं, वे भी दृश्यों में बदलते चलते हैं। लेखक द्वारा वर्णित बातों को दृश्यों में बदलने के दौरान बराबर उनमें कुछ जोड़ना-घटाना पड़ता है, तो कभी-कभी किसी पात्र के मानसिक आवेग-उद्वेलन को व्यक्त करने के लिए नये पात्रों की कल्पना भी करनी पड़ती है ... जिसके साथ संवादों के माध्यम से उनके मन की परतें खोली जा सकें। जो संवाद कहानी में ही मिल जाएं, उनका उपयोग तो करती हूँ, पर बाकी सारे संवाद तो मुझे ही लिखने होते हैं। पर संवाद तो बाद में ... पहले तो मेरा सारा ध्यान स्थितियों और घटनाओं के दृश्य-रूपान्तरण पर ही केन्द्रित रहता है। जब इन दृश्यों की एक पूरी श्रृंखला तैयार हो जाती है, तो फिर कहानी को सीढ़ी दर सीढ़ी चरम की ओर ले जाने के लिए उन दृश्यों को नए सिरे से व्यवस्थित करना होता है। इस

प्रक्रिया में उनमें उलट-फेर तो होता ही है। अब क्रमबद्ध ढ़ंग से विकसित की गई या दृश्यावली जब मन की आँखों के सामने बिना किसी अवरोध के फिल्म की पूरी रील की तरह गुजर जाती है, तभी में कलम हाथ में लेती हूँ और फिर मेरा एक ही उद्‌देश्य रहता है कि जो रील मेरी आँखों के आगे से गुजरी, पटकथा द्वारा उसे दर्शकों की आँखों के आगे से भी गुजार दूँ।'[10]

कुल मिला कर रूपान्तरण जोड़-घटाव का एक समुच्चय है, जिसके लिए सबसे पहले कहानी को पढ़ कर उसे समझें, मूल कथानक से दृश्य निकालें, नए पात्रों का सृजन करें, नए और पुराने पात्रों के सामंजस्य से दृश्यों की कल्पना करें, तत्पश्चात उसे लिपिबद्ध करें। यदि इस पूरी प्रक्रिया में मूल लेखक को साझीदार बनाया जा सके, तो बहुत ही अच्छा क्योंकि इससे बाद में किसी तरह का विवाद पैदा होने की सम्भावना नहीं रहती है।

3. माध्यम का फर्क

साहित्यिक कृतियों पर आधारित फिल्मों पर अक्सर यह आरोप लगता रहा है कि वे उतनी प्रभावी नहीं रहीं, जितनी की साहित्यिक कृति थी। इसके जवाब में दो बातें कही जा सकती हैं। पहली यह कि 'कहानी सुनाने के लिहाज से सिनेमा का फार्म नौटंकी या कथावाचक के करीब माना जा सकता है। उसे चूँकि बहुत सारे दर्शकों का एक साथ मनोरंजन करना है, उन्हें संतुष्टि देनी है, इसलिए वह कथावाचक की तरह मुख्य कथा में कॉमेडियन या विलेन की उपकथाएँ और नौटंकी की तरह नाच-गाना साथ लिए चलता है। ये सभी चीजें कहानी की सहज गति सहित उसके प्रवाह को तोड़ती हैं। प्रवाह बार-बार टूटने से फिल्म का 'टोटल इफेक्ट' नहीं बन पाता और वह कमजोर रह जाती है।'[11]

दूसरी बात यह है कि 'सिनेमा का आकलन गम्भीरता से कभी किया ही नहीं गया, वह गरीब की जोरू रही, जिसे कोई भी लात मार सकता है अथवा यों कह लीजिए कि सिनेमा आंगन में लगी वह तुलसी है, जिसका घर में प्रवेश निषेध है। आज भी अकेले में जिसे देख कर हम आनंदित होते हैं, अपने आप को गुदगुदाते हैं, नैतिकता के मंच पर खड़े होकर उसी की भरपूर आलोचना करते हैं।'[12]

सही मायनों में अगर देखा जाए तो सिनेमाई रचना की साहित्यिक कृति से तुलना उचित प्रतीत नहीं होती है क्योंकि जब हम अपनी पसंद की कोई कहानी अथवा उपन्यास पढ़ते हैं, तो सब कुछ हमारे अपने हाथ में होता है। हम उसे अपनी सुविधा के अनुसार ही पढ़ते हैं। कभी-कभी हम किसी रचना को लगातार पढ़ते ही चले जाते हैं, तो कभी-कभी कोई जरूरी काम पड़ जाने के कारण एक-दो पेज पढ़ कर ही रोक

देना पड़ता है। इसके अलावा किताब पढ़ते समय कोई चीज समझ में न आने या ज्यादा रस मिलने पर हम किसी पैरा को दोबारा पढ़ लेते हैं। पढ़ते समय यदि कोई घटना अथवा सूत्र हमारी पकड़ में नहीं आता है, तो हम किताब के पन्ने पलट कर उसे ठीक से समझ सकते हैं। इस प्रक्रिया से पढ़ी गयी अपनी रुचि की कृति हमारे हृदय में उतरती चली जाती है। फिल्म के साथ इस तरह की एक भी सुविधा नहीं है। उसकी अपनी सीमाएं हैं। अगर हम हॉल में फिल्म देख रहे हों, तो हमें एक ही बार में पूरी पिक्चर देखनी पड़ती है। कोई दृश्य/संवाद समझ में न आने पर न तो उसे दुबारा देखा जा सकता है और न ही ठहर कर उस पर सोच-विचार किया जा सकता है। ऐसी दशा में सिर्फ एक ही रास्ता होता है कि आप उस फिल्म को दुबारा देखें। इस लिहाज से फिल्म और साहित्यिक कृति की स्थितियों में काफी अन्तर है।

असर के नजरिए से अगर हम देखें, तो भी दोनों माध्यमों में बड़ा अन्तर है। 'कहानी या उपन्यास पढ़ते समय पाठक के मन के पर्दे पर पात्रों व घटनाओं के प्रतिबिम्ब बनते जाते हैं। ये प्रतिबिम्ब उसके अपने अंदर से उपजते हैं। घटनाओं की लोकेशन, पात्रों की शक्ल-सूरत, पहनावा, भाव-भंगिमा सब उसकी अपनी कल्पना के होते हैं। हर घटना की व्याख्या भी वह अपने ढ़ंग से करता है। इससे वह खुद-ब-खुद उस सारे माहौल और कैरक्टर्स के साथ एकरस होता जाता है। सिनेमा में इसका उल्टा होता है। यहाँ पर इमेज बाहर से आती है। कहानी या उपन्यास में दिया हुआ चरित्र एक जीते-जागते इन्सान को ओढ़ाया जाता है और दर्शक से यह उम्मीद की जाती है कि वह उसे समझे, जो वह नहीं है। कभी-कभी तो यह मुमकिन हो जाता है, पर अक्सर नहीं ही होता। कहानी पढ़ी हुई न हो, तब यह मुश्किल नहीं आती। लेकिन पहले से पढ़ी हुई बढ़िया साहित्यिक कहानी के अपनी कल्पना में देखे पात्र, फिल्म के पात्रों के मुकाबले ज्यादा असरदार साबित होते हैं इसीलिए फिल्म फीकी लगती है।'[13]

किसी रूपान्तरित फिल्म में किसी चर्चित अभिनेता/अभिनेत्री को लेना भी इस रस को भंग करने में सहायक हो सकता है क्योंकि प्रत्येक फिल्मी अभिनेता/अभिनेत्री की एक बनी-बनाई इमेज होती है। वह इमेज उस कहानी के मूल पात्र की इमेज से मिलती-जुलती हो, यह कोई आवश्यक नहीं। यही कारण है कि कोई भी दर्शक जब उस फिल्म को देखने जाता है, तो उस फिल्म की कहानी में मूल पात्र की जगह उस अभिनेता/अभिनेत्री की व्यक्तिगत इमेज हावी हो जाती है। इससे दर्शक के सामने एक दुविधा की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और वह फिल्म का पूरा मजा नहीं ले पाता। साहित्यिक कृति पर फिल्म बनाते समय निर्माता-निर्देशक यदि इस बिन्दु को भी अपने ध्यान में रखें, तो इस कमजोरी से बचा जा सकता है।

इसके अलावा एक और चीज है जो सिनेमाई कृति के विरोध में जाती है और वह है दर्शक की दखलंदाजी की प्रवृत्ति। आमतौर से होता यह है कि 'जब कोई आदमी किसी स्टोरी को पढ़ता है, तो उसके सब-कांशस (अवचेतन मस्तिष्क) में यह बात बैठी रहती है कि रायटर ने जो कुछ लिखा है, वह एक 'यूनीवर्सल ट्रुथ'(सार्वभौम सत्य) है। मिसाल के तौर पर हम 'गाइड' फिल्म को लेते हैं। जब वे उस नॉवेल को पढ़ते हैं, तो उससे उन्हें राजू को गल्ती से महात्मा मान लेते की बात अटपटी तो लगती है, लेकिन वे उसे 'ऐज-इट-इज' एक्सेप्ट कर लेते हैं। लेकिन जब वे उसी नॉवेल पर बनी फिल्म देखते हैं, तो वह अटपटाहट खुल कर सामने आ जाती है। ...और तब वही राजू उन्हें एक चालबाज और फ्रॉड कैरेक्टर लगने लगता है। उन्हें लगता है कि इस रिप्रोडक्शन में राजू को ऐसा होना चाहिए था, ...उसे ऐसा दिखना चाहिए था, ...वगैरह-वगैरह और इसीलिए वह फिल्म ओरिजनल स्टोरी से कमतर लगने लगती है।'[14]

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि किसी साहित्यिक कृति से प्रेरित होकर कोई अच्छी फिल्म तो बनाई जा सकती है, किन्तु 'किसी भी लिटरेरी वर्क को टोटली एडाप्ट (रूपांतरित) किया ही नहीं जा सकता। इसकी वजह यह है कि सिनेमा को एक बहुत बड़े दर्शक वर्ग को खुश करना होता है, जिसमें कम पढ़े-लिखे, अनपढ़, अमीर, गरीब, श्रमजीवी व बुद्धिजीवी सभी शामिल होते हैं। इन सबको एक साथ खुश रखने की कोशिश में सिनेमा को साहित्य में मिलावट करनी पड़ती है। फिर फिल्म निर्माण के बड़े खर्चे को देखते हुए शुद्ध साहित्य पर शुद्ध साहित्यिक फिल्म बनाना मुश्किल काम है। साहित्य में यह समस्या सामने नहीं आती क्योंकि साहित्यिक रचना पढ़ने के शौकीन पाठक का मतलब ही है एक संस्कार, एक अभिरुचि। लेखक पाठक को लगातार एक बहाव में लिये चला जा सकता है, लेकिन फिल्म के निर्देशक को व्यापारिक पक्ष के मद्देनजर इस बहाव को तोड़ना पड़ता है। यही चीज साहित्यिक रुचि के दर्शक को खटक जाती है।'[15]

4. पटकथाकार की समझ

रूपान्तरण एक प्रकार से पुनर्निमाण की प्रक्रिया है, जिसमें पटकथाकार साहित्यिक रचना को अपनी समझ के अनुसार पर्दे पर ढ़ालता है। यदि रूपांतरकार की समझ परिवक्व है, तो 'अर्धसत्य' जैसी सार्थक फिल्म की रचना कर देता है। लेकिन यदि रूपान्तरकार कुछ ज्यादा ही 'होशियार' किस्म का है, तो उसका हश्र 'मैला आंचल' और 'मुझे चांद चाहिए' उपन्यास पर बने धारावाहिकों जैसा होता है।

अक्सर यह देखा गया है कि 'प्रसिद्ध रचनाओं में जो लेखक होता है, वह पूरा वातावरण लिखित कृति के अनुरूप रचता है। उसे फिल्म के रूप में जब ले जाते हैं, तो माध्यम की अनिवार्यताओं के अनुरूप कुछ परिवर्तन करने पड़ सकते हैं क्योंकि यह हो सकता है कि निर्देशक ने किसी पात्र को किस तरह ग्रहण किया है और पटकथा लेखक उन भावनाओं को किस तरह दृश्यों में ढ़ाल रहा है। मूल कथा के दृश्यों को नई रंगत भी मिल सकती है। जरूरी नहीं कि मूल कृति के दृश्य को ज्यों का त्यों लिखा गया हो, उसमें दृश्य के स्तर पर कोई सिम्बल, कोई इशारा, कोई संकेत डाल कर सम्प्रेषण की शक्ति ही बदली जा सकती है। यह कल्पना शक्ति और इशारे पर बहुत निर्भर करती है।'[16]

यह इस देश की विडम्बना है कि यहाँ सार्थक सिनेमा को भी वह सम्माननीय स्थान प्राप्त नहीं हो पाया है, जोकि साहित्य को मिला हुआ है। जबकि 'साहित्य यदि 'शब्द रूपी अंडा' है, तो फिल्म अथवा फिल्मी संगीत वह पक्षी है, जो स्थाणु अंडे को अपने पंखों तले सेकर उसे गगन विहार करने योग्य बनाता है। रूपान्तरकार को यह भान होना चाहिए कि जो विषय उसने चुना है, उसमें एक सफल फिल्म की सम्भावनाएं कितनी हैं। यहाँ सफलता से हमारी मुराद केवल ऐसी फिल्मों से नहीं है, जो टिकट खिड़की पर ही सराही जा सकें। यद्यपि वह भी होना चाहिए क्योंकि यह एक खर्चीली विधा है। एक बेटी के दहेज, रहने के मकान और औसत व्यक्ति की आजीवन कमाई से भी कहीं अधिक पैसा लीलने वाली, जबकि लेखन में केवल कलम और कागज का ही खर्चा है। उदाहरणार्थ लिखने वाले ने एक पंक्ति लिखी, 'सुबह का सूर्य, जिसके सामने से एक पंछी पूर्व से पश्चिम की ओर जा रहा था।'

'लेखक ने तो लिख दिया किन्तु अब सिनेमा को भी समझ लीजिए। इस दृश्य को फिल्माने के लिए कम से कम छह सहयोगियों के साथ निर्देशक को सुबह-सवेरे सूर्योदय से पूर्व ही एक ऊंचे टीले, पहाड़ी, छत अथवा खुली जगह पर अपना कैमरा जाम कर रखना होगा। फिर सूरज किसी का गुलाम नहीं है, निकला निकला, न निकला। चलिए निकल भी आया, तो पंछी सिनेमा वालों का कलाकार नहीं है कि सूरज के ऐन सामने से उड़ेगा ही। वह भी ठीक पूरब से पश्चिम दिशा की ओर। यदि ऐसा न हुआ, तो दूसरा दिन ..... तीसरा दिन ..... यदि यह दृश्य कहानी को आगे बढ़ाने के लिए अति आवश्यक है, और दिन बरसात के हैं, तो सूर्योदय तो दर्शन देंगे ही नहीं और वह भी मुम्बई जैसी बरसात में? अब क्या हो?

'काम न रुके, इसलिए स्टूडियो में ही आसमान और सूरज को उगाने की व्यवस्था की जाएगी। इसे ही 'सेट' कहते हैं। फिर किसी बहेलिए का बंदोबस्त किया

जाएगा जो कथित पंछी को अपने साथ लाए और सूरज के सामने से उड़ाने का जतन करे। पंछी सधाया हुआ न हुआ, तो बहेलिया की मानेगा क्या? सधाया हुआ पंछी है भी, तो उसके अलग पैसे। फिल्मों के लिए मिट्टी और पानी तक मुफ्त नहीं मिलते। दूसरी सूरत में यदि कहानी के लिए यह 'शॉट' उतनी बड़ी जरूरत नहीं है, तो निर्देशक कई चीजों से समझौता कर लेगा। अर्थात पंछी किसी भी दिशा में उड़े, उड़े न उड़े, क्या फर्क पड़ता है? किन्तु नहीं, आलोचक महोदय फिल्मकार को कभी माफ नहीं करेंगे। उन्हें तो अपनी महानता और सजगता दोनों एक साथ सिद्ध करने हैं। वे लिखेंगे- 'फिल्मकार उपन्यास के साथ न्याय नहीं कर पाया।'[17]

सामान्यतः होता यह है कि जब किसी साहित्यिक कृति के रूपान्तरण के समय उसकी घटनाओं में कोई परिवर्तन सुझाया जाता है, तो मूल लेखक को यह पसंद नहीं आला। उसे लगता है कि पटकथाकार उसकी लेखकीय समझ को कमतर साबित करने की कोशिश कर रहा है। लेकिन सभी लेखक ऐसे नहीं होते। प्रगतिशील और व्यवहारिक लेखक इस बात को भलीभाँति समझते हैं। ऐसे ही एक प्रतिष्ठित रचनाकार हैं श्री लाल शुक्ल। उनके उपन्यास 'राग दरबारी' में एक पात्र है लंगड़। वह एक ऐसा व्यक्ति है, जो घूस देकर कोई काम करवाने के सख्त खिलाफ है। उसे कचेहरी से 'नकल' निकलवाने की जरूरत पड़ती है। इसके लिए वह अपनी एड़ी-चोटियाँ कर देता है, पर उसमें सफल नहीं हो पाता है। जब 'राग दरबारी' पर धारावाहिक बन रहा था। उस समय उसके निर्देशक ने मूल लेखक के सामने यह सुझाव रखा कि अगर लंगड़ को कचेहरी में 'नकल' में इंतजार में मरते हुए दिखाया जाए, तो व्यवस्था पर अच्छा व्यंग्य होगा। श्रीलाल शुक्ल ने उस सुझाव की भूरि-भूरि प्रशंसा की। दर्शकों के बीच भी यह परिवर्तन खूब सराहा गया।

अक्सर यह देखा गया है कि 'अपने माध्यम की आवश्यकताओं के कारण निर्देशक अपना जुआ नहीं डालता और यदि उसके तर्क में सच्चाई है, तो वह जीत ही नहीं जाता, कालजयी सिनेमा का निर्माण भी कर देता है। हम बात कर रहे हैं फिल्म 'गाइड' की, जो दो भाषाओं में बनी थी, अंग्रेजी और हिन्दी। अंग्रेजी संस्करण का निर्देशक अक्षरशः लेखक की लीक पर चला था। कहानी यह थी कि एक गाइड को गाँव के भोले-भाले लोग अज्ञानतावश साधू समझ कर यह मान बैठते हैं कि अपने हठयोग से वह उनके सूखाग्रस्त गाँव पर बरखा बरसा देगा। लेखक के अनुसार वह मर जाता है, किन्तु बारिश नहीं होती। गाँव वालों का नग्न सत्य से साक्षात्कार हो जाता है। अंग्रेजी संस्करण में दिखाया भी यही गया है। किन्तु आज कहीं भी, राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उस फिल्म की चर्चा नहीं होती, न ही उसे कोई महत्व मिलता

है। दूसरी ओर, हिन्दी संस्करण के निर्देशक विजय आनन्द ने भारत के जनमानस को पहचाना, उसकी आस्थाओं, विश्वास और भक्ति पर भरोसा किया और कहानी का अंत बदल दिया। एक दृश्य में एक अंग्रेजी पत्रकार द्वारा साक्षात्कार के समय पूछे गए प्रश्न, 'स्वामी जी, क्या आपको विश्वास है कि बारिश होगी?' स्वामी जी का चरित्र उत्तर देता है कि मुझे इस असंख्य जनता के विश्वास पर विश्वास है। ...और पानी बरसता है। दर्शक को काव्यात्मक न्याय (पोएटिक जस्टिस) मिलता है और फिल्म को अभूतपूर्व सफलता।'[18]

कहने का आशय यह है कि पटकथाकार यदि अपने कर्म के प्रति ईमानदार हो, उसकी साहित्य के प्रति अच्छी समझ हो, तो साहित्य रचना के साथ न्याय करते हुए वह 'हीरा-मोती' (लेखक-प्रेमचंद, निर्देशक-कृष्ण चोपड़ा), 'गोदान' (लेखक-प्रेमचंद, निर्देशक-त्रिलोक जेतली), 'शतरंज के खिलाड़ी' (लेखक-प्रेमचंद, निर्देशक-सत्यजीत रे), 'चित्रलेखा' (लेखक-भगवतीचरण वर्मा, निर्देशक-केदार शर्मा), 'तीसरी कसम' (लेखक-फणीश्वनाथ रेणु, निर्देशक-बासु चटर्जी), सारा आकाश (लेखक-राजेन्द्र यादव, निर्देशक-बासु भट्टाचार्य) जैसी यादगार फिल्में दे सकता है। ये वे फिल्में हैं, जिन्होंने न सिर्फ साहित्यिक रचनाओं की गरिमा का मान रखा, वरन सफलता के झंडे भी गाड़े। यदि इन फिल्मों का सन्दर्भ ग्रन्थ की तरह अध्ययन किया जाए, तो पटकथाकारों को बहुत कुछ सीखने को मिल सकता है।

सन्दर्भ सूची

1. गोविन्द निहलानी, 'पटकथा लेखन कार्यशाला', 17-22 अक्टूबर, 2005, फिल्म बंधु, लखनऊ
2. मन्नू भण्डारी, 'कथा-पटकथा', पृष्ठ-12
3. वही, पृष्ठ-13
4. अंजुम रजब अली, 'पटकथा लेखन कार्यशाला', 17-22 अक्टूबर, 2005, फिल्म बंधु, लखनऊ
5. 'कथा-पटकथा', पृष्ठ-14
6. 'पटकथा लेखन : एक परिचय', पृष्ठ-25
7. 'मीरा', पृष्ठ-28
8. मनोहर श्याम जोशी, 'पटकथा लेखन : एक परिचय', पृष्ठ-24

9. विनय शुक्ला, 'पटकथा लेखन कार्यशाला', 17-22 अक्टूबर, 2005, फिल्म बंधु, लखनऊ
10. 'कथा-पटकथा', पृष्ठ-14
11. गुलजार, 'इंडिया टुडे-साहित्य वार्षिकी', 1992, पृष्ठ-192
12. कृष्ण राघव, हिन्दी साहित्य और सिनेमा का अंतर्सम्बन्धः एक आकलन, 'अक्षरा' मई-जून, 2005, पृष्ठ-16
13. गुलजार, 'इंडिया टुडे-साहित्य वार्षिकी', 1992, पृष्ठ-192
14. जावेद अख्तर, पटकथा लेखन कार्यशाला', 17-22 अक्टूबर, 2005, फिल्म बंधु, लखनऊ
15. गुलजार, 'इंडिया टुडे-साहित्य वार्षिकी', 1992, पृष्ठ-189
16. गुलजार, 'मीरा', पृष्ठ-28
17. कृष्ण राघव, हिन्दी साहित्य और सिनेमा का अंतर्सम्बन्धः एक आकलन, 'अक्षरा' मार्च-अप्रैल, 2005, पृष्ठ-72
18. वही, पृष्ठ-19

अध्याय-7

वृत्तचित्र (डाक्यूमेन्ट्री)

डाक्यूमेन्ट्री का शाब्दिक अर्थ वृत्तचित्र होता है। वृत्तचित्र से आशय ऐसी फिल्म से है, जिसमें किसी महत्त्वपूर्ण तथ्य को चित्रों द्वारा रुचिकर बना कर प्रस्तुत किया गया है। 'डाक्यूमेन्ट्री शब्द का उद्‌भव डाक्यूमेन्ट से है, जिसका अर्थ है दस्तावेज यानी वह महत्त्वपूर्ण तथ्य या सूचना, जिसे बतौर सनद आने वाले समय के लिए सुरक्षित रखा जा सके। जन संचार माध्यम के रूप में डाक्यूमेन्ट्री अथवा वृत्तचित्र भी यही काम करते हैं।'[1]

परिभाषिक रूप में वृत्तचित्र (डाक्यूमेन्ट्री) की कोई निश्चित परिभाषा नहीं है। उपलब्ध जानकारी के अनुसार सन् 1922 में रॉबर्ट जोसेफ ने उत्तरी ध्रुव के एक एस्किमो परिवार की जीवनचर्या पर 'Nanook of the North' नाम फिल्म बनाई थी। इसे ही विश्व इतिहास की पहली डाक्यूमेन्ट्री का दर्जा प्राप्त है। बाद में इसी डाक्यूमेन्ट्री फिल्म के आधार पर इसकी यह परिभाषा निश्चित की गयी-

'Tha documentary as a non fiction film depicting real life, Situation with individual often describing their feelings and expereriences in an unrehearsed manner to a camera or on interviewer. Documentaries are frequently shot without a script and at a much lower ratio of usable footage than a feature film. They can be on location or simply assembled from arechivel material.'[2]

डाक्यूमेन्ट्री फिल्म का उद्‌भव आम जनता को नई-नई जानकारियाँ देने के उद्‌देश्य से किया गया था। प्रारम्भ में जो डाक्यूमेन्ट्री बनती थी, उनमें पर्दे पर चित्र चलते रहते थे और पीछे से उद्‌घोषक उनके बारे में बताता रहता था। जैसे-जैसे समय बीतता गया, कल्पना के धनी मनुष्य ने उसके नए-नए रूपों का सृजन कर डाला। वर्तमान में प्रचलित स्वरूपों के आधार पर वृत्तचित्र के तीन प्रकार बताए जाते हैं - 1. डाक्यूमेन्ट्री, 2. डाक्यूड्रामा, 3. ड्रामॉटाइज्ड डाक्यूमेन्ट्री।

डाक्यूमेन्ट्री

डाक्यूमेन्ट्री वह है, जिसमें पर्दे पर किसी विषय से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के दृश्य दिखाए ज़ाते हैं और 'वॉयस ओवर' के रूप में पर्दे के पीछे से कमेन्ट्री चलती

रहती है। इस डाक्यूमेन्ट्री को तैयार करने की दो मुख्य रीतियाँ हैं। पहले विषय से सम्बन्धित दृश्य शूट कर लेना, तत्पश्चात कमेन्ट्री लिखना।

'इस तकनीक में निर्देशक पहले शूटिंग कर लेता है और फिर एक कागज पर उस फिल्म की रूपरेखा बना लेता है। फिल्म की भाषा में उसे 'स्टोरी' कहते हैं। उससे उस फिल्म की प्रस्तावित अवधि के मुताबिक दृश्यावलियाँ निर्धारित कर ली जाती हैं और दृश्य की अवधि भी सामने लिख दी जाती है। इस कागज के टुकड़े को 'डोप शीट' कहते हैं। यही 'डोप शीट' लेखक को पकड़ा दिया जाता है और उसे हर दृश्य के सामने लिखी हुई अवधि के मुताबिक शब्द भरना होता है। मान लीजिए कि पहले दृश्य की अवधि 30 सेकेण्ड है, तो लेखक 60-62 शब्दों में उस दृश्य के बारे में लिखेगा। इसमें शब्द सीमा का ध्यान रखना बहुत आवश्यक माना जाता है। आमतौर पर यह माना जाता है कि एक सेकेण्ड में वाचक दो शब्द बोलता है, इसलिए एक मिनट में 120-125 शब्दों का हिसाब सही बैठता है।'[3]

डाक्यूमेन्ट्री लेखन में एक-एक शब्द का महत्त्व होता है। पटकथा में आया एक भी अनावश्यक शब्द दृश्य के साथ शब्दों का तारतम्य बिगाड़ सकता है, इसलिए 'यह जरूरी है कि आपकी कमेन्ट्री दिखाए जा रहे शॉट के मैच करे। ऐसा न हो कि शॉट दिख रहा हो लाला अमरनाथ का और बात चल रही हो विजय मर्चेंट की। इसका मतलब यह है कि लाला अमरनाथ वाली बात वहीं खत्म हो जानी चाहिए, जहाँ लाला अमरनाथ से सम्बद्ध शॉट खत्म हुए थे। ...अगर आप मूल कमेन्ट्री लिख रहे होते हैं, तो इस बात की थोड़ी गुंजाइश रहती है कि अगर फुटेज उपलब्ध हो तो 'सिंक' में आपसे हुई गड़बड़ियों को छिपाने के लिए सम्पादक जरूरत के मुताबिक लेंथ कहीं घटा और कहीं बढ़ा दे।

'.... अच्छा कमेन्ट्री लेखक वह माना जाता है, जिसका आलेख पूरी तरह से 'सिंक' में हो और उसके वाक्यों या वाक्यांशों में बिलकुल वही लय हो, जो शॉटों के सम्पादन में रखी गयी हो। इसका मतलब यह है कि जहाँ शॉट बदल रहा हो, वहीं आपका वाक्य या वाक्यांश भी बदल रहा हो। जैसे यह-

वीडियो	आडियो
हिमालय की किसी चौकी पर सिपाही।	भारत की उत्तरी सीमा का प्रहरी है
जूम आउट टू हिमालय का एक्स्ट्रीम लॉंग (वाइड) शॉट।	हिमालय (संगीत)
झटके से जूम-इन कर-करके हिमालय के क्रमशः पास आते शॉट-पहला।	गर्वोन्नत

दूसरा	अडिग
तीसरा	और अजेय।'[4]

लेखक के लिए उचित यही है कि निर्देशक 'एडीटिंग टेबिल पर जाने से पहले पटकथा लिखवा ले, क्योंकि अगर एडीटिंग के बाद आपसे पटकथा या 'नैरेशन' लिखने को कहा जा रहा है तो याद रखिए कि आप बहुत मुश्किल में फंसने जा रहे हैं। क्योंकि ऐसे में आप की पटकथा में एक भी फालतू शब्द नहीं होना चाहिए, नहीं तो आपका 'नैरेशन' उस दृश्य के साथ सिंक नहीं करेगा। वास्तव में डाक्यूमेन्ट्री लेखन में लेखक की रचनात्मकता की परीक्षा यही होती है कि कैसे कम-से-कम शब्दों में आवश्यक बात कह दे। इसीलिए एडीटिंग के बाद पटकथा लिखना बहुत श्रमसाध्य हो जाता है।'[5]

डाक्यूमेन्ट्री लिखने का दूसरा तरीका यह है कि पहले विषय का चुनाव करके पटकथा लिखी जाए, उसके बाद उसका फिल्मांकन किया जाय। यह तरीका काफी पुराना है, लेकिन इसमें एक खामी यह है कि अक्सर निर्माता-निर्देशक को इच्छित दृश्यावलियाँ नहीं मिल पाती हैं। ऐसे में लेखक को बार-बार अपनी पटकथा में संशोधन करना पड़ता है।

वस्तुतः डाक्यूमेन्ट्री में तीन चीजें ही महत्त्वपूर्ण हैं- विषय, अवधि और तथ्यों का संकलन। इसके लिए लेखक को गम्भीरतापूर्वक शोध कार्य करना पड़ता है। अब मान लीजिए कि आपको फुटबाल पर एक डाक्यूमेन्ट्री बनानी है। इसके लिए आपको 'सर्वप्रथम फुटबाल का महत्त्व, लोक प्रचलन का उल्लेख करना पड़ेगा, प्रमुख आयोजन गिनाने पड़ेंगे। इतना ही नहीं, विषयानुकूल एवं समयानुकूल फुटबाल बनाने की प्रक्रिया, बनाने की सामग्री, उसका बाजार, कारीगरों की स्थिति आदि का भी उल्लेख करना उचित होगा। उदाहरणार्थ पटकथा की एक रूपरेखा देखी जा सकती है-

शॉट का विवरण	**दृश्य बंधीकरण**	**समय**	**ध्वनि**
विभिन्न फुटबाल मैचों के दृश्य	फाइल से (स्टॉक शॉट)	30 सेकेण्ड	मैदानी खेलों का एक महत्त्वपूर्ण खेल है फुटबाल। जिसके बारे में कहावत है कि यह ताकत का खेल है।
ब्राजील के खिलाड़ी और दर्शक, इटली के खिलाड़ी	एक लॉग, एक मिड शॉट साथ में	10 सेकेण्ड	यह खेल विश्व स्तर पर लोकप्रिय है। ब्राजील व इटली आदि का यह राष्ट्रीय खेल है।

फ्रांस का नगर, स्टेडियम का दृश्य, ग्राउन्ड पर प्रैक्टिस करते खिलाड़ी	लॉग शॉट, लॉग शॉट, लॉग शॉट, मिड शॉट,	10 सेकेण्ड 10 सेकेण्ड 10 सेकेण्ड	इस वर्ष फुटबाल विश्व कप आयोजित हो रहा है, फ्रांस में।'[6]

डाक्यूमेन्ट्री एक ऐतिहासिक दस्तावेज की हैसियत रखती है। यह न केवल अनदेखी अनचीन्ही जानकारी से हमारा परिचय कराती है, वरन हमें अपने अतीत में झाँकने का सुवअसर भी प्रदान करती है। डाक्यूमेन्ट्री लेखन में शोध कार्य पर विशेष बल दिया जाता है और प्रमाणिक सामग्री का ही उपयोग किया जाता है। किसी पुरानी शख्सियत/इमारत/गणना आदि के बारे में डाक्यूमेन्ट्री बनाने के लिए प्रायः स्टाक शाट्स (लाइब्रेरी चित्र) का सहारा लिया जाता है। इस तरह की डाक्यूमेन्ट्री में ऐसे बुजुर्ग लोगों के साक्षात्कार भी महत्त्वपूर्ण होते हैं, जो उन तथ्यों के प्रत्यक्षदर्शी रहे हों। इससे न सिर्फ डाक्यूमेन्ट्री की विश्वसनीयता में बढ़ोत्तरी होती है बल्कि उसमें जीवंतता का भी समावेश होता है।

डाक्यूड्रामा

तथ्यों की अधिकता के कारण डाक्यूमेन्ट्री प्रायः नीरसता का शिकार होती है। ऐसे में दर्शक का मन उचप्ने की सम्भावना प्रबल हो जाती है। इस कमी को दूर करने के लिए डाक्यूमेन्ट और ड्रामा को मिला कर डाक्यूमेन्ट्री की एक नई शैली का निर्माण किया गया। उस शैली का नाम है डाक्यूड्रामा। 'यह मूलतः नाटक है, जिसमें नाटक की मूल समस्या से सम्बन्धित तथ्यों को कथानक के साथ बुना जाता है।'[7]

अपनी नाटकीय शैली के कारण डाक्यूमेन्ट्री की यह शैली काफी लोकप्रिय है और आजकल टी.वी. चैनलों में बहुतायत में प्रयोग में लायी जाती है। 'गैर-व्यवसायिक टी.वी. डाक्यूड्रामा शैली का प्रयोग लोगों के ज्ञानवर्धन के लिए करता है। जिसके माध्यम से वह आधुनिक दौर के महापुरुषों के जीवन पर, महान आन्दोलनों पर और महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर प्रकाश डाल रहा है। मैं समझता हूँ कि आगामी वर्षों में हमारे टी.वी. पर भी डाक्यूड्रामा का प्रचलन बढ़ेगा क्योंकि हमारे जनमानस में सत्यकथा के लिए जबरदस्त आकर्षण है। 'इंडियाज मोस्ट वाण्टेड' की सफलता इसी का सबूत है।'[8]

डाक्यूड्रामा पूरी तरह से चूँकि नाटक पर आधारित होता है, इसलिए इसकी पटकथा फिल्म/धारावाहिक की तरह ही लिखी जाती है। सामान्य डाक्यूमेन्ट्री की तुलना में डाक्यूड्रामा अधिक समय, अधिक धन और बड़े दल की मांग करता है।

ड्रामाटाइज्ड डाक्यूमेन्ट्री

ड्रामाटाइज्ड डाक्यूमेन्ट्री, डाक्यूमेन्ट्री और डाक्यूड्रामा के बीच की चीज है। डाक्यूमेन्ट्री में तथ्यपरक कमेंट्री दृश्यों (विजुअल्स) के साथ परोसी जाती है, तो डाक्यूड्रामा में तथ्यों को पूरी तरह से ड्रामा के बीच में पिरो कर प्रस्तुत किया जाता है। लेकिन ड्रामाटाइज्ड डाक्यूमेन्ट्री में यह दोनों शैलियाँ एक साथ देखने को मिलती हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि डाक्यूमेन्ट्री और डाक्यूड्रामा के संयोग से ड्रामाटाइज्ड डाक्यूमेन्ट्री का निर्माण होता है।

काफी समय पहले श्याम बेनेगल के निर्देशन में 'भारत : एक खोज' धारावाहिक का निर्माण हुआ था। यह धारावाहिक जवाहर लाल नेहरू की पुस्तक पर आधारित था। इस धारावाहिक में सूत्रधार द्वारा भारत के इतिहास को विस्तार से बताया गया है। बीच-बीच में सूत्रधार पर्दे से गायब हो जाता था और सम्बन्धित घटनाक्रम नाटक के रूप में पर्दे पर आने लगता था। इस प्रकार सूत्रधार के रूप में यह धारावाहिक जहाँ डाक्यूमेन्ट्री का पुट देता था, वहीं घटनाओं से जुड़े नाटक डाक्यूड्रामा शैली पर आधारित थे और इन दोनों के मिश्रण से उस ड्रामाटाइज्ड डाक्यूमेन्ट्री का निर्माण हुआ था।

'अभी कुछ समय पूर्व 'नेशनल ज्योग्राफिकल' चैनल पर प्रसारित, प्रागैतिहासिक मानव से सम्बन्धित एक वृत्तचित्र का उदाहरण पेश करना चाहता हूँ। इस वृत्तचित्र के मुख्य नैरेटर एक इन्थ्रोपॉलिजिस्ट थे, जो अपनी प्रयोगशाला में कुछ चार्ट और पाषाणकालीन मानव के अस्थि अवशेषों और मॉडलों की सहायता से उनके काम करने के ढ़ंग, उनके चलने-फिरने और पत्थरों के औजार बनाने तथा उनके उपयोग के बारे में बता रहे थे। ....मिसाल के लिए एक दृश्य इस प्रकार था–

'प्रोफेसर महोदय पत्थर का एक औजार दिखाते हैं। कैमरा उस 'टूल' पर प्रोफेसर के हाथों के क्लोजअप तक जूम करता है। पीछे से प्रोफेसर की आवाज में कमेण्ट्री चल रही है, जिसमें वह बता रहे हैं कि उसे हमारा वह पुरखा किस काम के लिए इस्तेमाल करता था। स्क्रीन पर हम प्रोफेसर द्वारा किया जाने वाला एक्शन देख रहे हैं और वह शॉट क्रमशः एक चट्टानी मैदान के दृश्य में डिजाल्व हो जाता है, जहाँ दो पुरातन मानव बैठे हुए एक पत्थर के टुकड़े के टूटे हुए किनारे को दूसरे पत्थर से घिस कर उस पर धार बना रहे हैं। एक अन्य पुरुष एक मरे हुए पशु को लाकर वहाँ पटक देता है और उसी प्रकार के टूल से उसकी खाल उतारने लगता है। पृष्ठभूमि से वह सारा दृश्य नैरेट किया जा रहा है। यह आइटम पूरा हो जाने पर सीन डिजाल्व होकर वापस स्टूडियो में प्रोफेसर पर लौटता है और दूसरे आइटम पर बात आरम्भ करते हैं।'[9]

डाक्यूमेन्ट्री के इन तीनों रूपों का मकसद एक ही है। सम्बन्धित सूचना को सही ढ़ंग से दर्शकों तक पहुँचाना। तीनों शैलियों की अपनी-अपनी महत्ता और अपनी-अपनी पकड़ है। अगर इस तीनों शैलियों में कोई सबसे बड़ा फर्क है तो वह है लागत का। डाक्यूड्रामा के निर्माण में जहाँ काफी अधिक लागत आती है, वहीं साधारण डाक्यूमेन्ट्री कम खर्च में तैयार हो जाती है। जबकि ड्रामाटाइज्ड डाक्यूमेन्ट्री की लागत डाक्यूमेन्ट्री से थोड़ी ज्यादा और डाक्यूड्रामा से थोड़ी कम होती है।

सन्दर्भ सूची

1. कुमुद नागर, 'टेलीविजन लेखन : सिद्धान्त और प्रयोग', पृष्ठ-54
2. वही
3. असगर वजाहत, प्रभात रंजन, 'टेलीविजन लेखन', पृष्ठ-61
4. मनोहर श्याम जोशी, 'पटकथा लेखन : एक परिचय', पृष्ठ-146-147
5. 'टेलीविजन लेखन', पृष्ठ-61
6. कुलभूषण, डाक्यूमेन्ट्री लेखन कला, 'मीडिया लेखन', पृष्ठ-83
7. कुमुद नागर, 'टेलीविजन लेखन : सिद्धान्त और प्रयोग', पृष्ठ-58
8. मनोहर श्याम जोशी, 'पटकथा लेखन : एक परिचय', पृष्ठ-148
9. 'टेलीविजन लेखन : सिद्धान्त और प्रयोग', पृष्ठ-61

परिशिष्ट

परिशिष्ट 1–कैमरे की सर्जनात्मकता

यूं तो फिल्म में कई कलाकार अपनी भूमिका निभाते हैं, लेकिन यदि वास्तव में देखा जाए तो फिल्म का सबसे बड़ा कलाकार कैमरा होता है। कैमरा न सिर्फ वह होते हुए दिखाता है, जो कलाकार करते हैं बल्कि कैमरा वह भी होते हुए दिखाता है, जो कलाकार कभी नहीं करते। कहने का आशय यह है कि कैमरा अपने तकनीकी कौशल के कारण फिल्म में किसी बड़ी से बड़े कलाकार की तुलना में भी उससे बड़ा काम करता है। पटकथा की बारीकियों को समझने के लिए सबसे पहले कैमरे की गतिविधियों (मूवमेंट्स) को जानना आवश्यक है। यूं तो फिल्म में कैमरे के असंख्य प्रयोग हैं और नित नए अध्याय उसमें जुड़ते जा रहे हैं, फिर भी कैमरे से जुड़ी कुछ महत्त्वपूर्ण क्रियाएँ-प्रक्रियाएँ इस प्रकार हैं–

1. रोल कैमरा

'रोल कैमरा' का आशय है कैमरा चलाना। शूटिंग स्थल पर शूटिंग शुरू होने के पहले निर्देशक कैमरामैन को 'रोल कैमरा' का आदेश देता है और इसी के साथ सम्बन्धित दृश्य की शूटिंग प्रारम्भ हो जाती है।

2. फ्रेम

कैमरा ऑन करने पर उसके 'व्यू मिरर' में जितना दृश्य दिखाई पड़ता है, उसे 'फ्रेम' कहा जाता है। किसी कैमरे के 'फ्रेम' में दिखने वाला दृश्य ही उस कैमरे के द्वारा रिकार्ड किया जाता है।

3. शॉट

एक बार शुरू होने के बाद कैमरा बिना रुके जो कुछ रिकार्ड करता है, वह एक 'शॉट' कहलाता है। सामान्यतः एक दृश्य में कई शॉट होते हैं। शूटिंग के समय इन्हें अलग–अलग शूट किया जाता है, जो बाद में सम्पादक की मेज (एडिटिंग टेबिल) पर जोड़े जाते हैं। इस प्रकार वे 'शॉट' जुड़ कर एक नए दृश्य का निर्माण करते हैं।

4. कैमरा एंगल

कैमरा तैयार होने की दशा में निर्देशक द्वारा 'एंगल ऑन' का आदेश दिया जाता है। एक बार 'शॉट' ओके हो जाने के बाद उसी 'शॉट' को दूसरे एंगल से शूट करने के लिए 'एनादर एंगल' टर्म का उपयोग किया जाता है। इस तरह 'टू शॉट'

के समय एक पात्र के सामने से 'शॉट' लेने के बाद जब दूसरे पात्र के सामने से 'शॉट' लेना होता है, तो 'रिवर्स एंगल' की शब्दावली का प्रयोग करते हैं। इससे दोनों पात्रों के खड़े होने की स्थितियाँ बदल जाती हैं। इसी सम्बन्ध में दो अन्य शब्द इस्तेमाल में लाए जाते हैं- 'वाइडर एंगल' और 'टाइटर एंगल', जिनका क्रमशः अर्थ है चौड़ा एवं संकरा फ्रेम। 'वाइडर एंगल' में पहले से मौजूद 'फ्रेम' को और चौड़ा तथा 'टाइटर एंगल' में पहले से मौजूद 'फ्रेम' को संकरा कर दिया जाता है।

5. वाइड शॉट

इसे 'स्टेब्लिशमेन्ट शॉट' भी कहते हैं। स्टेशन पर प्रतीक्षा करते समय, लाइब्रेरी में अध्ययन करते हुए, न्यायलय में केस की सुनवाई आदि के समय इस शॉट का उपयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त स्टेडियम में खेलते हुए खिलाड़ी, युद्धरत सेनाएँ, उगते हुए सूरज और बर्फ से ढ़की चोटियां आदि दिखाने के लिए भी इसी शॉट का सहारा लिया जाता है।

6. लाँग शॉट (एल0एस0)

इस शॉट में व्यक्ति के सिर से लेकर पाँव तक का हिस्सा दिखाया जाता है। दर्शक को घटना स्थल से परिचित करवाने, किसी आगंतुक का स्वागत करने व टहलते हुए पात्र की बेचैनी दिखाने आदि के लिए यह शॉट उपयुक्त होता है।

7. मिड शॉट (एम0एस0)

मिड शॉट में पात्र के सिर से लेकर कमर तक के हिस्से को दिखाया जाता है। किसी पात्र के व्यक्तित्व का परिचय देने, व्यक्ति द्वारा काम में तल्लीन होने, फोन से बात करने आदि के समय मिड शॉट का उपयोग किया जाता है।

8. क्लोज शॉट (सी0एस0)

क्जोज शॉट में पात्र के शरीर का एक तिहाई हिस्सा (सिर से लेकर कंधे तक) प्रदर्शित होता है। इसे 'रिएक्शन शॉट' भी कहते हैं। इसका प्रयोग किसी व्यक्ति से बात करते समय प्रतिक्रिया पर ध्यान केन्द्रित करने, चेहरे की भाव-भंगिमा को व्यक्त करने में किया जाता है।

9. क्लोज अप (सी0यू0)

सन् 1908 में बनी 'आफ्टर मेनी इयर्स' फिल्म में ग्रीफिथ ने पहली बार क्लोज अप का प्रयोग किया था। इस दृश्य में नायिका अपने पति के बारे में सोच रही थी। इस सोच में डूबी पत्नी के विचारों में पैठने के लिए ग्रिफिथ उसके चेहरे का बड़ा क्लोज अप पर्दे पर दिखाते हैं। इस शॉट के द्वारा पात्र के नाक-नक्श को

दिखाने अथवा भावपूर्ण दृश्य में चेहरे की भंगिमाओं को व्यक्त किया जाता है। अक्सर 'मिड शाट' या 'क्लोज शॉट' से 'क्लोज अप' में आने के लिए 'टाइटन ऑन' का भी इस्तेमाल किया जाता है।

10. एक्सट्रीम क्लोज अप

'एक्सट्रीम क्लोज अप' में बहुत छोटी सी वस्तु को पूरे पर्दे पर दिखाया जाता है, जैसे होंठ अथवा आँखें। प्रणय के दृश्यों में नायिका की शर्म-ओ-हया को प्रदर्शित करने, हॉरर मूवीज अथवा साइंस फिक्शन में चौकाने के लिए इस दृश्य का प्रयोग किया जाता है।

11. टू शॉट

टेलीविजन धारावाहिकों में इस शॉट का बहुतायात में प्रयोग होता है। यदि फ्रेम में दो लोग दिखाए जाते हैं तो शॉट को 'टू शॉट' कहते हैं। इसके अतिरिक्त फ्रेम में तीन लोग होने पर 'थ्री शॉट', चार लोग होने पर 'फोर शॉट' तथा पाँच लोग होने पर 'फाइव शॉट' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त 'टाइट टू शॉट' का मंतव्य होता है कि फ्रेम में सिर्फ दो लोग दिखें, उनके पीछे की पृष्ठभूमि नहीं।

12. ओवर द शोल्डर शॉट (ओ0एस0एस0)

दो लोगों की आमने-सामने की बातचीत के समय कैमरा जब एक व्यक्ति के पीछे रहता है और उसके कंधे तथा सिर को हल्का सा फ्रेम में रखते हुए सामने वाले व्यक्ति को मेन फ्रेम में रखता है, तो इस शॉट को ओवर द शोल्डर शॉट कहा जाता है।

13. मूविंग शॉट

'मूविंग शाटॅ' का तात्पर्य है इधर से उधर मूव करती हुई वस्तु या व्यक्ति का शॉट लेना। जैसे कार से जाता हुआ कोई व्यक्ति, सड़क पार करता हुआ व्यक्ति या घर के एक कोने से दूसरे कोने में जाता हुआ व्यक्ति।

14. रिवर्स शॉट

इसे 'रिस्टैबलिशमेन्ट शॉट' भी कहते हैं। मान लीजिए दो पात्र किसी कमरे में बैठे बात कर रहे हैं। उनके बगल में (फ्रेम के बाहर) एक दरवाजा है। उसी समय कोई तीसरा व्यक्ति दरवाजे में प्रविष्ट होता है। तब पहले से मौजूद दोनों व्यक्तियों को बिना फ्रेम से बाहर किए कैमरा पुल बैक करके पीछे लौटते हुए अपने फ्रेम को बड़ा करता है और दरवाजे पर खड़े व्यक्ति को भी अपनी फ्रेम में ले लेता है। इस प्रक्रिया को रिवर्स शॉट कहा जाता है। इसका उपयोग आमतौर पर टेलीविजन में किया जाता है।

15. प्वाइंट ऑफ व्यू (पी0वी0ओ0)

सामान्यतः दो लोगों की भेंट-मुलाकात के समय इस टर्म का उपयोग होता है। जैसे पिता-पुत्र के मिलने का दृश्य है। पिता दरवाजे पर खड़ा है। पुत्र सामने से आ रहा है। इनमें में जब पिता आते हुए पुत्र को देखता है, तो यह पिता के नजरिए से लिया गया 'प्वाइंट ऑफ व्यू' शॉट कहलाता है। दूसरे शॉट में पुत्र जब अपने पिता की ओर बढ़ते हुए उसे देखता है, तो उसे पुत्र के नजरिए से लिया गया 'प्वाइंट ऑफ व्यू' शॉट कहेंगे। इसके लिए 'पी0ओ0पी0 फादर' या फिर 'पी0ओ0पी0 सन' लिखा जाता है।

16. फेवरिंग

सामान्यतः जब एक से अधिक व्यक्ति किसी शॉट में होते हैं, तो इसका इस्तेमाल होता है। माना किसी शॉट में पार्टी का दृश्य चल रहा है। सब लोग खाने-पीने में व्यस्त हैं। ऐसे में फोन की घण्टी बजती है और नायक की माँ फोन की ओर लपकती है। पटकथाकार यहाँ चाहता है कि वह माँ को बराबर फ्रेम में रखे, तो वह लिखेगा- 'फेवरिंग मदर'। अर्थात् कैमरा माँ के साथ-साथ फोन तक जाएगा।

17. ट्रैकिंग शॉट

माना किसी दृश्य में कोई पात्र बड़े से कमरे में कुर्सी पर बैठा कोई किताब पढ़ रहा है और उसी समय दरवाजे पर दस्तक होती है। पात्र किताब रख कर दरवाजा खोलने जाता है। यदि इस शॉट को इस तरह से लिया जाए कि पात्र के चलने के साथ-साथ कैमरा भी पात्र के समान दूरी बनाए हुए दरवाजे तक पहुँचे, तो इसके लिए ट्राली का इस्तेमाल करना पड़ेगा। इसके लिए कुर्सी से लेकर दरवाजे तक पटरी बिछा दी जाती है। पटरी पर एक ट्राली रख कर कैमरामैन कैमरा सहित उस पर बैठ जाता है। दृश्य प्रारम्भ होने पर एक व्यक्ति धीरे-धीरे ट्राली को दरवाजे की ओर सरकाता है और कैमरामैन रिकार्डिंग करता रहता है। ट्राली पर रख कर फिल्माए जाने के कारण इसे 'ट्राली शॉट' भी कहते हैं। इसी प्रकार जब क्रेन पर रख कर शॉट लिया जाता है, तो उसे 'क्रेन शॉट' और हेलीकॉप्टर पर रख कर लिये जाने वाले शॉट को 'एरियल शॉट' के नाम से जाना जाता है।

18. जूम शॉट

फ्रेम में दिखने वाला दृश्य जब पास या दूर जाता है, तो उसे जूम शॉट कहते हैं। इस क्रिया में दूर से पास आने की प्रक्रिया को 'जून इन' और पास से दूर जाने की प्रक्रिया को 'जूम आउट' कहा जाता है।

19. पैन शॉट

कैमरे के दाएं से बाएं और बाएं से दाएं घूमने की क्रिया को 'पैनिंग' या 'पैन शॉट' के नाम जाना जाता है। जब कैमरा दाएं से बाएं घूमता है, तो उसे 'पैन लेफ्ट' और जब इसके विपरीत कैमरा बाएं घूमता है, तो 'पैन राइट' के नाम से पुकारा जाता है। कैमरे के घूमने की कोई सीमा नहीं होती है। वह अपनी धुरी पर पूरा 360 डिग्री तक घूम सकता है।

20. ब्लॅर पैन

कभी-कभी कैमरा दाएं से बाएं अथवा बाएं से दाएं इस प्रकार घूमता है कि सब कुछ धुंधला-धुंधला नजर आने लगता है। कैमरे के इस मूवमेन्ट को 'ब्लॅर पैन' के नाम से जाना जाता है।

21. टिल्ट शॉट

कैमरा जब सामने की ओर ऊपर या नीचे झुकता है, तो उसे 'टिल्टिंग' कहते हैं। जब कैमरा नीचे की ओर झुक कर कोई शॉट लेता है, तो उसे 'टिल्ट डाउन शॉट' और जब कैमरा ऊपर की ओर उठता हुआ शॉट लेता है, तो उसे 'टिल्ट अप शॉट' कहा जाता है।

22. टिल्ट एण्ड पैन शॉट

जिस शॉट में कैमरा ऊपर या नीचे के साथ-साथ दाएं अथवा बाएं से भी घूमता है, 'टिल्ट एण्ड पैन शॉट' कहा जाता है। जमीन पर बैठी चिड़िया का शोर सुन कर उड़ना अथवा पेड़ पर बैठे पक्षी द्वारा पानी में तैरती मछली को झपट कर पकड़ना जैसे दृश्य इस शॉट द्वारा रिकार्ड किए जाते हैं।

23. लो एण्ड हाई एंगल शॉट

किसी बदमाश के कहर से बचने के लिए उसके पैरों में गिरे हुए किसी निरीह व्यक्ति के दृश्य को प्रभावी बनाने के लिए इस तरह के शॉट उपयोग में लाए जाते हैं। जब बदमाश के पैरों में पड़े व्यक्ति को कैमरा ऊपर की ओर झुक कर देखता है,तो इस शॉट को 'लो एंगल शॉट' कहा जाएगा। इसी प्रकार जब अकड़े हुए बदमाश को नीचे रखे कैमरा द्वारा ऊपर शॉट लिया जाता है, तो उसे 'हाई एंगल शॉट' कहा जाएगा।

24. ट्रक फारवर्ड/बैक

कैमरे का यह टर्म सामान्यतः 'क्लोज शॉट' या 'टू शॉट' के अन्तर्गत ही उपयोग में लाया जाता है। आगे पीछे खड़े दो व्यक्तियों की बातों के दौरान जब कैमरे

को (व्हील बेस ट्राइपॉट स्टैण्ड पर रख कर) इस तरह से आगे करना कि पीछे वाले व्यक्ति का चेहरा स्पष्ट दिखे और आगे खड़े व्यक्ति का चेहरा धुंधला हो जाए, तो उसे 'ट्रक फारवर्ड' कहते हैं। इसी प्रकार जब कैमरा आगे खड़े व्यक्ति पर फोकस हो जाता है और पीछे वाला व्यक्ति का चेहरा धुंधला हो ज़ाता है, तो इस क्रिया को 'ट्रक बैक' कहा जाता है। इसी प्रकार 'ट्रक राइट', 'ट्रक लेफ्ट' टर्म का भी इस्तेमाल किया जाता है।

25. फास्ट मोशन

यह कैमरे का एक चमत्कार है। इसमें आदमी का शरीर आदमी जैसा ही रहता है, किन्तु उसके शरीर के विभिन्न अंग मशीनी कल-पुर्जे जैसे काम करते प्रतीत होते हैं और उसकी गतिविधि में शीघ्रता आ जाती है।

26. सुपर इम्पोजीशन

जब दो शॉट इस प्रकार आपस में मिक्स कर दिये जाएं कि दोनों इमेज दिखाई दें, तो उसे 'सुपर इम्जोजीशन' कहा जाता है।

27. इन्सर्ट

दृश्य के माध्यम से किसी चीज को स्थापित/सूचित करने के लिए 'इन्सर्ट' का प्रयोग किया जाता है। जैसे किसी भगोड़े अपराधी पर इनाम घोषित है। उसे दिखाने के लिए शॉट के दौरान लिखा जाएगा- 'इन्सर्ट न्यूजपेपर हैंडलाइन'।

28. फ्लैश

यह फ्लैश बैक का संक्षिप्त रूप है। इसमें किसी पूर्व में घटी घटना का एक अंश बीच में दिखाया जाता है, जो बिजली की कौंध के समान कुछ सेकेण्ड का होता है। जैसे किसी व्यक्ति से मिलने पर उसका कोई संवाद याद आना, खलनायक को पहली बार देखने पर हीरो के दिमाग में (बचपन में हुयी) अपने पिता की हत्या का दृश्य कौंधना।

29. रिकैप

टेलीविजन धारावाहिक के नए एपीसोड के प्रारम्भ होने पर पिछले एपीसोड में दिखाई जा चुकी कहानी के मुख्य बिन्दुओं को संक्षेप में दिखाना 'रिकैप' कहलाता है। इससे दर्शकों के दिमाग में पूर्व में दिखायी जा चुकी कहानी ताजा हो जाती है।

30. वॉयस ओवर (वी0ओ0)

किसी पात्र अथवा धटना को देख कर जब कोई दूसरा पात्र अपने मन में कुछ कहता है, तो उसे 'वॉयस ओवर' द्वारा व्यक्त किया जाता है। इसमें पात्र के होंठ स्थिर रहते हैं, किन्तु साउंड ट्रैक पर उसकी बात गूंजती है।

31. कट / कट टू.

पटकथा में 'कट' का सम्बोधन चल रहे दृश्य की समाप्ति पर किया जाता है। जबकि निर्देशक शूटिंग के समय किसी शॉट के पूरा हो जाने पर इसका प्रयोग करता है। इसका मतलब होता है कि अब यह दृश्य समाप्त हो रहा है। आगे नया दृश्य प्रारम्भ होगा। 'कट टू' का आशय है किसी एक दृश्य की समाप्ति पर उससे जुड़ा हुआ नया दृश्य शुरू होगा। जैसे कालेज में नायक की किसी लड़के से लड़ाई हो जाती है। उसी समय प्रिंसिपल वहाँ आते हैं और वे दोनों लोगों को अपने ऑफिस में बुलाते हैं। ऐसे में दृश्य की समाप्ति पर लिखा जाएगा- 'कट टू प्रिंसिपल ऑफिस'। यानी लड़ाई के दृश्य के बाद सीधे प्रिंसिपल के आफिस का दृश्य।

32. हुक

किसी भी टेलीविजन धारावाहिक में ब्रेक में जाने से पहले 'हुक' टर्म का उपयोग होता है। 'हुक' से आशय है टंगा हुआ दृश्य। किसी भी धारावाहिक में कहानी को ऐसे स्थान पर हुक करना चाहिए, जहाँ प्र उत्सुकता बनी रहे।

33. फ्रीज

'फ्रीज' से आशय है किसी एक्शन के दौरान दृश्य को बीच में एकदम से रोक देना। सामान्यतः आश्चर्यजनक दृश्यों (हैरानी से मुँह खुला रह जाना, किसी को देख कर मारने के लिए उठा हाथ हवा में रुक जाना आदि) में विशेष प्रभाव डालने के लिए इसका इस्तेमाल किया जाता है। इसके अतिरिक्त टी.वी. धारावाहिक के अंत में 'कट' के स्थान पर 'फ्रीज' का उपयोग किया जाता है। एपीसोड को 'फ्रीज' करने के समय किसी जिज्ञासा/रहस्य का सृजन करना चाहिए, जिससे दर्शक को अगले एपीसोड का बेसब्री से इंतजार रहे।

34. फेड इन / आउट

जब पर्दे पर कोई दृश्य धीरे-धीरे उभरता है, तो उसे 'फेड इन' कहते हैं। इसके विपरीत पर्दे पर किसी दृश्य का धीरे-धीरे गायब होना 'फेड आउट' के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार की प्रक्रिया को सामान्यतः लाइट्स कम/ज्यादा करके अथवा साफ्टवेयर द्वारा सम्पन्न किया जाता है।

35. वाइप

जब कोई दृश्य पर्दे पर एक कोने से समाप्त होता चलता है (जैसे कोई झाडू लगा रहा हो) और दूसरा दृश्य उसी कोने से शुरू होता है, तो इस क्रिया को 'वाइप' कहते हैं।

36. डिजाल्व

एक शॉट से दूसरे शॉट के बीच के व्यवधान को समझाने के लिए 'डिजाल्व' का प्रयोग किया जाता है। इस प्रक्रिया में पर्दे का दृश्य छोटे-छोटे बिन्दुओं में विभक्त होता जाता है। साथ ही उसके स्थान पर दूसरा दृश्य उसी प्रकार बिन्दु-बिन्दु के रूप में उभरता है। इसी वजह से इस प्रकार के दृश्य परिवर्तन में 'कट' की तुलना में थोड़ा अधिक समय लगता है।

37. स्प्लिट स्क्रीन

स्क्रीन को दो भागों में बांट कर दोनों तरफ अलग-अलग दृश्यों को दिखाना 'स्प्लिट स्क्रीन' कहलाता है। दो लोगों को फोन पर एक साथ बात करते हुए अथवा क्रिकेट के दौरान दोनों बैट्समैन की स्थितियों को एक साथ दिखाने के लिए इस शॉट का प्रयोग किया जाता है।

38. ऑफ स्क्रीन

शूटिंग के दौरान जब पात्र कैमरे के फ्रेम के बाहर की किसी वस्तु/व्यक्ति को देख कर प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, तो पटकथा में लिखते हैं- पात्र ऑफ स्क्रीन, टी0वी0/पिता को देखते हुए।

39. कन्टीन्यूटी

फिल्म अथवा टी0वी0 धारावाहिक की शूटिंग के समय पैसा एवं समय बचाने के उद्देश्य से एक ही पात्र अथवा स्थान से जुड़े भिन्न-भिन्न दृश्य एक साथ फिल्माए जाते हैं। इन दृश्यों को 'एडिट' करते समय कोई समस्या न हो, इसलिए हर दृश्य को शूट करने से पहले एक स्लेट पर उस एपीसोड, सीन एवं शॉट का क्रमांक लिख कर उसकी रिकार्डिंग कर ली जाती है। इसके अलावा दृश्य में किस-किस पात्र का 'ड्रेसअप' कैसा है, दृश्य का संयोजन किस तरह किया गया है आदि तमाम बातों को एक रजिस्टर में लिख लिया जाता है, जिससे उससे जुड़े अगले दृश्य में निरंतरता बनी रहे। इस समस्त प्रक्रिया को 'कन्टीन्यूटी' के नाम से जाना जाता है।

40. स्टॉक शाट्स

जानकारी आधारित कार्यक्रमों खासकर 'डाक्यूमेन्ट्रीज' में कुछ ऐसे शॉट्स की जरूरत पड़ती है, जो सामान्यतः फिल्म लैब में पहले से रिकार्ड रहते हैं। जैसे पहाड़ के विहंगम दृश्य, उगता/डूबता हुआ सूरज, हिलोरें लेता समुद्र, समुद्र के भीतरी दृश्य, समुद्री तूफान, जंगल में लगी आग, ज्वालामुखी का फटना आदि या फिर कोई ऐतिहासिक दृश्य। इस तरह के दृश्य 'स्टाक शॉट्स' कहलाते हैं। फिल्मकार इन्हें लैब से खरीद कर अपने प्रयोग में लाते हैं।

परिशिष्ट 2 : सन्दर्भ सामग्री

पुस्तकें

क्रमांक	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम
1.	नाट्य शास्त्र	भरत मुनि
2.	मालविकाग्निमित्र	कालीदास
3.	भाषा और समाज	डॉ0 रामविलास शर्मा
4.	हिन्दी-उर्दू और हिन्दुस्तानी	पद्म सिंह शर्मा
5.	हिन्दी भाषा पर फारसी और अंग्रेजी का प्रभाव	डॉ0 मोहन लाल तिवारी
6.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	सं0 डॉ0 नगेन्द्र
7.	हिन्दी नाट्य शास्त्र	सं0 बाबू राम शुक्ल शास्त्री
8.	नाटक का रंग विधान	डॉ0 विश्वनाथ मिश्र
9.	भारतीय और पाश्चात्य नाट्य सिद्धान्त	डॉ0 विश्वनाथ मिश्र
10.	हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ	डॉ0 जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल
11.	स्क्रीन प्ले	शीडफील्ड
12.	वासबदत्ता का चित्रालेख	भगवतीचरण वर्मा
13.	चलचित्र : कल और आज	सत्यजीत रे
14.	पटकथा लेखन : एक परिचय	मनोहर श्याम जोशी
15.	टेलीविजन लेखन	असर वजाहत, प्रभात रंजन
16.	टेलीविजन लेखन : सिद्धान्त और प्रयोग	कुमुद नागर
17.	कथा-पटकथा	मन्नू भण्डारी
18.	सिनेमा के बारे (जावेद अख्तर का साक्षात्कार)	नसरीन मुन्नी कबीर
19.	भारतीय सिने सिद्धान्त	डॉ0 अनुपम ओझा
20.	मीडिया लेखन	सं0 डॉ0 रमेश चन्द्र त्रिपाठी एवं डॉ0 पवन अग्रवाल

21.	प्रसारण माध्यमों के लिए विज्ञान गल्प (आकाशवाणी)	सं0 डॉ0 मनोज पटैरिया
22.	कर्बला	मुंशी प्रेमचन्द
23.	सबसे उदास कविता	स्वदेश दीपक
24.	मीरा (पटकथा)	गुलजार
25.	तीसरा पत्थर (पटकथा)	राम कुमार 'भ्रमर' एवं बासु भट्टाचार्य
26.	दस्तक (पटकथा)	राजेन्द्र सिंह बेदी
27.	उसके बाद (पटकथा)	कमलेश्वर

पत्र–पत्रिकाएँ

1. अक्षरा, मार्च-अप्रैल, 2005
2. अक्षरा, मई-जून, 2005
3. इण्डिया टुडे, साहित्य वार्षिकी 1992
4. इण्डिया टुडे, साहित्य वार्षिकी 1995, 96
5. सहारा समय (सा0) 12 फरवरी, 2005
6. सहारा समय (सा0) 25 जून, 2005

कार्यशाला

1. पटकथा लेखन कार्यशाला (17-22 अक्टूबर, 2005, फिल्म बुंध, लखनऊ) वक्ता- विनय शुक्ला, अंजुम रजब अली, जावेद अख्तर और गोविन्द निहलानी।

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

साहित्य सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मूल्य
महाकवि अमीर खुसरो	अनु० अब्दुल सत्तार	35.00
कबीर	डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी	40.00
भुवनेश्वरः व्यक्तित्व एवं कृतित्व	सम्पा० राजकुमार शर्मा	90.00
सुब्रह्मण्य भारती	सम्पा० डा० एन० सुन्दरम	165.00
साहित्य मनीषी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	डा० रामचन्द्र तिवारी	60.00
भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जीवन चरित्र	राधा कृष्ण दास	48.00
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन	सम्पा स्व० श्री कमलापति मिश्र	125.00
हरिश्चन्द्र	बाबू शिवनन्दन सहाय	100.00
बंशीधर शुक्ल रचनावली	सम्पा० डॉ० श्यामसुन्दर मधुप	378.00
आचार्य किशोरीदास वाजपेई	सम्पा० डा० मंजु लता तिवारी	200.00
गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही'	सम्पा० डॉ० लक्ष्मीशंकर मिश्र 'निशंक'	165.00
गोस्वामी तुलसीदास	डॉ० रामचन्द्र तिवारी	50.00
रामचंद्र शुक्ल	सम्पा० प्रो० सत्यदेव मिश्र	15.00
राष्ट्रकवि सोहन लाल द्विवेदी	डॉ० राष्ट्रबन्धु	40.00
चंदवरदाई	डॉ० सुमन राजे	50.00
कविवर सुमित्रानन्दन पंत	डॉ० सुरेश चन्द्र गुप्त	52.00
कथाकार यशपाल	डॉ० मनमोहन सहगल	70.00
सुभद्रा कुमारी चौहान	डॉ० प्रतीक मिश्र	55.00
भगवती चरण वर्मा : एक व्यक्तित्व-चित्र	ज्ञान चन्द्र जैन	70.00
अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	डॉ० कन्हैया सिंह	43.00
मैथिलीशरण गुप्त	डॉ० प्रभाकर शुक्ल	50.00
आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी	डॉ० रामेन्द्र पाण्डेय	50.00
सेनापति	डॉ० अनन्त राम मिश्र 'अनन्त'	75.00
गुरु नानक देव	डॉ० मनमोहन सहगल	90.00

सम्पर्क सूत्र

निदेशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन

6, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ - 226001

ISBN : 978-93-82175-26-1

मूल्य रु. 150=00